आर्यों का आदि निवास मध्य हिमालय

आर्यों का आदि निवास : मध्य हिमालय

भजनसिंह 'सिंह'



रचना प्रकाशन

५, खुसरोबाग रोड, इलाहाबाद–१

●

प्रथम संस्करण १९६८

प्रकाशक
जीत मल्होत्रा
रचना प्रकाशन
इलाहाबाद

●

आवरण
शिव गोविन्द पाण्डेय

●

मुद्रक
सुपरफाइन प्रिंटर्स,
इलाहाबाद-३

मूल्य
सोलह रुपये

पुस्तक के सम्बन्ध में

मानव के मूल वश और उसके आदि निवास पर अनेक विद्वान् फुटकर लेखो तथा पुस्तकाकार रूप मे अपने विचारो को अध्येताओ के समक्ष प्रस्तुत कर चुके है। आज भी यह क्रम जारी है। फलस्वरूप इस विषय पर अनेक भाषाओ मे विभिन्न पुस्तकें प्रकाश मे आ चुकी हैं। कुछ विद्वानो ने अपनी पूर्व स्थापनाओं की अपरिपक्वता का अनुभव कर बाद मे स्वय ही उनका निराकरण कर दिया है। कुछ विद्वानो के अभिमतो का अन्य विद्वानो ने सयुक्तियुक्त खण्डन कर अपना नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। पुरातात्विक उत्खननो और अनुसन्धान कार्यों के द्वारा जो नयी प्रमाण-सामग्री प्रकाश मे आ रही है उसको आधार बना कर इस विषय पर आज भी विद्वानो के, पूर्वापेक्षया सर्वथा नये-नये विचार देखने को मिल रहे है। इस प्रकार मानव के मूल वश और उसके आदि निवास का यह विषय आज भी विद्वानो की विचारणा का केन्द्र बना हुआ है।

इस विषय की पुस्तको का अध्ययन करने पर विशेष ध्यान देने योग्य यह बात देखने को मिलती है कि प्रत्येक देश तथा क्षेत्र के विद्वानो ने बहुधा अपने देश तथा क्षेत्र को वरीयता देने की दिशा मे अपने सारे प्रयत्नो को केन्द्रित किया है। पक्षपात और मोह की इस भावना ने स्वीकृत सर्वमान्य तथ्यो को दबा दिया है, जिससे विषय की जटिलता बढती ही जा रही है और पाठको तथा अध्येताओ को एक निष्कर्ष पर पहुँचने मे कठिनाई का अनुभव हो रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक '**आर्यों का आदि निवास मध्य हिमालय**' यद्यपि उक्त अपवाद से अछूती नही है, फिर भी उसके सम्बन्ध मे बल देकर यह कहा जा सकता है कि कोई भी विद्वान् उसकी यथार्थता को सहसा अस्वीकार नहो कर सकता है। अब तक अनेक विद्वान् यह स्वीकार कर चुके है कि मध्य हिमालय आर्यों का आदि निवास या आदि देश रहा है। किन्तु वेदो, वैदिक साहित्य तथा पुराणो और महाकाव्यो आदि के उल्लेखो के अनुसार भौगोलिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से सुविस्तृत मध्य हिमालय का कौन-सा भू-खण्ड मानव-सृष्टि का आदि स्रोत रहा है, इसका सयुक्तियुक्त उत्तर अभी तक नही मिल पाया है। प्रस्तुत पुस्तक मे इस शका का सविस्तार समाधान किया गया है।

इस पुस्तक मे अधिकृत विद्वानो की युक्तियो तथा मतो का अनुशीलन करके निष्पक्ष रूप से मौलिक प्रमाण-स्रोतो के आधार पर अपने मत की स्थापना की गयी है। पुस्तक मे प्रत्येक बात को सुलझा कर स्पष्ट रूप मे रखने का प्रयत्न

किया गया है। पुस्तक की सर्वश्रेष्ठ विशेषता यह है कि प्रत्येक मन्तव्य की स्थापना के लिए मूल ग्रन्थो की प्रमाण सामग्री को आधार बनाया गया है। धर्म और अध्यात्म की मूल प्रेरणा के साथ-साथ इतिहास, भूगोल, पुरातत्व और परम्परागत मान्यताओ के भौतिक आधारो को प्रमाण रूप में सम्मिलित किया गया है। इस दृष्टि से पुस्तक की सर्वांगीणता उल्लेखनीय है।

इस पुस्तक के लेखक श्रद्धेय श्री 'सिंह' जी एक अध्ययनशील व्यक्ति हैं। यद्यपि अपने क्षेत्र के लोकप्रिय कवि के रूप मे वे पिछले तीन दशको से सुपरिचित है, तथापि भ्रमण प्रिय और जिज्ञासु होने के कारण इतिहास-भूगोल भी उनके प्रिय विषय रहे है। पुराण-ग्रन्थ उनकी प्रेरणा के मुख्य स्रोत हैं। कविरूप में उनकी अनेक कृतियाँ अब तक प्रकाश मे आ चुकी हैं, किन्तु इतिहास पर उनकी यह प्रथम पुस्तक है। अपने क्षेत्रीय जन-जीवन के परम्परागत मौखिक रूप मे सुरक्षित एव अलिखित इतिहास के वे स्वय ही एक जीवित इतिहास हैं। इस दृष्टि से उनकी यह पुस्तक सामान्यतया समस्त हिन्दी-जगत् के लिए और विशेष रूप से उत्तराखण्ड के आध्यात्मिक, धार्मिक, ऐतिहासिक और भौगोलिक जीवन की उपलब्धियो की जानकारी प्रस्तुत करने की दृष्टि से अपूर्व एव उल्लेखनीय है।

पुस्तक का सामान्य उद्देश्य प्रत्येक पाठक एव अध्येता को विषय की प्रामाणिक जानकारी देना है। किन्तु विशेष रूप से वह विश्वविद्यालयो के स्नातक तथा स्नातकोत्तर छात्रो के लिए लिखी गयी है। केन्द्रीय सरकार तथा प्रादेशिक सरकारें और स्वय विश्वविद्यालय, विश्वविद्यालयीय स्तर की मौलिक पाठ्य पुस्तको के निर्माण की दिशा मे सचेष्ट है। इस दृष्टि से भी यह पुस्तकछात्रो एव सामान्य अध्येताओ के लिए लाभदायी तथा उपयोगी सिद्ध होगी। विश्वास है कि हिन्दी मे इस विषय की पुस्तको के अभाव को पूरा करने मे भी यह पुस्तक सहायक सिद्ध होगी।

—वाचस्पति गैरोला

भूमिका

मेरे मित्र श्री भजनसिह 'सिंह' ने '**आर्यों का आदि निवास मध्य हिमालय**' पुस्तक लिखी है। मुझे उसे पढने का अवसर मिला है। इतिहास का यह विषय जहाँ एक ओर बहुत-कुछ अस्पष्ट है, वहाँ दूसरी ओर वह अत्यधिक विवादस्पद भी रहा है। यह बडे खेद और आश्चर्य की बात है कि हम भारतवासी अपने आप को जिन आर्यों का वशज मानते हैं, अभी तक उनके बारे मे यह निर्णय भी नही कर पाये है कि उनका मूल स्थान कहाँ था। जहाँ एक ओर कुछ इतिहासकारो ने उत्तरी ध्रुव तथा मध्य एशिया को आर्यों का आदि देश घोषित किया है, वहाँ मैक्समूलर आदि कतिपय सुप्रसिद्ध यूरोपियन प्राच्यविद्या-विशारदो ने इस आशय के विचार अकित किये हैं कि ईरानी और फारसी लोग उत्तर भारत से ही पश्चिमोत्तर प्रदेशो की ओर अग्रसर हुए थे। इसके अतिरिक्त कुछ इतिहास-लेखक हमारे देश मे ही पजाब एव कुछ लेखक मध्य एशिया को आर्यों का आदि देश मानते है।

मेरे मित्र श्री 'सिंह' जी ने इन अनेक मतो का विवेचन करके अनेक विद्वानो एव इतिहासकारो के उद्धरणो के द्वारा इस पुस्तक में बडे परिश्रम के साथ जो तथ्य प्रस्तुत किये है, वे गभीर विचार के योग्य है। अपने दृष्टिकोण के प्रतिपादन के लिए उन्होने अनेक भारतीय एव विदेशी प्राच्यविद्या-विशारदो के कथन प्रस्तुत किये हैं। इसके साथ ही अनेक पुरातत्वविदो एव भूगर्भवेत्ताओ तथा नृवशशास्त्रियो के उद्धरणो को भी अपने मत के प्रतिपादन मे उन्होंने प्रस्तुत किया है। अत मै नि सकोच अपनी यह सम्मति अकित कर सकता हूँ कि श्री 'सिह' जी ने इस विवादास्पद स्थिति पर जो नया प्रकाश डाला है, उस पर अवश्य ही इतिहास के जिज्ञासुओ एव विद्वानो को गभीरता के साथ विचार करना चाहिए।

मुझे विश्वास है कि इतिहासकारो तथा विद्वानो के अतिरिक्त बदरी-केदार क्षेत्र के यात्रियो एव उत्तराखण्ड के पर्यटको के लिए भी यह पुस्तक खूब उपयोगी सिद्ध होगी। साथ ही इस विषय के छात्रो एव शोधकर्ताओ के लिए वह नयी प्रेरणा का स्रोत बनेगी। मै ऐसी सुन्दर पुस्तक की रचना करने के लिए अपने साथी श्री 'सिंह' जी को हार्दिक बधाई देता हूँ और उनकी उत्तरोत्तर सफलता के लिए अपनी शुभकामनाएं अकित करता हूँ।

भक्तदर्शन

१७ अप्रैल, १९६८

उपमत्री
परिवहन तथा नौवहन मत्रालय, भारत
(भूतपूर्व शिक्षा उपमत्री, भारत)

विषय-सूची



प्राक्कथन

सृष्टि मे सर्व प्रथम आज से लगभग दस लाख वर्ष पूर्व, प्रथम बार समुद्र-गर्भ से जिस निर्गुण निराकार ब्रह्म का साकार रूप मे आविर्भाव हुआ उसी का नाम वेदो और पुराणो मे हिमवन्त है। हिमालय की प्राचीनता मानव द्वारा कल्पित इतिहास की तिथियो से बाहर की वस्तु है। हिमालय की कहानी मनुष्य जाति के आविर्भाव और उसके क्रमिक विकास की कहानी है। भूगर्भ-शास्त्रियो का कथन है कि आज से लगभग दस लाख वर्ष पूर्व मानव और हिमालय एक साथ ही अस्तित्व मे आये। उसी के समशीतोष्ण भू-भाग मे सबसे प्रथम वनस्पतियाँ उत्पन्न हुई। या औषधी पूर्वा जाता (ऋ० १०,९७,१)। इसीलिए विश्व के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद मे आर्य ऋषियो ने **'यस्य मे हेमवन्तो महित्वा आहु हिमेनाग्नि हिमेववाससो, हिम्वानान् हविष्मान गिरिर्यस्ते पर्वता हिमवन्तारण्यते पृथिवी स्योनमस्तु'** कह कर हिमालय का स्तवन किया है। हिमालय की प्राचीनता के सम्बन्ध मे इसीलिए केदारखड मे शिव जी कहते है

> **पुरातनोऽययाह वै तथा स्थानमिद किल।**
> **यदा सृष्टि क्रियामात्र मया वै ब्रह्ममूर्तिना॥**
> **स्थित तत्रैव सतत परब्रह्म जिगीषया।**
> **तदादिकमिद स्थान देवानामपि दुर्लभम्॥**

जैसे मै सबसे प्राचीन हूँ उसी प्रकार यह केदारखड भी सबसे प्राचीन है। जब मै ब्रह्ममूर्ति धारण कर सृष्टि–रचना मे प्रवृत हुआ, तब मैने इसी स्थान में सर्व प्रथम सृष्टि-रचना की।

मध्य हिमालय मानव जाति का उत्पत्तिस्थल और आर्य सस्कृति का आदि

स्रोत है। आर्य साहित्य मे इसके आधिदैविक, आधिभौतिक एव आध्यात्मिक महत्व से ओत प्रोत है।★

वेदो और पुराणो मे, रामायण और महाभारत मे, हिमवन्त की समस्त गौरवगाथा स्पष्टत मध्य हिमालय के उस भू-भाग पर केन्द्रित है, जो अलकनन्दा और गगा का उद्गमस्थल है और जिसका वर्तमान नाम गढवाल है।

प्राचीन आय मनीषियो द्वारा पूजित वह देवतात्मा नगाधिराज आर्यावर्त्त के उत्तर मे मानदड की भाँति कश्मीर से असम तक चला गया है, परन्तु आर्य साहित्य मे जिस हिमवन्त का आर्य ऋषियो द्वारा बार-बार स्तवन किया गया है, हिमवन्त की अन्तरात्मा जिस पावन प्रदेश मे प्रतिष्ठित है, वह मध्य हिमालय मे, हरिद्वार से ऊपर शिवालिक पर्वतमाला मे लेकर मानसरोवर तक का भू-भाग है, जहाँ स्वर्गलोक से देवनदी गगा की धारा पृथ्वी पर उतरी है।

हरिद्वार से ऊपर इस गिरिप्रदेश मे ऋग्वैदिक आर्यों की सप्तसिन्धु सरस्वती, अलकनन्दा, धवली, नदागिनी, पिंडर, मदाकिनी और नयार सात देवनदियाँ

★ महाभारत, वन पर्व

ऋग्वेद २।३३।१०, ७।४६।१, १०।१२१।४, १०।१४।१२, **बृहदारण्यक उपनिषद्** ६।१।३, **अथर्ववेद** ६।२४।१ १२।१।११, **केनोपनिषद्** ३।१२, **महाभारत आदि पर्व** १०।१८, ७०।२१, ११४।२८, ११८।४८, **सभापर्व** २७।२६, **वनपर्व** ५०८।३।११, १४०।२४, १४१।११, १४२।६, १४५।१३ १५८।१८, **उद्योगपर्व** १११।५, **द्रोणपर्व** ८०।२३, १२१।४२, **शल्य०** ४५।१४, **शांति०** ५६।११८, १६६।३२, ३२७।२, ३४२।१२२ **आश्रम** ३७।३३, **महा०** २।१, **आदिपुराण पर्व**, ३२, **मत्स्य पु० अ०** १५६ **महा शिवपुराण** (**पार्वतीखड**) **शिवपुराण**, **रुद्रसहिता** १९।१, १९।१३, **वायु अ०** ३०, ४७।१११, **ब्रह्मपुराण अ०** ३४–३९, ७१–७५, २०४।५,६, **नारदीय अ०** १०, ३९–४२, ६७, **ब्रह्मवैवर्त अ०** १०, १०४–१२०, ३८–४६, ११४–११८ **स्कन्ध माहेश्वर-खड और दंडणवखड लिंग० अ०** ४८, ५०, ९९ – १०६, **वामन अ०** १७–२१, **कूर्म अ०** ३७, **हरिवश**, **भविष्य अ०** ७३–८५, **देवीपुराण केदार महात्म्य**, **मार्कडेय अ०** ५१–५७, **वराह अ०** २१–१५, १४१–१४६, **अग्नि अ०** १०८–११० **पद्म सृष्टिखड अ०** ४०, **स्वर्गखड** १–६ **अ०** १६, **उत्तरखड अ०** २–३, २१–२२, **अ०** ८२।

वाल्मीकि रामायण, **बालकाड** ५५।१२, १३, **उत्तर०** १३।११, १६।८ ८७।१२, **मेघदूत**, **पूर्वमेघ** ६०-६२, **कुमारसम्भव**, **अभिज्ञानशाकुन्तल**, **रघुवश**, **विक्रमोर्वशीय**।

तथा ऋषिगगा, रुद्रगगा, कचनगगा, विष्णुगगा, पातालगंगा, आकाशगगा, वाराही-गगा, मधुगगा, क्षीरगगा, गणेशगगा, गरुडगगा आदि अनेक नदियाँ भी यत्र-तत्र अलकनन्दा मे सन्धि करती हैं। अत हरिद्वार से ऊपर मानसरोवर तक अलकनन्दा के इस तटवर्ती उपत्यका को ऋग्वेद में सप्तसिन्धु देश कहते थे। तब तक समुद्र गर्भ मे विलीन आर्यावर्त्त का कोई अस्तित्व नही था। ऋग्वेद मे अल्मोडे की सरयू और गोमती का भी उल्लेख है। इससे यद्यपि यह भी प्रमाणित होता है कि हरिद्वार से दक्षिण और पूर्व मे तराई समुद्र से ऊपर, कुमाऊँ के पर्वतीय क्षेत्र मे भी आर्यबस्तियाँ थी, परन्तु यह निर्विवाद है कि गगाद्वार हरिद्वार से लेकर मानसरोवर तक, अलकनन्दा और मन्दाकिनी की उपत्यका ही आर्य जाति की मुख्य क्रीडास्थली रही है। कनखल और हरिद्वार के आस-पास मे प्रथम आर्यनरेश दक्ष प्रजापति, मनु और मनुपुत्रो, राजा बेणु आदि के प्राचीन अवशेषो से इस क्षेत्र की ऐतिहासिक प्राचीनता प्रमाणित है। हिमालय की तलहटी मे, जहाँ आज सघन वनो से अच्छादित है, प्राचीन सभ्यताओ के अवशेष है—कनिंघम।

सप्तसिन्धु के इस क्षेत्र मे हरिद्वार से नीचे, विन्ध्याचल पर्वत तक एव दक्षिण-पूर्व मे जिला नैनीताल के नीचे तराई भावर का समस्त समतल प्रदेश समुद्र-गर्भ मे था। इसके उत्तर मे मानसरोवर के उस पार, भोट प्रदेश मे भी प्राचीन काल मे समुद्र का अस्तित्व था, क्योकि आज से ८०, ६० वर्ष पूर्व गढवाल अपने उत्तर मे स्थित भोट देश के नमक पर निर्भर रहता था। भोट से भोटिया लोग अपनी भेडो के ऊपर नमक लाद-लाद कर इस प्रदेश मे नमक का व्यापार करते थे। केदारखड के रचयिता को सप्तसिन्धु के दक्षिण मे हरिद्वार से नीचे तथा उत्तर एव पूव म स्थित इन समुद्रो का ज्ञान था। केदारखड मे लिखा है कि हरिद्वार क्षेत्र मे गगा के पश्चिम तट पर कुशावर्त तीर्थ के नीचे, 'सप्तसामुद्रिक' नामक पवित्र तीर्थ हे। प्राचीन काल मे इस स्थान पर सात समुद्रो ने आकर शिव जी की आराधना की थी। केदारखड मे दो बार इस 'सप्तसामुद्रिक' तीर्थ के उल्लेख से यह स्पष्टत प्रमाणित होता है कि प्राचीन काल मे हरिद्वार के इस तीर्थस्थल तक समुद्र था

गंगाया पश्चिमे कूले कुशावर्तादध शरे।
सप्तसामुद्रिक नाम तीर्थं परम पावनम्॥
पुरा तत्र समुद्रैश्चाराधितो भगवान् शिव।
समुद्रेश्वरो महादेव सर्वकामफलप्रद॥
११५।२।३।४

सप्तसामुद्रिक नाम तीर्थं विष्णुसलोकम्॥
१२१।१८

सप्तसिन्धु और विन्ध्य पर्वत के बीच तराई का यह समुद्र-तल उस युग मे अनेक भौतिक उथल-पुथलो का केन्द्र था। उसके प्रलय-जल से, आकस्मिक बाढ़ो से, छ मन्वन्तरो के रूप मे छ बार सप्तसिन्धु की अधिकाश आर्य बस्तियाँ जलमग्न हो चुकी थी। सातवी बार जब सप्तसिन्धु के इस दक्षिण गिरिप्रदेश में वैवस्वत मनु का राज्य था, पुन यह समुद्र किसी अन्त भौतिक विप्लव मे, दक्षिण मे उत्तर गिरि प्रदेश की ओर प्रलय रूप धारण कर उमड पडा। उसके कारण लगभग चार हजार फुट तक अलकनन्दा उपत्यका जलमग्न हो गई। आर्य शरणार्थी सप्तम मनु के नेतृत्व मे सप्तसिन्धु की उत्तरी सीमा पर सरस्वती नदी के उन्नत तटवर्ती प्रदेश में जा बसे। इस जलप्लावन मे सप्तसिन्धु का यह पावन प्रदेश जो समुद्र-गर्भ मे ऊपर रह गया था और जिसने अशरण-शरण बन कर आर्यों को शरण दी, आर्यों का यज्ञदेश एव देव–निर्मित देश 'ब्रह्मावर्त्त' कहलाया (न देवनिर्मित देश ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते)। आर्य मनीषियो को यह देश इतना अधिक प्रिय था कि उन्होने इसको 'योनि देव कृत' (ऋ० ३,३३,४) कहा है। महाभारत और पुराणो मे भी इसको स्वर्गभूमि कहा गया है (गगाद्वारोत्तर विप्र स्वर्गभूमिस्मृता बुधै)। यह स्वर्गभूमि हरिद्वार मे लेकर मानसरोवर तक उत्तरगिरि, अन्तरगिरि और दक्षिणगिरि के नाम से तीन भागो मे विभाजित थी। इसलिए इसको 'त्रिविष्टप' भी कहते थे। एक भाग का अधिपति विष्णु, एक का ब्रह्मा और एक का अधिपति इन्द्र था। महाभारत (आदि १६६।२२,४) मे लिखा है कि जिस पावन प्रदेश मे गगा का नाम अलकनन्दा है, वही स्वर्गभूमि है। गगा त्रिविष्टप मे बहती थी, इसलिए त्रिविष्टप को स्वर्ग और अलकनन्दा को 'त्रिपथगा' कहा गया है। ऋग्वेद के नदीसूक्त मे अलकनन्दा को ही तीनो लोको मे बहनेवाली 'सिन्धु' कहा गया है।

सरस्वती नदी का यह तटवर्ती क्षेत्र ऋग्वेद काल मे प्राय ऋषियो और ब्रह्मवेत्ताओ का प्रमुख अध्ययन केन्द्र रहा है। ऋग्वेद म० ६ के सूक्त ३५, ३८ के ऋषि नर का निवास यही था। बदरीनाथ के इसी नर-नारायण आश्रम में ऋग्वेद के प्रसिद्ध 'पुरुषसूक्त' द्वारा ऋग्वैदिक ऋषि नारायण ने आज से हजारो वर्ष पूर्व ससार को प्रथम बार ईश्वर की एकता का सन्देश दिया था। ऋग्वैदिक ऋषि नर-नारायण द्वारा प्रतिष्ठित इस नारायण-आश्रम का ऋग्वैदिक काल से महाभारत काल तक वेद-वेदान्त के प्रचार-प्रसार मे उल्लेखनीय योगदान रहा है। नर-नारायण आर्य साहित्य मे ईश्वर-अवतार के रूप मे स्मरण किये जाते है। इसी क्षेत्र म वैवस्वत मनु की पुत्री इला से चन्द्रवश की उत्पत्ति हुई। अलकनन्दा और मदाकिनी का यह तटवर्ती क्षेत्र ऋषि नारायण की आत्मजा उर्वशी और चन्द्रवशीय राजा पुरूरवा का क्रीडा-क्षेत्र भी रहा है। इस नर-नारायण आश्रम

में बैठकर कई वैदिक विद्वानो एव ऋषि-महर्षियो के साथ कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने वेदो का संकलन तथा ब्रह्मसूत्र और जयभारत काव्य की रचना की थी। भगवान् कृष्ण ने सायगृठमुनि के रूप में यहाँ रह कर कई बरसो तक तपस्या की। केदार-बदरीकाश्रम इस गन्धमादन पर्वत प्रदेश को पार्वती के पिता की राजधानी, वैदिक रुद्र का कैलासधाम, कुमार कार्तिकेय एव पाचो 'पाँडवो' की जन्मभूमि होने का गौरव प्राप्त है। इसीलिए विष्णुपुराण मे लिखा है

यद्‌बदर्याश्रम पुण्य गन्धमादन पर्वते।
नरनारायणस्थाने तत्पवित्र महीतले॥

वैदिक ऋषियो की उसी आध्यात्मिक परम्परा से प्रेरित आचार्य शकर ने दो बार बदरी-केदार की यात्रा की और यही समाधिस्थ हुए।

पुराणो मे इलावृत्त, मेरु, सुमेरु, कैलास, गन्धमादन, तपोभूमि, उत्तरकुरु, केदारखड, बदरीकाश्रम और उत्तराखड के नाम से यह प्रदेश प्रसिद्ध था। स्कन्ध पुराणानुसार युग-परिवर्तन होते ही इसके नामो मे भी परिवर्तन होता रहा है। सत्ययुग और त्रेता मे अद्वितीय आध्यात्मिक महत्व के कारण इसका नाम मुक्तिप्रद और योगसिद्ध, द्वापर मे विशाला और कलियुग मे बदरीकाश्रम हुआ। द्वापर में यहाँ देवता, ऋषि और तीर्थो की व्यापकता होने से यह क्षेत्र विशाल हो गया था, इसलिए इस बदरी क्षेत्र को विशालपुरी भी कहने लगे।

ऋषि वाक्यो के अनुसार कलियुग मे भी इस क्षेत्र का एक निश्चित सर्व सम्मत नाम नही रह सका है। आज तक इसके कई नवीन नामकरण हो चुके हैं। गढवाल नरेशो के राज्यशासन मे लगभग १५०० ई० के पश्चात् इसका नाम 'गढवार' 'गढो का देश' हुआ। गढवाल नरेशो के शासनकाल मे इसका नाम 'गढवार' और 'गढराज' ही रहा। गढवाल नरेश फतेहशाह के राजकवि रतन (क्षेमराज) ने 'फतेहप्रकाश' मे लगभग सात स्थानो पर इसको 'गढवार' नाम से ही सम्बोधित किया है। गढवाल राज्य की प्रशसा मे, रतन कवि ने लिखा है

लोक ध्रुवलोकहू तें ऊपर रहैगो भारो
भानु ते प्रभानि कौ निधान आन आवेगो।
सरितौ सरस सुरसरि तें सही करैगो
हरि हर तें अधिक अधिपति मानैगो॥
ऊरध परारध तें गनती गनैगो गुनि
वेद तें प्रमान सो प्रमान कछु जानैगो।
सुजस तें भर्यो मुख सूखन भनैगो बाढ़ि
गढ़वार राज पर राज जो बखानेगो॥

गुन गढ़वार नरेश के, अदभुत अधिक अपार।
जिन्हूँ पर पुमरक्त सब अगनित गिरा प्रकार।।

स्वर्गीय मोलाराम ने भी अपने 'गढ़राज वश के इतिहास' मे इसको गढ़राज ही लिखा है। वाल्टन गढवाल गजैटियर्स में लिखता है

गढवाल नाम का अर्थ गढो का देश है। गढवाल परम्परानुसार बावनी, ५२ सामन्तो द्वारा शासित था, प्रत्येक सामन्त का अपना स्वतत्र गढ था।

इस प्रकार जो समस्त पर्वत-प्रदेश गढवाल-नरेशों के राज्य-काल में 'गढवार', अग्रेजो के शासनकाल मे 'गढवाल' के नाम से विख्यात रहा, वह भारत की स्वाधीनता के एक युग (बारह वर्ष) के पश्चात् पुन चार भागो में विभाजित होकर नवीन नामो से चमोली, पौडी, टिहरी और उत्तरकाशी कहलाने लगा है।

गढवाल 'हिमालयन गजैटियर्स' के अनुसार एक समय अलग-अलग, छोटे-छोटे बावन राजाओ मे बँटा हुआ होने के कारण 'बावनी' नाम से ही पुकारा जाता था। श्रीनगर-नरेशो के राज्यकाल मे लगभग १५वी शताब्दी से इस प्रदेश का नाम गढवार या गढराज प्रमाणित है। हरिद्वार से मानसरोवर तक तथा वधाण से लेकर तमसा-तट तक गगा-यमुना का यह उद्गमस्थल प्राचीन काल से अविच्छिन्न रूप से गढवाल-राज्य की सीमान्तर्गत रहा है। मुगल बादशाहो द्वारा उनके आक्रमण-प्रत्याक्रमणो से भी इसकी यह अविच्छिन्नता भग नही हुई। सन् १८१६ में अग्रेजो ने इसके शिवालिक पर्वत प्रदेश को काट कर उसका पृथक् जिला देहरादून बना दिया और ऋषिकेश का क्षेत्र भी उसमे मिला दिया, तथा हरिद्वार और कनखल का चडी परगना, सहारनपुर मे सम्मिलित कर दिया। गढवाल केवल ५२ गोढ का ही नही वरन् गढो का देश रहा है। प्रत्येक पट्टी मे जिस अनुपात से यहाँ प्राचीन दुर्गों के भग्नावशेष सुरक्षित है, उसके अनुसार यहाँ लगभग एक सौ से कम भग्नावशेष नही है, जिनका प्राचीन इतिहास अविदित है। वस्तुत इनमे से अधिकाश ऋग्वेद मे वर्णित इन्द्र के नेतृत्व मे आर्य-नरेशो द्वारा तोडे गये, शम्बरासुर के विशाल प्रस्तरखडो से निर्मित एक सौ दुर्गों के भग्नावशेष है और परम्परानुसार उनमे सम्बन्धित प्रचलित लोकगाथाओ के आधार पर इस प्रदेश का नाम गढवाल पडा। महा पडित राहुल ने भी 'कुमाऊँ' पृष्ठ २६, ३१, मे शम्बर के इन दुर्गों का पाचाल (वतमान रुहेलखड के उत्तर) गढवाल और कुमाऊँ के पहाडो मे होना स्वीकार किया है। इन्होने ऋग्वैदिक पाचालराज दिवोदास-सुदास द्वारा शम्बरादि असुरो के साथ हिमालय के इस पर्वत-प्रदेश मे युद्ध लडे जाने का उल्लेख किया है।

इस पर्वत-प्रदेश का गढवाल नाम ऐसा नवीन नाम है जिसका प्राचीन

भारतीय साहित्य मे कही अस्तित्व ही नही है। इसलिये प्राय सभी इतिहासकारो ने अपने भौगोलिक एव ऐतिहासिक अन्वेषणो में भारतीय संस्कृति के इस आदि स्रोत की सर्वथा उपेक्षा की। व्यास और कालिदास ने अपने समस्त काव्य-ग्रन्थो में हिमालय को प्राकृतिक श्री से सम्पन्न जिन-जिन प्राचीन तीर्थस्थलो का वर्णन किया है वह मध्य हिमालय का यही भू-भाग है, जो गगा और अलकनन्दा का उद्गमस्थल है। वे एक भी कश्मीर मे नही, वरन् स्पष्टत गढ़वाल की भौगोलिक सीमा के अन्तर्गत है, परन्तु व्यास, विशेषकर कालिदास के सभी मीमासको ने उन्हें निस्सकोच कश्मीर तथा भारत के अन्य भू-भागो मे स्थापित करने का प्रयास किया है।

भूषण और मतिराम श्रीनगर मे गढवाल-नरेश फतेहशाह के आश्रित भी रहे है, परन्तु मिश्रबन्धुओ ने गढवाल के श्रीनगर को कश्मीर का श्रीनगर लिखा है। उन्होने मतिराम ग्रन्थावली मे भी बुन्देलखड की कल्पना करके श्रीनगर गढवाल-नरेश फतेहशाह को फतेहशाह बुन्देला लिखा है। गढवाल नरेश फतेहशाह और गढवाल के श्रीनगर के सम्बन्ध मे सरोजकर शिव सिंह सेंगर और गोविन्द गिल्ला भाई ने जो भूल की मिश्रबन्धु भी उस भूल से नही बच सके। गढवाल-नरेश फतेहशाह की प्रशसा में भूषण और मतिराम के अतिरिक्त एक और रतन (क्षेमराज) नाम कविरत्न ने 'फतेहप्रकाश' नामक जो सुन्दर काव्यग्रन्थ लिखा है, उस पर भी उक्त सज्जनो ने बुन्देलखड ही में किसी फतेहशाह बुन्देला और श्रीनगर की निराधार कल्पना करके गढवाल की भौगोलिक एव ऐतिहासिक स्थिति के सम्बन्ध मे अपना अज्ञान प्रदर्शित किया है। प्रसिद्ध हिन्दी शब्दकोश 'शब्दार्थ पारिजात' मे गढवाल को 'उत्तर भारत का एक नगर' लिखा है।

गढवाल को वेदो ने, पुराणो ने उसके सुन्दर सरोवरो, प्राकृतिक पुष्पोद्यानो, तीर्थस्थलो तथा अगणित नदी-निर्झरो के कारण 'स्वर्गभूमि' स्वीकार किया है। वह आर्य-सस्कृति का आदि स्रोत है। आज भी आर्यजगत मे उसकी आध्यात्मिक अद्वितीयता सुरक्षित है,परन्तु भारतवर्ष के इतिहास को भाँति उसका सिलसिलेवार लिखित इतिहास प्राप्त नही है। उसके क्रमवद्ध इतिहास लिखने वालो के पास भी आज प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री का अभाव है। हिन्दू-शास्त्रो द्वारा गढवाल का सर्वोपरि आध्यात्मिक महत्व सर्वत्र स्वीकृत है, परन्तु गढवाल मे कुछ रहे-सहे तीर्थस्थलो, गगा आदि देवनदियो के अतिरिक्त उसके अधिकाश प्राचीन स्मारक सुरक्षित नही हैं, और न तो प्राचीन लिपिवद्ध इतिहास-ग्रन्थ ही उपलब्ध है। स्कन्धपुराणान्तर्गत केदारखड मे इस क्षेत्र के तीर्थ-स्थलो का क्रमबद्ध ऐतिहासिक एव आध्यात्मिक महत्व

प्रतिपादित है, परन्तु जिस प्रकार वेदो और पुराणो के मौखिक रूप से पीढी-दर-पीढी प्रचलित रहने के कारण, लोगो ने अपने-अपने समय की नयी-नयी घटनाओ और नये-नये नामो पर प्राचीनता की मोहर लगाने के लिये, उन्हें उनमे सम्मिलित कर उनकी ऐतिहासिक स्थिति को विवादास्पद कर दिया है, उससे केदारखड भी अछूता नही है। फिर भी वेदो और पुराणो द्वारा प्रतिपादित जिस प्राचीनता का केदारखड मे उल्लेख है, उसकी सत्यता निर्विवाद है। उसको भी प्रक्षिप्त सिद्ध करके, उसकी ऐतिहासिक सत्यता की अस्वीकृति से सम्पूर्ण प्राचीन हिन्दू वाङ्मय की प्राचीनता विवादास्पद हो जाती है।

गढवाल मध्य हिमालय के सबसे अधिक हिमशिखरो से आच्छादित है। समुद्र गर्भ से जब लाखो वर्ष पूर्व हिमालय का प्रथम आविर्भाव हुआ होगा उस युग मे इसका रूप इतना ऊँचा-नीचा, ऊबड-खाबड नही रहा होगा। यह पर्वतीय प्रदेश प्रखर प्रवाहिनी नदियो का देश है। सदियो से भू-कम्प, प्रति वर्ष बरसाती बाढो, नदी-नालो से कट-कट कर इसके मूल ऋग्वैदिक रूप और वर्तमान रूप मे एव उसके प्राचीन ऐतिहासिक स्मारको की वास्तविक भौगोलिक स्थिति मे आकाश-पाताल का अन्तर पडता चला गया है।

सन् १८८२ मे एटकिन्सन आदि कुछ अग्रेज विद्वानो ने प्राय प्रचलित किम्वदन्तियो, प्राचीन कहावतो, लोक-गाथाओ, शिलालेखो, ताम्रपत्रो तथा अन्य ऐतिहासिक अनुमानो के आधार पर प्रथम बार इसके इतिहास की अस्पष्टता को थोडा-बहुत दूर करने का प्रयत्न किया है। एटकिन्सन साहब ने, केप्टेन हार्डविक, सेटलमेंट आफिसर बक्येट, विलियम्स तथा अल्मोडे के पडित रुद्रदत्त पत द्वारा लिखी हुई पुस्तिको से भी इस सम्बन्ध मे सहायता ली है। एच० जी वाल्टन ने सन् १९२१ मे प्रकाशित गढवाल गजेटियर्स मे गढवाल का जो इतिहास दिया है, वह पूर्णत एटकिन्सन के इतिहास के ही आधार पर है।

एटकिन्सन से पूर्व श्रीनगर के प्रसिद्ध चित्रकार मोलाराम द्वारा सन् १८८० ईसवी मे लिखा हुआ गढराज वश का छन्दोबद्ध इतिहास भी उल्लेखनीय है जिसमे लगभग ८वी शताब्दी के बाद गढवाल-नरेशो का सक्षिप्त ऐतिहासिक वृत्त वर्णित है। ८वी शताब्दी से पूर्व गढवाल की ऐतिहासिक स्थिति का उसमे भी उल्लेख नही है।

वाल्टन से पूर्व सन् १९१७ मे डॉ० पातीराम ने अग्रेजी में अपना प्राचीन और अर्वाचीन। (Garhwal Ancient & Modern) गढवाल प्रकाशित किया। इस पुस्तक के द्वारा डाक्टर साहब ने ८वी शताब्दी से पूर्व गढवाल के अन्धकारमय अतीत पर भी यथासाध्य ऐतिहासिक प्रकाश डालने का प्रयत्न किया। परन्तु वह भी अत्यन्त अस्पष्ट और अपर्याप्त है। उनके पश्चात् टिहरी

दरबार तथा अन्य स्थानो मे उपलब्ध इतिहास और पुरातत्व सामग्री के आधार पर श्री हरिकृष्ण रतूडी ने सन् १९२८ मे देहरादून मे 'गढवाल का इतिहास' प्रकाशित किया है। गढवाल के इतिहास को हिन्दी मे प्रकाशित करने का यह सर्व प्रथम प्रयास था। श्री हरिकृष्ण रतूडी हिन्दी की कई पुस्तको के रचयिता और टिहरी-राज्य के प्रसिद्ध कानूनी-ग्रन्थ 'नरेन्द्र ला' के सम्पादक रहे है। उनके कथनानुसार उनको टिहरी-दरबार मे भी गढवाल-राज्य की पूर्ण अथवा अपूर्ण सिलसिलेवार कोई ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नही हुई है। रतूडी जी के इतिहास से पूर्व एटकिन्सन साहब ने हिमालयन गजेटियर्स द्वारा गढवाल के इतिहास पर जो थोडा-बहुत खोजपूर्ण प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है उसका अपने इतिहास मे रतूडी जी ने बहुत कम प्रयोग किया है। श्री रतूडी जी से पूर्व एटकिन्सन साहब की ऐतिहासिक खोजो के आधार पर सन् १९२१ में वाल्टन का गढवाल गजेटियर्स भी प्रकाशित हो चुका था। यद्यपि अपने इतिहास की भूमिका मे रतूडी जी द्वारा अकित तिथि १९२० है परन्तु गढवाली प्रेस देहरादून द्वारा उनका इतिहास प्रथम वार सन् १९२८ मे प्रकाशित हुआ है। उन्होने अपने इतिहास मे जहाँ फ्रेजर हार्डविक, बर्नियर और विलियम्स के ऐतिहासिक कथनो के स्थान-स्थान पर उद्धरण दिये है, वहाँ एटकिन्सन साहब द्वारा प्रकाशित खोजपूर्ण सामग्री मे अधिक सहायता नही ली। केवल पृष्ठ ३६१ मे एक स्थान पर नाग, हूण, खसो के सम्बन्ध मे उनका कथन उद्धृत किया है।

रतूडी जी ने डॉ० पातीराम के इतिहास के सम्बन्ध मे भी अपनी सम्मति दी है, परन्तु उनकी कई महत्वपूर्ण खोजो को भी वे अपने इतिहास मे सम्मिलित नही कर सके। मालूम होता है कि उन्होने इन पुस्तको का केवल नाम सुना है, परन्तु पुस्तके उन्हे उपलब्ध नही हो सकी। रतूडी जी का इतिहास भी अन्य प्रकाशित इतिहासो की भाँति अस्पष्ठ और अपूर्ण है। वे अपने इतिहास मे श्रीनगर के अतिम नरेशो के विश्वस्त ऐतिहासिक तथ्यो को भी पूर्णत प्रस्तुत नही कर सके है। उनकी बनायी हुई ऐतिहासिक तिथियाँ और गढवाल-नरेशो का काल-निर्णय भी प्राय अशुद्ध है। एटकिन्सन द्वारा दी गयी तिथियाँ अधिक विश्वसनीय और प्रमाणिक है।

रतूडी जी के पश्चात् महापडित राहुल जी ने 'हिमालय-परिचय' (१) मे गढवाल का कुछ विस्तारपूर्वक परिचय देने का प्रयत्न किया है। इसके लिये उन्होने अपने पूर्ववर्ती समस्त हिन्दी और अग्रेजी इतिहास-ग्रन्थो से भी सहायता ली है, परन्तु अपने पूर्ववर्ती इतिहासकारो की भाँति वे भी नवो शताब्दी से पूर्व गढवाल के अंधकारमय युग के ऐतिहासिक तथ्यो पर उल्लेखनीय प्रकाश प्रस्तुत

करने मे असमर्थ रहे है। जलप्लावन के समय जब वैवस्वत मनु सकुटुम्ब अलकनन्दा और सरस्वती नदी के इस तटवर्ती प्रदेश मे निवास करते थे, उस समय उनकी पुत्री इला और चन्द्रमा के पुत्र बुध के सयोग से चन्द्रवंश के प्रथम पुरुष पुरूरवा का जन्म हुआ। बदरीनाथ मे नर-नारायण आश्रम के ऋषि नारायण की पुत्री उर्वशी और राजा पुरूरवा की प्रणय लीलाओ का पुराणो मे विस्तार-पूर्वक जो वर्णन है उसमे इस क्षेत्र की भौगोलिक सत्यता स्पष्ट है। अलकनन्दा के तटवर्ती क्षेत्र, चान्दपुर (चन्द्रपुर) परगने और चान्दपुर गढ मे चन्द्रवशी राजाओ की ऐतिहासिक स्मृति सुरक्षित है। नौवी शताब्दी से पूर्व गढवाल की राजनीतिक स्थिति उल्लेखनीय न रही हो, यह असम्भव है। अत्यन्त समृद्धिशाली कत्यूर राजवश के राजकीय अधिकारियो एव कर्मचारियो की नामावली आधुनिक युग की सर्वोत्तम शासन-सत्ता के लिये भी अनुकरणीय है। अभी तक प्राय समस्त इतिहासकारो द्वारा वह उपेक्षित है। उक्त नामावली मे कत्यूरी-शासन को असाधारणता प्रमाणित हो जाती है। हाल ही मे श्री शिव प्रसाद डबराल ने 'उत्तराखड यात्रा दर्शन' लिखकर अनेक भारतीय-अभारतीय विद्वानो की सम्मतियो के उद्धरणो द्वारा प्राचीन और अर्वाचीन गढवाल के आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक महत्व का प्रतिपादन किया है, परन्तु उसमे भी प्राचीन गढवाल के सामाजिक, धार्मिक एव राजनीतिक इतिहास का क्रमबद्ध वर्णन नही आ पाया है।

गढवाल मे ऐतिहासिक सामग्री का जो सर्वथा अभाव है, उसके प्रमुख कारण प्राचीन भारतीयो मे क्रमबद्ध इतिहास लिखने की परिपाटी का सर्वथा अभाव और गढवाल मे निरन्तर होने वाले राजनीतिक एव भौतिक विप्लव है। भूगर्भशास्त्रियो के कथनानुसार हिमालय दक्षिण के पर्वतो की भाँति सुदृढ नही है। उसमे भूचालो का भय निश्चित है। हिमालय की अपरिपक्व अवस्था मे भौतिक विप्लवो का यह भय और भी अधिक रहा होगा। ऋग्वैदिक काल मे पर्वत-प्रदेशो मे ऐसे भूकम्पो द्वारा बार-बार पृथ्वी के प्रकम्पित होने का उल्लेख है (ऋग्वेद, २।१२।२,२।१७।५)।

अर्थात् इन्द्र वह है, जिसने प्रकम्पित पृथ्वी को स्थिर किया, जिसने विचलित पर्वतो को शान्त किया, जिसने व्यापक अतरिक्ष का विस्तार किया और जिसने आकाश को अचल किया। उसने इधर-उधर हिलने-डोलने वाले प्राचीन पर्वतो को अपनी शक्ति से स्थिर किया। मेघो से जल को नीचे गिराया, विश्वधरित्री पृथ्वी को अचल किया। पृथ्वी और आकाश का स्तम्भन किया। डॉ० सम्पूर्णानन्द '**आर्यों के आदि देश**' पृष्ठ ४५ मे लिखते है कि—'प्रत्यक्ष ही इन मत्रो मे उस काल की स्मृति है जब कि हिमालय आदि पर्वत, भूगर्भ से

ऊपर उठ रहे थे, भूकम्प बराबर आते थे और ज्वालामुखी विस्फोट होता था।'

ग्रोकले साहब ने 'होली हिमालय' के पृ० १४२ में, हिमालय के इस क्षेत्र मे बार-बार होने वाले इन भूकम्पो द्वारा प्राचीन स्मारको की अपार क्षति का उल्लेख किया है। वे कहते हैं—'गढवाल के प्राचीन स्मारक समय-समय पर आने वाले इन भयंकर भूकम्पो से बारम्बार विनष्ट होते रहते है।'

इन्ही आकस्मिक भौतिक विप्लवो के फलस्वरूप प्राचीन गढवाल मे अत्यधिक जन-धन की अप्रत्याशित क्षति और अन्य अनेक सामाजिक अव्यवस्थाओ के कारण समय-समय पर गढवाल की प्राचीन प्रमाणिक ऐतिहासिक सामग्री और ऐतिहासिक स्मारक, तत्कालीन जन-समुदाय के साथ नष्ट होते रहे है। पुराने भूकम्पो का हमारे पास लिखित प्रमाण नही है। परन्तु सन् १८०३ मे भादौ की अनन्त चौदस की आधी रात को जब सब लोग सोये हुये थे, गढवाल मे एक ऐसा आकस्मिक भूचाल आया, जिससे इतिहासकारो के कथनानुसार गढवाल की अस्सी प्रतिशत जनता अपनी सदियो से सचित बहुमूल्य सम्पति सहित सर्वत्र टूटे हुये पर्वतो और भग्न भवनो मे दब कर नष्ट हो गयी। यह अप्रत्याशित भूचाल सात दिन और सात रात तक लगातार होता रहा। प० बदरीदत्त पाडे ने अपने 'कुमाऊँ के इतिहास' पृष्ठ ३६५ पर तथा श्री हरिकृष्ण रतूडी ने 'गढवाल के इतिहास' पृष्ठ ४१८ मे इसकी असाधारण भयकरता का उल्लेख किया है।

इस दैवी प्रकोप से गढवाल की समस्त जनता मे हाहाकार मच गया। बीस प्रतिशत लोग जो जीवित बचे, अव्यवस्थित, आहत, अर्द्ध मृत, अस्थिर और सर्वथा आश्रयहीन होकर इधर-उधर असहाय भटकने लगे। पवतो मे दरारें पड गयी, गाँवो के जलस्रोत सूख गये। गढवाल के प्रसिद्ध चित्रकार मोलाराम भी, जो १८०३ मे जीवित थे, अपने 'गढराज वश के इतिहास' मे लिखते है

साठ साल भूकम्पहि भयो, शहर बजार महल सब ढयो ॥
भार पाप को पडयो महाई, परजा पीडन ब्रह्म हत्याई ॥
मरे हजारो गढ़ के माही, खबर गई कातिपुर[1] ताँई ॥

अंग्रेज पर्यटक रैपर ने, सन् १८०८ मे, इस भयकर भूचाल से प्रभावित गढवाल का प्रत्यक्ष दर्शन करने के बाद लिखा है —"श्रीनगर का शहर प्राय सम्पूर्ण नष्ट हो गया है। पाँच मे से एक घर मे कोई रहता है, नही तो सारे घर खडहर हो गये थे। राजा का महल भी रहने लायक नही रह गया था। भूकम्प के झटके कई महीनो तक आते रहे। कहा जाता है कि कितने ही जलस्रोत सूख गये और दूसरी जगह कितने ही नये चश्मे निकल आये। इस

१—नेपाल का नगर

भयानक भूकम्प से पर्वत टूट कर कितने ही समूचे गाँव दब गये। उसके पश्चात् बीस या पन्द्रह सैकड़े से अधिक लोग नहीं बचे होंगे। जो बचे, वे भी घर-बार विहीन हो गये। अन्न का सर्वथा अभाव था, जहाँ देखो वहाँ हाहाकार मचा हुआ था।"

इस भूचाल से कुछ ही वर्ष पूर्व सम्वत् १७५१-५२ के भयकर अन्न काल मे जो आज भी गढवाल के इतिहास मे 'इक्कावनी-बावनी' के नाम से अविस्मरणीय है, जनता पीडित थी, परन्तु इस ऐतिहासिक भूचाल ने उनको कही का भी नही रखा। फस्ल नष्ट हो गयी थी, खेत खड-खड हो गये थे, मकान गिर गये थे, बोस प्रतिशत जोवित जनता अर्द्ध मृत और असहाय होकर निराधार घूम रही थी।

गढवाल की इस करुणाजनक स्थिति की कुछ देशद्रोहियो से सूचना पाकर ११ गते आषाढ, सन् १८०४ मे, गोरखो ने अल्मोडे से गढवाल पर पुन आक्रमण कर दिया। अल्मोडे पर सन् १७९० मे गोरखो का राज्य-शासन स्थापित हो चुका था और कुमाऊँ के चाणक्य श्री हर्षदेव जोशी के परामर्श से वे सन् १७९१ मे गढवाल मे लँगरगढी को हस्तगत करने का, कई वार असफल प्रयत्न कर चुके थे।

गढवाल की केवल बीस प्रतिशत जनता का, जिसम आधे से अधिक बालक, वृद्ध, रोगी तथा आहत भी रहे होंगे, अपनी असगठित स्थिति मे शक्तिशाली गोरखो को रणकुशल सेना का मुकाबला करना असम्भव था। गोरखो ने गढवालियो की इस दयनीय दशा से लाभ उठा कर, जिस अमानवीय वीरता का परिचय दिया, वह गढवाल मे 'गोरख्याणी' के नाम से प्रसिद्ध ह।

श्रीनगर मे गढवाल-नरेश तीनो भाई परस्पर गृह-युद्धो मे फसकर जब अपनी-अपनी स्वतत्र सनिक शक्ति और स्वतत्र राजनीतिक दल स्थापित कर एक-दूसरे के विरुद्ध षड्यत्र रचने मे तल्लीन थे, गोरखों की एक सेना ने कँनूर से और दूसरी ने दक्षिण गढवाल की ओर से श्रीनगर पर आक्रमण कर दिया। श्रीनगर मे केवल एक हजार पैदल सैनिक रहते थे। शेष सेना का अस्सी प्रतिशत भाग जो उन दिनो श्रीनगर से दूर गढवाल की पट्टियो और सीमान्त क्षेत्रो मे शाति और रक्षा-व्यवस्था के लिये नियुक्त रहता था, भूचाल से दबकर नष्ट हो गया। अत्यन्त सीमित शक्ति और अव्यवस्थित युद्ध-साधनो के होते हुये भी, उन बीस प्रतिशत जीवित अर्द्धमृत गढवालियो ने, गोरखो का जिस वीरता से मुकाबला किया, वह स्वय गोरखो के लिये अत्यन्त आश्चर्यजनक और कल्पनातीत था। कुमाउँनियो ने सन् १७९० मे साधारण प्रतिरोध के पश्चात् उनके सम्मुख घुटने टेक दिये थे। मुट्ठी भर गढवालियो का अपनी ऐसी करुणाजनक स्थिति से भी

यह असीम साहस उन्हे असह्य हो उठा। वे अधिक उत्तेजित होकर पूरे पराक्रम के साथ गढवालियो के विरुद्ध लडने लगे। कई दिनो तक, कई स्थानो पर युद्ध करने के पश्चात् अन्त मे ११ गते श्रावण, सम्बत् १८६१ को गोरखा सेना ने श्रीनगर पर अधिकार कर लिया।

प्रद्युम्नशाह, पराक्रमशाह और प्रीतमशाह सेना सहित श्रीनगर से निकल कर अनेक स्थानो मे लडते रहे और अन्त में बाडहाट होते हुए देहरादून पहुँचे, जहाँ अखण्ड-गढवाल के अतिम नरेश प्रद्युम्नशाह खुडबुडा गाव (देहरादून) में २२ गते माघ, शुक्ला द्वितीया को वीरतापूर्वक युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हुये। गढवाली पराजित हो गये। बचे हुये लोग गोरखो के अत्याचार से भयभीत होकर आत्मरक्षार्थ जहाँ सीग समाये, भाग खडे हुये। जून सन् १८१६ तक, जब तक गोरखो का शासन रहा, गढवाल के सम्माननीय लोग अपनी चिर-सचित पैतृक-सम्पति एव ऐतिहासिक सामग्री को यथास्थान छोडकर, मिट्टी मे दबा कर बचे हुये बीबी-बच्चो को लेकर, इधर-उधर बीहड वनो मे, गुफाओ और कन्दराओ मे प्राण बचाते फिरे। गोरखो ने उनके मकान गिरा दिये। छोटे बच्चो को ओखली मे कूट कर बध किया। किसानो की खडी फसलें जला दी और अनाथ बीबी-बच्चो को दास बनाकर बेच दिया।

गोरखा-शासन की समाप्ति के बाद कई बरसो तक गावो से भागे हुये लोगो की सन्तान, सुदूर क्षेत्रो से अपने पूर्वजो के बताये हुये परिचय-चिन्हो के अनुसार, उनकी उस गडी हुई धन-सम्पत्ति को खोजने के निमित, उक्त गावो मे आती रही। निरन्तर के भौतिक परिवर्तनो तथा वर्षा-पानी के कारण ठोस धन-सम्पत्ति के अतिरिक्त उस गडी हुई सम्पति का बरसो तक सुरक्षित रहना असम्भव था। अपर्याप्त परिचय तथा चिन्हित स्थानो का ठीक स्मरण न रहने से भी कई लोग असफल होकर लौट जाते थे। भूचालो से दबा हुआ तथा गोर्ख्याणी के कारण वह गडा हुआ धन, आज भी खेत खोदते समय, लोगो को कही-कही अकस्मात प्राप्त हो जाता है।

देश की ऐसी अव्यवस्थित स्थिति मे भौतिक विप्लवो और राजनीतिक अशान्तियो के कारण, गढवाल-नरेश द्वारा, जो श्रीनगर से भाग कर परिवार सहित देहरादून आदि स्थानो मे छिप कर प्राण बचाते रहे, अपने राजकोष मे गढवाल की प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री को सुरक्षित रखकर घूमना भी सर्वथा असम्भव था। यही कारण है कि टिहरी दरबार मे गढवाल की उल्लेखनीय ऐतिहासिक सामग्री का सर्वथा अभाव है।

श्री हरिकृष्ण रतूडी टिहरी दरबार में वजीर थे। दरबार के पुराने कागजातो के सम्बन्ध मे उनकी सम्मति विशेष विश्वसनीय हो सकती है। वे

गढवाल-इतिहास की भूमिका पृष्ठ ३५ मे लिखते हैं—कि इसमे सन्देह नही कि इस देश के ऐतिहासिक लेख-पत्र इत्यादि अवश्यमेव कुछ-न-कुछ श्रीनगर दरबार में रहे होगे और कदाचित् उन लोगो के घरो मे भी रहे होगे, जो लोग उस काल मे राज-दरबार के प्रतिष्ठित लोगो मे थे, परन्तु कालचक्र की गति से जब कि इस देश पर सन् १८०३ में गोरखो का आक्रमण हुआ, तब वे नष्ट हो गये। गढवाल और कुमाऊँ मे ही क्या बल्कि इस सारे हिमालय प्रदेश मे सिवाय जातीय गीतो, पहाडो, प्राचीन ताम्रपत्रो और शिलालेखो के कोई ऐतिहासिक सामग्री नही मिलती है।

डॉ० पातीराम के (पृ० १६६) कथनानुसार भी समस्त ऐतिहासिक, मूल्यवान् कागज-पत्र तथा गढवाली नरेशो के पारिवारिक इतिहास से सम्बन्धित अन्य अभिलेख जो भूतपूर्व नरेशो द्वारा श्रीनगर मे छोडे गये थे, वे सब गोरखो ने नष्ट कर दिये। उनमे जो मूल्यवान् सामग्री थी, वे उसको उठा कर नेपाल ले गये।

आज हम गढवाल से बाहर इतिहास-लेखको की कृतियो के आधार पर अपने प्राचीन इतिहास का अनुमान लगाने को बाध्य है। छठी शताब्दी मे चीनी यात्री हुयेन्-त्साँग ने हरिद्वार मे ३० मील उत्तर की ओर, एक विस्तृत राज्य का, जिसका घेरा ४०० मील के लगभग था और जिसकी राजधानी का नाम ब्रह्मपुरी था, उल्लेख किया है। आज उसका कही भी ऐतिहासिक अस्तित्व प्रकट नही होता। यदि वह स्थान लछमनभूला के निकट बीहड बन के बीच मे—वर्तमान ब्रह्मपुरी ही है तो वहाँ प्राचीन बस्ती के आज कोई उल्लेखनीय चिन्ह नही पाये जाते। इस नगर का विस्तार हुयेन्-त्साँग के कथनानुसार लगभग दा मील था। वह नगर कब और कैसे नष्ट हो गया, यह पूर्णत अविदित है। मेरे विचार से आकस्मिक भूचाल ही इस विनाश के मुख्य कारण है। इस पदेश मे अधिकाश सीधी, खडी, विशाल पवत-श्रेणियाँ है जिनके तट पर लोगो की बस्तियाँ बसी है। समय-समय पर अकल्पित भूकम्पो के धक्को से वे पर्वत-खण्ड टूट-टूट कर असावधान मानव-बस्तियो को नष्ट कर देते रहे है। फलस्वरूप गढवाल की प्राचीन कलाकृतिया, उसके ऐतिहासिक स्मारक एव अन्य समस्त सास्कृतिक सम्पत्ति क्रमश समाप्त होती गई ह। राहुल जी ने जिन मन्दिरो और मूर्तियो को रुहेलो द्वारा तोडे जाने का उल्लेख किया है वे इन्ही भूकम्पो के धक्को से गिरे हुये मकानो और मन्दिरो से ही खडित हुई है, क्योकि गढवाल मे दक्षिणी सीमान्त क्षेत्रो के अतिरिक्त भीतरी क्षेत्र में रुहेलो का आक्रमण अविदित है।

कुमाऊँ की भूमि गढवाल की अपेक्षा समतल है। वहाँ के पर्वत सीधे खडे

नही हैं। इसलिये वहाँ भूचालो का विशेष व्यापक और विध्वसकारी प्रभाव नही पडा है और वहा के जन-जीवन का क्रमबद्ध इतिहास आज भी लिखित रूप में सुलभ है। श्री बदरीदत्त पाण्डे जी ने 'कुमाऊँ के इतिहास' पर विस्तारपूर्व प्रकाश डाला है। उन्होने कुमाऊँ के प्राचीन, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक जीवन के प्रत्येक पहलू को प्रमाणपूर्वक प्रकट किया है। उनके इस इतिहास से तत्कालीन गढवाल की राजनीतिक स्थिति पर भी प्रकाश पडता है। फिर भी कुमाऊँ गजेटियर में श्री ई० टी० एटकिन्सन ने १६ सितम्बर, १८८० को नैनीताल शहर मे भी भूकम्प के धक्को के कारण एक ऐसे भीषण पर्वत-पात का उल्लेख किया है, जिसमे हताहतो की सख्या १५१ थी। श्री एटकिन्सन लिखते है

सारा पर्वत-पार्श्व अर्ध तरल अवस्था मे था, उसे गति देने के लिये बहुत कम शक्ति की जरूरत थी। वह चालक शक्ति भूकम्प का एक धक्का था जो कि इन पहाडो मे साधारण-सी बात है। नगर मे बहुतो ने थर्राहट की आवाज उसी तरह सुनी जैसे कि भारी परिमाण मे मिट्टी के गिरने से सुनायी देती है। भूपात की ओर जिन लोगो को देखने का अवसर मिला, उन्होने वहाँ से धूल का एक विशाल बादल साफ उठते हुये देखा। साफ दिखाई दिया कि होटल के पीछे के पहाड का एक बडा भाग बडे तीव्र वेग और भीषणता के साथ नीचे की ओर खिसका और वह होटल को पूरी तरह से दबाते, असेंबली रूम, दूकान और असम्बली रूम को सत्यानाश करता, नीचे चला गया। यह सारी दुर्घटना कुछ ही सेकेन्डो मे हुई। इसलिये भूपात के रास्ते मे पडे किसी के लिये बच निकलना मुश्किल था (श्री राहुल **कुमाऊँ**, २८२)।

गढवाल और कुमाऊँ के नरेशो मे भी पारस्परिक राजनीतिक सघर्ष रहे है। एटकिन्सन ने सन् १७०७ मे कुमाऊँ-नरेश जगतचन्द द्वारा फतेहशाह के राज्य-काल मे, श्रीनगर की लूटपाट का उल्लेख किया है। उन्होने सन् १७८५ मे प्रद्युम्नचन्द के राज्यकाल मे भी कुमाऊनियो द्वारा, गढवाल के गावो मे आग लगाने, देवलगढ का मन्दिर लूटने, श्रीनगर का राजमहल जलाने तथा यहाँ से लाखो की सम्पत्ति लूट ले जाने का वर्णन किया है। यह काड इतिहास मे 'ज्योश्याणा काड' के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि रतूडी जी ने अपने इतिहास मे इस घटना का कोई उल्लेख नही किया है, तो भी मालाराम, एटकिन्सन और पाण्डे जी द्वारा प्रतिपादित इस घटना की सत्यता से इनकार नही किया जा सकता। इस प्रकार इन लूट-पाटो, आक्रमण-प्रत्याक्रमणो से गढवाल के सामाजिक, राजनीतिक एव आर्थिक जन-जीवन पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से विध्वसात्मक प्रभाव पडना निश्चित था।

सन् १८९४ में, २५ अगस्त की आधी रात को गौनाताल के टूट जाने से अलकनन्दा की भयंकर बाढ ने गढवाल का प्राचीन नगर जो गत कई शताब्दियों से समस्त पर्वत प्रान्तों का प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र था, और जो वर्तमान नगर से कई गुने अधिक भव्य और समृद्धिशाली था, बह गया। अव्यवस्थित नगर-निवासी केवल रुपये-पैसों की ही रक्षा कर सके। उन्होंने अपनी महत्वपूर्ण सांस्कृतिक धरोहरें, अपनी कागजी सबूतें तथा अन्य साहित्य-सामग्री अपने मकानों में ही रख छोडी थी, क्योंकि सरकार द्वारा मकानों की क्षति न होने का आश्वासन दे दिया गया था। परन्तु दुर्भाग्यवश वह तूफान जो शांतिपूर्वक आगे बढ गया था, कीर्तिनगर के पास पुल में कुछ पेड-पौधे लग जाने के कारण पुनः भयंकर वेग से वापस लौट पडा और उसने खोज-खोज कर श्रीनगर को सदा के लिये पूर्णतया श्री-विहीन कर दिया। मकान धूलि-धूसरित हो गये, सर्वत्र बालू ही बालू भर गया। परिचित स्थान मकान-मालिकों के लिये सर्वथा अपरिचित हो गये। उनके नीचे नगर-निवासियों की प्राचीन सांस्कृतिक सम्पत्ति और बहुमूल्य कला-कृतियाँ प्राचीन स्मारकों सहित दब कर और बह कर नष्ट हो गयी। अलकनन्दा की यह प्रलयकारी ताडव-लीला आज भी 'विरहीकाड' कह कर स्मरण की जाती है। तत्कालीन जिलाधीश पौ साहब द्वारा सन् १८९६ में पुराने श्रीनगर से एक मील ऊपर वर्तमान श्रीनगर की स्थापना की गयी। श्रीनगर का पुराना और भव्य राजमहल इतना विशाल था कि उसके कटे हुये शिला-खण्डों से दोनों ओर नये श्रीनगर की आधार-शिला, चिकित्सालय तथा अधिकांश मन्दिरों का निर्माण हुआ है। प्राचीन श्रीनगर कितना भव्य एवं अद्वितीय था, अपने प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ 'फतेहप्रकाश' में रतन कवि ने उसका वर्णन इस प्रकार किया है

सदन सदन सोहै सुतन मदन थिर
दामिन कदम्बिनी मे थिति हेम तरु की।
सुकवि रतन सुरपति मे सावई जामे
साहिब सरूप सुकुमार सुरतरु की।
करत कुबेर कांति कमनीय कायन के
रविराज मारग मे आवने सहरु की।
एक एरु मुख के अलेखे देखियत विधि
अवभुत सातो दीप शोभा सीनगरु की।

इन सब प्राकृतिक और अप्राकृतिक परिवर्तनों के कारण गढवाल के प्राचीन इतिहास की अस्पष्टता निर्विवाद है। वाल्टन 'गढवाल गजेटियर्स' (पृष्ठ १११) में गढवाल की इतिहास-सामग्री को अत्यन्त अपर्याप्त, अनिश्चित और अप्रामाणिक

बतलाता है। जे० इवट भी अपनी पुस्तक 'गढवाली' मे लिखता है कि "गढवाल का अपना लिखा हुआ इतिहास नही है। इतिहास के सम्बन्ध मे, उसकी परम्परानुसार जो मान्यतायें स्थापित हैं, वे अत्यन्त अपर्याप्त और असन्तोषजनक हैं।" यद्यपि इस प्रकार निरन्तर आकस्मिक भौतिक विप्लवो से विनष्ट प्राचीन स्मारको, सास्कृतिक विरासतो के अभाव से गढवाल के प्राचीन इतिहास की स्थिति उत्तरोत्तर अस्पष्ट और अप्रामाणिक होती गयी तो भी उसके पास महाभारत और पुराणो मे आध्यात्मिक प्राचीनता की जो कुछ विरासत सुरक्षित है, उससे प्राचीन और अर्वाचीन आर्यावर्त्त के इतिहास मे उसका अद्वितीय आध्यात्मिक प्रभाव प्रमाणित है तथा यह सब प्राचीन ऋषि-महर्षियो की निराधार कवि-कल्पना मात्र हैं, इस पर विश्वास नही किया जा सकता।

प्राचीन गढवाल की ऐसी अव्यवस्थित स्थिति मे उसके इतिहास की दयनीय अस्पष्टता निश्चित है। मैंने भी अपनी सीमित क्षमता के बावजूद गत कुछ वर्षों से उसके अन्धकारमय युग मे इतिहास के उन अस्पष्ट साक्ष्यो को टटोलते हुये, जो कुछ सामग्री सगृहीत की है, उसमे कितना तथ्य है, वह विचारार्थ, विचारशील पाठको के समक्ष प्रस्तुत है। विद्वान् बन्धुओ से निवेदन है कि वे इसको अद्योपान्त पढने के बाद अपना अभिमत स्थिर करें। प्राचीन इतिहास की दयनीय दशा मे केवल युक्ति, तर्क, प्रमाण एव अनुमान पर आधारित तथ्यो को ही सब यथा उचित सत्य मानने को विवश हैं। अपनी सीमित शक्ति और साधनो के अतिरिक्त विषय की गम्भीरता एवं इतिहास की अस्पष्टता के कारण अपने मत की पुष्टि मे कतिपय विद्वानो के यथासम्भव आवश्यक युक्ति, तर्क और प्रमाण प्रस्तुत करने के बावजूद पुस्तक को जैसी मै चाहता था नही लिख सका। इसमे इतिहास का सिलसिलेवार क्रमबद्ध वर्णन नही है, फिर भी अपने निष्कर्षों के प्रति मेरा दुस्साहस भले ही हो, हठ और दुराग्रह नही है। अभी तक विषय विवादास्पद एव अनिर्णीत है। पुस्तक मे प्रस्तुत मत भी एक मत है। जो अन्य अनेक अन्वेषको एव प्रसिद्ध इतिहासकारो के अस्पष्ट मतो का कुछ विशेष भौगोलिक तथ्यो के साथ विस्तारपूर्वक प्रतिपादन है।

लेखक ने विषयवस्तु के प्रतिपादन मे पक्षपात के आरोप से बचने तथा प्रस्तुत विषय को अधिक स्पष्ट एव प्रमाणित करने के लिए भारतीय एव विदेशी विद्वानो के मतो के कुछ विस्तारपूर्वक उद्धरण देने की धृष्टता की है। विभिन्न विषयो को पुष्टि मे, कई स्थलो पर इच्छा न होते हुए भी पुनरावृत्तियाँ भी हो गयी है, जिनके लिये लेखक श्रद्धेय विद्वानो एव अपने पाठको के समक्ष क्षमा प्रार्थी है। मैंने प्रस्तावित तथ्यो की पुष्टि मे श्री रामगोविन्द त्रिवेदी जी के 'हिन्दी-ऋग्वेद' तथा जिन अन्य अनेक विद्वानो के ग्रन्थो-लेखो से सहायता ली

है, मैं उन सबका हृदय से अत्यन्त आभारी हूँ। वस्तुत प्रस्तुत पुस्तक में मेरा अपना कुछ नही है। यह अनेक विद्वानो के कथनो का सग्रहमात्र है। इन चिर उपेक्षित भौगोलिक तथ्यो के प्रतिपादन के लिए विद्वान् मनीषियो की सम्मतियाँ, मुझ नगण्य व्यक्ति से कही अधिक मूल्यवान् होने के कारण, मैं नम्रतापूर्वक उनका बार-बार उद्धरण देने का लोभ सवरण नही कर सका हूँ।

'गढवाल के प्राचीन और अर्वाचीन इतिहास के कुछ अस्पष्ट पृष्ठ' नामक मेरे अप्रकाशित निबन्ध-सग्रह का प्राचीन इतिहास से सम्बन्धित यह अश पाठको के सम्मुख है। पुस्तक को अपनी सीमित परिस्थितयो के कारण, जैसी मै चाहता था, नही लिख सका, फिर भी गत पन्द्रह-बीस वरसो का मेरा यह अथक प्रयास इस 'उत्तराखड' के तीर्थ-यात्रियो, पर्यटको और इतिहास के जिज्ञासुओ के लिए उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। आज जब हिमवन्त का सीमान्त साम्यवादी सेना से आतंकित है, आर्य जाति मे गगा-यमुना के इस उद्गम स्थल की, आर्य सस्कृति के इस आदि स्रोत मध्य हिमालय के प्राचीन गौरव के व्यापक प्रचार-प्रसार की सार्वजनिक उपयोगिता असदिग्ध सिद्ध हे।

पुस्तक बरसो से लिखी हुई पडी थी और शायद इसी प्रकार अप्रकाशित रह कर नष्ट हो जाती। यह प्रियवर श्री वाचस्पति गैरोला का स्नेहसिक्त प्रोत्साहन एव प्रयास है, जो यह पुस्तक प्रकाशित होकर पाठको के समक्ष प्रस्तुत हो रही है। इसकी त्रुटियाँ मेरी है और उत्तमता जो कुछ हे, उसका सारा श्रेय प्रियवर गैरोला को है।

श्रद्धेय श्री भक्त दर्शन जी ने अपनी अत्यधिक कार्यव्यस्तता के बावजूद भी इस पुस्तक को पढकर इसके सम्बन्ध मे अपनी मूल्यवान् सम्मति देकर अन्य अनेक असहाय लेखको की भाँति मुझे भी स्वभावत अनुगृहीत किया है। उसके लिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

—भजन सिह



केदारखंड–महात्म्य

ईश्वर उवाच

तमसातटत पूर्वमर्वाग्बौद्धाचल शुभम् ।
केदारमडल ख्यात भूम्यास्तद्भिन्नक स्थलम् ॥
पचाशद्योजनायाम त्रिंशद्योजन विस्तृतम् ।
इद वै स्वर्गगमन न पृथ्वीं तामहो विभो ॥
यस्य तीर्थस्य सेवाया शुद्धा जाता महौजस ।
इति तत्परम स्थान देवानामपि दुर्लभम् ॥ केदारखड ४०, २६
पुरातनो यथाह वै तथा स्थानमिद किल ।
यदा सृष्टिक्रियायांच मया वै ब्रह्ममूर्तिना ॥५॥
स्थितमत्रैव सतत परब्रह्म जिगीषया ।
तदादिकमिद स्थान देवानामपि दुर्लभम् ॥६॥
मृतो यत्र महादेवि शिव एव न सशय ।
धन्यास्ते पुरुषा लोके पुण्यात्मानो महेश्वरि ॥९॥
ये वदन्त्यपि केदार गमिष्याम इति क्वचित् ।
देवेशि पितरस्तेषां त्रिशत कुलसयुता ॥१०॥
गच्छति शिवलोके तु सत्य सत्य न सशय ।
यथा सतीनां त्व चैव देवाना च यथा हरि ॥११॥
सरसां सागरो यद्वत्सरितां जान्हवी यथा ।
पर्वतानां यथाह् वै योगीना याज्ञवल्क्यकम् ॥१२॥
भक्तानां च यथा देवि नारदो भक्त ईरित ।
शिलानां च यथा शालिग्रामशिला तु वैष्णवी ॥१३॥
अरण्याना यथा प्रोक्त बदर्य्यारण्य सज्ञितम् ।
धेनूनां च यथा कामधेनुर्वै परिकीर्तिता ॥१४॥
मनुष्याणां यथा विप्रो विप्राणां ज्ञानदो यथा ।
स्त्रीणां पतिव्रता यद्वत्प्रियाणा पुत्र एव च ॥१५॥
पदार्थानां यथा स्वर्णं मुनीना च यथा शुक ।
सर्वज्ञानां यथा व्यासो देशानामयमेव च ॥१६॥

नराणां च यथा राजा सुराणां वासवस्तथा ।
वसूना धनदो यद्वत्पुरीणा मामकी यथा ।।१७।।
रभा चाप्सरसां यद्वग्गन्धर्वाणा च तुंबुरू ।
क्षेत्राणा च यथा प्रोक्त क्षेत्र केदार सज्ञितम ।।केदार० ४१,१८

भगवान् कहते है

गगाद्वार से प्रारम्भ होकर श्वेतान्तपर्यन्त, तमसा नदी के तट से पूर्व एव बौद्धाचल (बाधाण) से पश्चिम, केदारमडल के नाम से प्रसिद्ध, समस्त पृथ्वी से भिन्न यह स्थल है । यह पचास योजन चौडा और बीस योजन लम्बा महातीर्थ, पृथ्वी मे स्वर्ग की स्थापना करने वाला है। इस तीर्थ के सेवन मे अनेक महापुरुषो को शुद्धि प्राप्त हुई । यह परमोत्तम स्थान देवताओ के लिये भी दुर्लभ है ।

जैसे मै सबसे प्राचीन हूँ, उसी प्रकार यह केदार क्षेत्र भी प्राचीन है । जबकि मै ब्रह्ममूर्ति धारण कर सृष्टि-रचना मे प्रवृत्त हुआ, तब मैने इसी स्थान मे सर्व प्रथम सृष्टि-रचना की । हे महादेवी ! यहाँ प्राण त्याग कर जीव नि सन्देह शिवरूप हो जाता है । हे माहेश्वरी ! उन पुण्यात्मा पुरुषो को धन्य है, जो कहते है कि हम कभी केदारक्षेत्र को जायँगे और हे देवेश्वरी ! इस बात मे कोई सन्देह नही कि उनके पितर तीन सौ कुलो सहित शिव-लोक प्राप्त करते है । जैसे पतिव्रताओ मे तुम, सब देवताओ मे विष्णु, सरो मे सागर, नदियो मे गंगाजी, पर्वतो मे कैलास, योगियो मे याज्ञवल्क्य, भक्तो मे नारद, शिलाओ मे शालिग्राम, अरण्यो मे बदरीवन, धेनुओ मे कामधेनु, मनुष्यो मे ब्राह्मण, ब्राह्मणो मे ज्ञानदाता, स्त्रियो मे पतिव्रता, प्रियो मे पुत्र, पदार्थों मे स्वर्ण, मुनियो मे शुकदेव, सर्वज्ञो मे व्यास, देशो में भारतवर्ष, मनुष्यो मे राजा, देवताओ मे इन्द्र, वसुओ मे कुबेर, पुरियो मे काशी, अप्सराओ मे रम्भा और गन्धर्वों मे तुम्बुरू सर्वश्रेष्ठ है । उसी प्रकार सब क्षेत्रो मे केदारक्षेत्र सर्वोत्तम है ।

● ●

आर्यों के आदिस्थान के सम्बन्ध में विभिन्न मत

भारतवर्ष का इतिहास जो विद्यालयो मे पढाया जाता है, उससे पाठको पर यही प्रभाव पडता है कि भारतवासी विदेशियो की सतान है, भारतवर्ष का प्राचीन काल मे अपना स्वतत्र अस्तित्व नही था। भारतवर्ष मे जो-कुछ गौरवपूर्ण है, वह विदेशी आगन्तुको की देन तथा जो-कुछ गहित, लज्जाजनक और तुच्छ है, वह यहाँ की मौलिक उपज है। राज्य, व्यापार एव धर्म-विस्तार के उद्देश्य से लिखे गये, इन विदेशी इतिहासकारो के उक्त अभिमतो पर आधारित इतिहास के पठन-पाठन से जब प्रति दिन हमारा अपने देश से, अपने आर्य-ऋषियो की सास्कृतिक धरती से सम्बन्ध-विच्छेद होता जाता है, तो हम अपने को अत्यन्त निरुद्देश, निराश्रित एव नगण्य समझने लगते है और तब हममे क्रमश अपने दैनिक जीवन, रहन-सहन, आचार-व्यवहार के लिये पूर्णत विदेशियो की कृपा-दृष्टि पर ही निर्भर रहने की हीन भावना उत्पन्न हो जाती है।

आर्यों के आदि देश के सम्बन्ध मे भी अधिकतर इतिहासकारो का यही दृष्टिकोण रहा है। इस सम्बन्ध मे ऐतिहासिक वस्तुस्थिति को उन्होने काफी तोड-मरोड कर अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है, फिर भी कुछ इतिहास-कारो के अनुसधान, अध्ययन और मनन की गभीरता स्तुत्य है, परन्तु अपूर्ण मानव से, ससार के समस्त देशो-प्रदेशो की प्राचीन और अर्वाचीन भौगोलिक एव सामाजिक स्थिति के सम्पूर्ण ज्ञान की आशा असम्भव है। विशेषकर जब सब इतिहासकार हिमालय के इस अलघ्य-पर्वत-प्रदेश से प्राय अपरिचित ही रहे हैं, उनसे उसके सम्बन्ध मे तथ्यपूर्ण सामग्री की सम्भावना नही हो सकती है। यही कारण है कि इस प्रदेश की भौगोलिक एव सामाजिक अवस्था, वैदिक आर्यों की वस्तु-स्थिति से कहाँ तक मेल खाती है, इसका गवेषणापूर्ण उल्लेख वर्तमान इतिहासकारो के इतिहासो मे अप्राप्य है।

सन् १८७६ के लगभग सर विलियम जोन्स, सस्कृत साहित्य के अध्ययन-मनन के पश्चात्, मातृ (अग्रेजी-मदर, फारसी-मादर) पितृ (अ०-फादर फा० पिदर) आदि कुछ सस्कृत-शब्दो के मौलिक तत्त्वो के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इन भाषा-शब्दो के बोलने वालो के पूर्वज सजातीय थे और मूलत एक ही स्थान पर रहते थे। भाषा-शब्दो के इस वैज्ञानिक विश्लेषण से भारतीय एव विदेशी भाषाविदो द्वारा अनेक मतो का आविर्भाव हुआ। अपनी राजनीतिक

आकाक्षाओ से पीडित कुछ पाश्चात्य इतिहासकारो का मत है कि यूरोप मे यूराल पर्वत से उत्तरी जर्मनी होते हुये अथमहासागर तक फैला हुआ मैदान आर्यों का आदि-देश था। कुछ इतिहासकार मध्य एशिया मे, कास्पियन सागर के आस-पास आर्य जाति का मूल स्थान मानते है। प्राय अधिकाश यूरोपियन इतिहासकार इस मत के समर्थक है। लोकमान्य तिलक ने **'अवर आर्कटिक होम इन दि वेदाज'** मे बताया कि आर्य उत्तरी ध्रुव मे रहते थे, वहाँ से भयकर हिमपात के कारण वे इस भू-भाग को छोडकर अन्यत्र चले गये। श्रीनारायण पावगी ने **'फ्राम दि कंडल टू दी कौलीनोज'** मे आर्यों का सप्तसिन्धु से उत्तरी ध्रुव मे जाने का उल्लेख किया है। महर्षि दयानद सुमेरु-कैलाश के निकट, त्रिविष्टप (तिब्बत) को आर्यों की जन्मभूमि मानते है उनके कथनानुसार त्रिविष्टप मे मनुष्य की आदि सृष्टि हुई और आर्य लोग, सृष्टि के आदि मे कुछ काल पश्चात् तिब्बत से सीधे इसी देश मे आकर बसे थे। प्रोफेसर बेनफे इससे सहमत है। वे लिखते है कि आर्य कुछ समय तिब्बत मे रहे। वे गढवाल और कुमाऊँ का उपत्यकाओ से होकर भारत मे आये। हर्नले और प्रो० बेबर ने भी इसका समर्थन किया है। एटकिन्सन साहब ने भी **'हिमालयन गजेटियर्स'** (पृष्ठ २८५) मे ऋग्वैदिक गढवाल का महत्व स्वीकार किया है। वे लिखते है कि वैदिक विद्यार्थियों को वेदो मे आर्यों के ऐसे सस्मरण प्राप्त हुये है जो पूर्णत गढवाल पर लागू होते है। अल्बेरूनी भी हिमालय को आर्यों का आदि स्थान मानता है। उसके कथनानुसार, वे वहाँ से प्रतिकूल जल-वायु के कारण आर्यावर्त्त मे आकर और वहाँ अनेक जाति-उपजातियो मे बँटकर पीछे अनेक भू-भागो मे बिखर गये। श्री भगवद्दत्त **'वैदिक वाङ्मय का इतिहास'** (पृष्ठ १३६) मे विश्व की भिन्न-भिन्न आधुनिक जातियो को आर्यो के मूलस्थान हिमालय से निकली हुई मानते हैं। उनके कथनानुसार आर्य हिमालय से सीधे आकर भारतवर्ष मे बसे। मध्य एशियावाद के समर्थक मैक्समूलर साहब भी (**इंडिया ह्वाट इट कैन टीच अस**) अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आर्यावर्त्त का प्राचीन देश ही, गोरी जाति का उत्पत्ति-स्थान है। भारतभूमि ही मानव जाति की माता और विश्व की समस्त परम्पराओ का उद्गम स्थल है। उत्तर भारत मे ही आर्यों का अभियान फारस की ओर गया।

भूगर्भशास्त्री मिडलीकट ने **'मैन्युअल ऑफ इंडियन ज्योलोजी'** (पृ० २४, २५ मे) कुमाऊँ के उत्तर मे सिलूरियन फौसिल पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त किये है। कई इतिहासकारो का कथन है कि पृथ्वी के शीतल एव जीवन के पोषण योग्य हो जाने के पश्चात् सर्व प्रथम मध्य हिमाचल के इस समशीतोष्ण शिवालिक पर्वत क्षेत्र मे प्रवाहित सरस्वती का तटवर्ती क्षेत्र, जिसका ऋग्वेद मे सबसे अधिक स्तवन है, मानव-जीवन का उत्पत्ति स्थल है।

श्री अविनाशचन्द्र दास **'ऋग्वैदिक इंडिया'** मे भूगर्भ-शास्त्र के अनुसधानों के आधार पर सप्तसिन्धु (पजाब) को आर्यों का आदि स्थान प्रमाणित करते हैं। डॉ० सम्पूर्णानन्द ने भी **'आर्यों का आदि देश'** में सप्तसिन्धु पजाब को ही आर्य जाति का मूल-स्थान सिद्ध किया है। श्री जयचन्द्र विद्यालकार अपने **'इतिहास-प्रवेश'** मे लिखते है कि "भारतीय आर्यों की अपनी अनुश्रुति अर्थात् परम्परागत आख्यानो मे उनके उत्तर-पश्चिम से आने की बात कही नही है। इसके विपरीत उसमे ऐसी चर्चा है कि वे सरस्वती से काठे से भारत के अन्य भागो की तरह उत्तर-पश्चिम की ओर फैले। साथ ही कैलाश-मानसरोवर-प्रदेश और मध्य हिमालय के स्थानो की चर्चा भारतीय आर्यों की प्राचीन अनुश्रुतियो में है, परन्तु उत्तर भारत मे बसने के बाद, उन प्रदेशो की ओर फैलने का कोई उल्लेख नही है। इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यों की एक शाखा पूर्वी-मध्य-एशिया अर्थात् तारीम काठे से नये चरागाहो की खोज करती हुई, पश्चिमी तिब्बत की ओर बढी और उसके दक्षिण छोर पर पहुँचने के बाद, लगभग ३००० ई० पूर्व हिमालय के नीचे, उत्तर गगा-यमुना-सरस्वती काठो से आयी। अलकनदा (दून) गढवाल हिमालय के भीतर कश्मीर तक फैल गयी।"

आर्यो के आदि देश के सम्बन्ध मे उपर्युक्त मतो का निष्कर्ष यह है

(१) यूरोप का उत्तरी मैदान।

(२) मध्य-एशिया।

(३) उत्तरी ध्रुव।

(४) सप्तसिन्धु (पजाब)।

(५) सरस्वती के काठे अर्थात् मध्य-हिमालय मे बदरीकाश्रम के निकट सरस्वती नदी का तटवर्ती क्षेत्र, जिसका प्राचीन नाम ब्रह्मावर्त्त, हिमवन्त, कैलास, सुमेरु, स्वर्ग, गन्धमादन, केदारखण्ड, उत्तराखण्ड एव वर्त्तमान नाम गढवाल है।

आर्यो के आदि देश के सम्बन्ध मे, आर्य-भाषा, आर्य-सभ्यता एव आर्य सस्कृति की सबसे बडी निधि **ऋग्वेद** है। यह आर्यों का ही नही विश्व का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। उसकी यह प्राचीनता सर्वमान्य है। जिस देश मे आर्य जाति का यह प्राचीन धर्मग्रन्थ, अविच्छिन्न रूप से प्रचलित रहा हो, वही विश्व का प्राचीन देश, आर्यों का आदि देश है। उसके कुछ मत्रो की रचना आज से हजारो वर्ष पूर्व प्रमाणित हो चुकी है, परन्तु कुछ पश्चात्य इतिहास-लेखक आज से प्राय उन्हे ३५०० से ४००० वर्ष पूर्व का नही मानते। वे अपनी धर्म-पुस्तक **'बाइबल'** के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति को आज से केवल ८५०० वर्ष पूर्व मानते है। अत वे उससे पूर्व ससार मे किसी भी सभ्यता और किसी भी सास्कृतिक विकास की कल्पना नही करते, किन्तु वास्तविकता यह है कि ऋग्वेद

आज भी—हजारो वर्षो से आर्यावर्त्त मे आर्यजाति द्वारा सबसे अधिक पूज्य एव प्रतिष्ठित है। भाषाशास्त्रियो के कथनानुसार उसके भाषा-शब्द व्याकरण और धातुओ की दृष्टि से ईरानी, यूनानी, लातीनी, ट्यूरनी, केन्ट और स्लाव भाषाओ से मिलते है। इससे स्पष्ट है कि उनके भाषा-शब्दो के बोलने वालो के पूर्वज किसी समय ऋग्वेद के मूलस्थान मे रहते थे और वहाँ से चलकर अलग-अलग देशो मे फैल गये।*

कुछ पाश्चात्य भाषाविदो का यह कथन है कि यूरोप की लियुआनिया भाषा सबसे प्राचीन है। उसमे प्राचीन भाषा का रूप विद्यमान है। इसके उत्तर मे होफर आदि विद्वानो ने लिखा है कि आर्यों की भाषा का अत्यन्त प्राचीन रूप **'ऋग्वेद'** और **'अवेस्ता'** मे सुरक्षित है। इसके समर्थन मे इसाक टेलर ने अपने **'ओरिजन ऑफ आर्यन'** मे लिखा है कि आर्य-जाति का आदि देश वह है जहाँ सस्कृत और जेन्द बोली जाती थी। लियुआनिआई साहित्य अठारहवी शताब्दी से शुरू होता है, जब कि सस्कृत-साहित्य लगभग हजारो वर्ष प्राचीन है। आजीवन वैदिक सस्कृत का अध्ययन करने वाले विद्वान मैक्समूलर **'इडिया व्हाट इट कैन टीच अस'** मे लिखते हैं—'यदि आदि मानव से हमारा आशय उन लोगो से है जो आर्य-जाति से प्रथम हुये है और जो अपने अस्तित्व का चिन्ह अपने पीछे साहित्य मे छोड गये है तो मेरा विश्वास है कि वैदिक कवि ही आदि मानव है, वैदिक भाषा ही आदि भाषा है, वैदिक धर्म ही आदि धर्म है और जो बात हमे अपनी जाति के इतिहास मे शायद ही प्राप्त हो, उसकी अपेक्षा अधिक आदिम वे ही हैं।'

ग्रियर्सन ने अपनी रिपोर्ट **'ऑन दि लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इडिया'** मे लिखा है कि 'भारतीय मानव स्कन्ध से उत्पन्न भारत-तूरानी अपने को वास्तविक अर्थ मे साधिकार आर्य कह सकते हैं किन्तु हम अग्रेजो को अपने को आर्य कहने का अधिकार नही है।'

'अवेस्ता' के भाषान्तरकार स्पीजल साहब **'अवेस्ता का अनुवाद'**, द्वितीय भाग मे लिखते है कि उस वैदिक सस्कृति से, जैसी वह वेदो मे लिपिवद्ध की गयी है, अन्य कोई भाषा अधिक प्राचीन एव पुराने रूपो वाली आदिम भाषा नही है। इस मत के समर्थन मे कजन **'रायल एशिआटिक सोसाइटी जर्नल आॅफ ग्रेट ब्रिटेन'** मे लिखते है—प्राचीन फारसवालो ने अपनी भाषा आर्य जाति मे प्राप्त की है। वे स्वय भी उन्ही लोगो की औलाद थे। ये लोग अपने बन्धु-बान्धओ से अलग होकर पश्चिम प्रदेशो मे जा बसे थे, अथवा धार्मिक मत-भेदो से उत्पन्न गृहयुद्धो के कारण अपने आदि देश से निकाल दिये गये थे।

---

*हिन्दू सभ्यता—राधाकुमुद मुकर्जी, पृष्ठ ७०।

भाषाविज्ञान और नृवश-विद्या दोनो के आधार पर कर्जन साहब पुन लिखते हैं कि—आर्यावर्त्त हमारी जन्म भूमि है, वह हमारा आदि देश है। उसके अतिरिक्त हमारा अन्य कोई उत्पत्ति-स्थान नही है। भारतवर्ष के प्राचीन आर्य, हिन्दू किसी अन्य देश से आर्यावर्त्त मे आये हैं, यह कल्पना निराधार है। इसके विरुद्ध ऐतिहासिक तथ्य इस प्रमाण की पुष्टि करते है कि प्राचीन जाति का अभ्युदय, सभ्यता तथा कला-कौशल मे उनकी उन्नति उन्ही के देश की उपज है। इन सब बातो की उत्पत्ति के लिये दीर्घकालीन अवधि अपेक्षित है।

मेगस्थनीज लिखता है कि—समस्त भारत एक विशाल देश है और उसमे विभिन्न जाति के लोग निवास करते है। उसमे एक भी व्यक्ति मूलत विदेशी वश से उत्पन्न नही है, वरन् समस्त भारत के आदि निवासियो की सन्तान हैं।

फ्रांसीसी विद्वान् क्रूजर की घोषणा है कि यदि ससार मे कोई देश मानव जाति का जन्म स्थान या मानव की आदि-सभ्यता का क्रीडास्थल होने का सम्मान प्राप्त कर सकता है, और जिनके द्वारा विद्या का वरदान, जो मानव जाति का पुनर्जीवन है, प्राचीन काल के ससार के समस्त धर्मों तक पहुँचाया गया हैं, तो इसमे कोई सन्देह नही कि वह देश भारतवर्ष ही है।

नृ-वश-शास्त्रियो के अन्वेषणो के आधार पर योरोप के वर्तमान निवासी स्लाव, केल्ट, सेक्सन आदि सस्कृत के सजातीय भाषा-भाषी लोग एशिया के तूरानी वश से सम्बन्धित 'को मँग्नाड' (आयत कपाल वाले मनुष्यो) की सनान है। आज से लगभग २५००० वर्ष पूर्व जलप्लावन के अन्त मे आर्यों-द्वारा पराजित असुरोपासक आर्यों का दल जो पश्चिमोत्तर एशिया की ओर गया, उसने बर्बर तूरानियो से, सास्कृतिक सम्बन्धो द्वारा, असुर राज्य की स्थापना के बाद, आधुनिक यूरोपियन आर्यों को जन्म दिया। यह मत अधिकाश ग्राह्य, युक्तिसगत और अधिक विद्वानो द्वारा मान्य है। अमेरिकन भूगर्भशास्त्री डॉ० डान के कथनानुसार दक्षिण-पश्चिम एशिया मे ही कही सर्व प्रथम मानव जीवन का आविर्भाव हुआ हं। विद्वानो का मत है कि स्तनधारी प्राणी एशिया से ही यूरोप आया है। आदि काल मे यूरोप के जलवायु मानव-उत्पत्ति के सर्वथा अनुपयुक्त था।

इतिहासकारो का मध्य एशियावाद भी दोषपूर्ण प्रमाणित हो चुका है। पुरातत्ववेत्ताओ के कथनानुसार अंतिम भौगोलिक युग तक अर्थात् १२,००० से १००० ई० वर्ष पूर्व, समस्त मध्य एशिया भूमध्य सागर के अनेक दलदलो के कारण मनुष्य-निवास के सर्वथा अयोग्य था। अनेक विद्वानो का मत है कि पामीर का प्लेटो भी आर्यों के बसने योग्य कदापि नही है।

ऋग्वैदिक गृह-नक्षत्रो की परिस्थितियो पर आधारित लोकमान्य तिलक की

मान्यताएँ भी कई वैदिक विद्वानो एव गणितज्ञो द्वारा अमान्य हो चुकी हैं। डॉ० सम्पूर्णानन्द ने भी **'आर्यों का आदि देश'** मे लोकमान्य के अनुमानो का युक्तियुक्त खंडन किया है। डाक्टर साहब ध्रुव देश की पुष्टि मे लोकमान्य द्वारा उद्धृत (ऋ० ७।७६।२) 'अभूत् केतुरुपस पुरस्तात्प्रतीच्यागादधिहर्म्येभ्य' मत्र के प्रतीची शब्द से ही प्रमाणित किया है कि ऋग्वैदिक आर्यों का उषा का केतु प्रतीची (पूर्व) दिशा में दिखायी देता ह। यह बात ध्रुव देश मे नही होती। वहाँ तो उषा का केतु दक्षिण मे दिखायी देता है। श्री नारायण पावगी ने अपनी पुस्तक **'दि आर्यवर्तिक होम ऐंड दि आर्यन कैडल इन दि सप्तसिन्धुज'** मे अनेक भारतीय एव विदेशी भाषाशास्त्रियो, पुरातत्वान्वेषियो एव भूगर्भवेत्ताओ के निष्कर्षों का सप्रमाण खडन करके, सप्तसिन्धु को ही आर्य-जाति का मूल स्थान प्रतिपादित किया है। उनका मत है कि आर्य सरस्वती नदी के देश से उत्तरी ध्रुव देशो को गये और वहाँ दीर्घकाल तक निवास करने के बाद महा हिम युग के आरम्भ होने पर, जब जलप्लावन ने वहाँ की भूमि को आप्लाविन कर दिया, तो वे हिमालय के मार्ग से अपने आदि देश आर्यावर्त्त को लौट गये, क्योकि **'शतपथ ब्राह्मण'** मे वर्णित अपने पूर्व परिचित उत्तरगिरि का एकमात्र अतिम सर्वोच्च शरणस्थल उन्हे स्मरण था।

आर्यावर्त्त शब्द से जहाँ किसी अन्य क्षेत्र से आने का बोध होता है वहाँ वैदिक वाङ्मय म आर्य जाति का किसी अन्य देश से यहाँ आने का प्रमाण नही मिलता। वस्तुत आर्य आर्यावत्त मे मिले हुए, उत्तरी गिरि प्रदेश (ब्रह्मावर्त्त) मे, तराई के समुद्र सूख जाने के बाद आर्यावर्त्त मे आये थे। अत उनका किसी अन्य देश से यहाँ आने का प्रश्न ही नही उठता। प्रो० टी० मुगे अपनी **'सस्कृत भाषा'** नामक पुस्तक मे लिखने है कि भारतवर्ष पर इन्डो-आर्यन आक्रमण अप्रामाणिक है। ऋग्वेद के मूल पाठ मे कही कोई ऐसी स्मृति का सकेत तक नही है कि वे कही बाहर से यहाँ आये है।

प्राय सब वैदिक विद्वान् इस बात मे सहमत है कि वैदिक वाङ्मय मे आर्य जाति का किसी अन्य देश से आने का प्रमाण नही मिलता। ऋग्वेद के प्रसिद्ध **'नदी-सूक्त'** मे भी आर्यावत्त से बारह किसी अन्य देश की नदियो का नाम नही है। **'नदी-सूक्त'** मे वर्णित नदियाँ जिस प्रदश मे बहती है, वही सप्तसिन्धु देश आर्यो का आदि-देश है। ईसवी से ५००० वर्ष पूर्व सिन्धु घाटी सभ्यता की लिखावटो मे वेदो के नामो के उल्लेख से वैदिक सभ्यता की प्राचीनता स्पष्ट है। सिन्धु घाटी के मोहनजोदडो, हडप्पा के अवशेषो मे प्राप्त लिपि को चित्रलिपि बतलाते हुये, विश्वविख्यात प्राचीन लिपिविद और बेबीलोनियन इतिहास के आचार्य डॉ० लैंगडन और डॉ० सी० यफ० गोड ने **'साइन लिस्ट**

आॅफ अर्ली इंडसस्क्रिप्ट' मे लिखा है कि वे किसी आर्य-भाषा के नाम हैं। भारत मे आर्य-जाति उससे कही अधिक प्राचीन है, जितना अब तक इतिहास में बतलाया गया। भारतीय आर्य, आर्य जाति के सबसे अधिक प्राचीन प्रतिनिधि हैं। सिन्धु घाटी मे प्राप्त उन अवशेषो से यह स्पष्ट हो गया कि— ई० पू० १७०० के लगभग, एशिया माइनर मे अनातोलिया से होकर आर्यों का अभियान भारत मे पहुँचा, गलत है।

डाक्टर सम्पूर्णानन्द **'आर्यों का आदि देश'** मे लिखते है कि विद्वानो का बहुमत भी यही है कि आर्य नाम उन्ही लोगो के लिये उपयुक्त है, जो भारत के वैदिक काल के आर्यों तथा प्राचीन पारसियो (ईरानियो) के पूर्वज थे। जो आर्य उपजाति थी उसकी दो ही निश्चित शाखाएँ हुई। एक वह जिसका सम्बन्ध भारत से हुआ, दूसरी वह जिसका सम्बन्ध ईरान से हुआ। पहिले की भाषा सस्कृत, दूसरे की जैन्द या पहलवी थी। पहिले का धर्म-ग्रन्थ वेद, दूसरे का अवेस्ता है। किसी समय यह दोनो एक थे। इसके तो शत-शत प्रमाण हैं।

श्री रामदास गौड **'हिन्दुत्व'** मे लिखते हैं—कि इन मत्रो से केवल यह विदित होता है कि जिनके सम्बन्ध मे यह कथन है, वे पहले कही और जगह रहते थे। ओक्स, आवर्त, अयन आदि स्थान के सूचक हैं। सम्भव है कि ओक्स किसी स्थान का रुढ नाम ही हो। सायणादि ने आर्यावर्त्त से बाहर किसी स्थान का नाम नही बताया है। दूसरे मत्र मे शुन शेप के पूर्व स्थान का निर्देश करते हुये दूसरा नाम जह्वायाम भी कहा है। यदि जन्हावी या जान्हवी अर्थात् गगानदी निर्दिष्ट है तो जन्हुदेश का (जौनपुर-रवाई-टिहरी गढवाल) पहाड से सम्बन्ध हो सकता है। ऋग्वेद (१।१६।१६) मे भी महर्षि जन्हु और उनकी सन्तति का उल्लेख हुआ है।

जान्हवी नदी उत्तरकाशी, टिहरी गढवाल के क्षेत्र मे, भैरोघाटी मे भागीरथी गगा से मिलती है। शुन शेप की जन्म भूमि यही देश है।

गौड जी आगे लिखते है

'अवर आर्कटिक होम इन दि वेदाज' मे श्री तिलक महाराज ने सुमेरु-वर्णन से यह निष्कर्ष निकाला है कि आर्यों का प्रचीन निवास कही ध्रुवीय प्रदेश मे था। उसके सम्बन्ध मे श्री पावगी आदि अनेक विद्वानो की यह धारणा है कि आर्य-जाति यहाँ से प्रालेय-प्रलय मे उस प्रदेश मे गयी और फिर साधारण समय आने पर लौटी। 'आवर्त्त' शब्द जाकर लौट आने की स्पष्ट सूचना देता है। दूसरे विद्वानो का यह मत है कि किसी सुदूर प्राचीन युग मे आर्यावर्त्त मे अयन गति के कारण वह अवस्था थी जो श्री तिलक महाराज ने ध्रुव प्रदेश की समझी थी। इसके सिवाय किसी भी मत्र से यह सिद्ध नही होता है कि आर्य

जाति ध्रुवीय प्रदेश से ही आकर आर्यावर्त्त में बसी। ऋतु की विविध दशाओं का वर्णन भिन्न-भिन्न कालो का एक ही देश के सम्बन्ध मे अथवा भिन्न देशो का एक ही काल के सबध मे, अथवा भिन्न-भिन्न कालो का विविध देशो के सम्बन्ध मे हो सकता है। इन तीनो सम्भावनाओ की सगति होने से यह एक-एक देशीय निश्चय आर्य-जाति बाहर से ही आयी समीचीन नही समझा जा सकता है।

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के कथनानुसार आर्यों का मूल उद्गम (१) ऐल (२) सौद्युम्न और (३) मानव, इन तीन वशो से आरम्भ होता है। ऐलो का मूल निवास कही मध्य हिमालय का प्रदेश या उत्तरी देश था। आर्यों का उत्तर पश्चिम से या भारत को, बाहर से, अथवा पश्चिम से पूर्व की ओर आने का तनिक भी कही उल्लेख नही है। इसके विपरीत ऐलो के इस देश से बाहर जाने और उत्तर-पश्चिम की ओर से सिन्धु पार के देशो मे फैल जाने का वर्णन आता है। ऋग्वेद मे (१०।७५) गगा से लेकर नदियो की सूची पूर्व से उत्तर पश्चिम की ओर बढती हुई दी गयी है, जो कि ऐलो के उत्तर-पश्चिम के बाहर उनके विस्तार को प्रमाणित करती है। ऋग्वेदीय दाशराज युद्ध मे उत्तर पाचाल के ऐल राजा सुदास का जिसके विरुद्ध यह युद्ध लडा गया, पश्चिम की ओर पजाब मे घुस कर दिग्विजय करने का वर्णन है। वह इस मत के भी अनुकूल है कि ऋग्वेद का अधिकाश भाग गगा-यमुना की अन्तर्वेदी के ऊपरी भाग मे गया।—(हिन्दू-सभ्यता, पृ० १५२)।

आर्य मध्य-एशिया अथवा किसी अन्य देश से भारतवर्ष मे आये है, यह तर्क हास्यास्पद है। जिन आर्यों ने सप्तसिन्धु से बाहर के निवासियो का अत्यन्त घृणापर्वक म्लेच्छ घोषित किया है, कहा है कि वे स्वय म्लेच्छ-देशो से आये है, यह घोषणा युक्तिसगत नही है। लार्ड एलफिन्स्टन आज से एक सौ वर्ष पूर्व अपने '**भारत के इतिहास**' प्रथम भाग, पृ० ६५ मे लिखते है

यह कथन कि हिन्दुओ की उत्पत्ति विदेशो से है तथ्यहीन है, क्योकि न तो स्मृति-ग्रन्थो मे, और मेरा विश्वास है कि न वेदो मे और न किसी अन्य ग्रन्थ मे, जो स्मृति-ग्रन्थो एव वेद-वाड्मय की अपेक्षा अधिक प्राचीन हो, उनके मूलस्थान के सम्बन्ध मे भारतवर्ष से बाहर अन्य किसी देश की ओर कोई सकेत है। हिमालय की पर्वतमाला के अतिरिक्त जिसको उन्होने देवताओ का निवास-स्थान बताया है, और अधिक आगे पुराणो की कोई कथा नही पहुँचती।

आर्यावर्त्त के सम्बन्ध में अनेक प्रतिकूल मतो के बावजूद, अधिकाश पाश्चात्य विद्वानो ने अपनी निष्पक्ष सम्मति देकर उसकी प्राचीनता भी स्वीकार की है।

आर्यावर्त्त के आर्य-रक्त से यूरोपियन जातियाँ कितनी प्रभावित है उसके समर्थन मे एक फ्रासिसी विद्वान् एम० लुई जँकोलियट '**बाइबिल इन इडिया**' मे लिखते है

भारत विश्व का आदि देश है, वह सबकी जननी है। भारत आपको मनुष्य जाति की जननी और हमारी समस्त परम्पराओ का जन्मस्थान विदित होगा। उस प्राचीन देश के विषय मे, जो गोरे लोगो का जन्म-स्थान है। हमको वास्तविक तथ्यो का परिचय मिलने लग गया। इस सार्वभौमिक जननी ने अपनी संतति को पश्चिम के अतिम छोर तक भेजकर हमारी उत्पत्ति से सम्बन्धित अकाट्य प्रमाणो द्वारा, हम लोगो को अपनी भाषा, अपना नीति-शास्त्र, आचरण साहित्य और धर्म प्रदान किया है। अपनी उष्ण-जन्म-भूमि से दूर, फारस, अरब, मिश्र की यात्रा करते हुये, शीतप्रधान और मेघावृत उत्तरी देशो की ओर भी अपना मार्ग पशस्त करते हुये, वे लोग भले ही अपना मूल स्थान भूल गये हो, हिमाच्छादित प्रदेशो के हिम से, उनका शरीर-चर्म, सफेद या भूरा ही क्यो न हो गया हो, परन्तु जैसे वास्तविक तथ्यो को प्रमाणित करने के लिये साक्षी की आवश्यकता नही होती, उसी प्रकार भाषा-विज्ञान मानता है कि भाषा-शब्दो के प्राचीन रूपो का उत्पत्ति-स्थान पूर्व ही है। हम भारत के शब्द-शास्त्रियो के समक्ष उनके परिश्रम के लिये आभारी है क्योकि हमारे वर्तमान भाषा शब्दो के मूल और उनकी धातुओ का पता वहाँ मिलता है। मिश्री, हिब्रू, ग्रीक और रोमन कानूनो पर मनु का प्रभाव स्पष्ट है।

'**इडिया इन ग्रीस**' (पृ० २६) मे श्री पोकाक कहते है —मानव-जाति का वह शक्तिशाली अभियान, जिसने पजाब की अनुल्लघनीय दीवारो को पार किया, विश्व की नैतिकता की वृद्धि मे अपने लोककल्याणकारी उद्देश्य की पूर्ति के लिये यूरोप और एशिया की ओर अपने निश्चित राजपथो से होकर बढता गया, पश्चिमोत्तर मे सिन्धु को पार कर जो उत्पीडित मानव समुदाय आया वह विज्ञान और कला के बीजो को भी साथ लेता गया। ब्राह्मण और बौद्धधर्म से आज भी एशिया का वृहत्तर भाग प्रभावित है। ब्राह्मणधर्म और बौद्धधर्म के दीर्घकालीन सघर्षो मे पराजित बौद्धधर्म अपने उत्पीडको से दूर बैक्ट्रिया, फारस माइनर, यूनान, फैनिशिया और ग्रेट-ब्रिटेन को चला गया और अपने प्राचीन ऋषि-पूर्वजो की श्रद्धा, आश्चर्यजनक व्यवसायकुशलता एव ज्योतिष और तत्र-मत्र-विद्याओ की असाधारण क्षमता भी साथ लेता गया।

'**नेशन्स ऑफ ऐंटिक्वेटी**' के लेखक कुक टेलर '**दि स्टुडेन्ट मैन्युअल ऑफ ऐन्शियेन्ट हिस्ट्री**' मे लिखते है

ऐसा अनुमान किया जाता है कि मिश्री सम्यता को हिन्दुओ से प्रेरणा

मिली होगी, क्योकि इन दोनो जातियो द्वारा स्थापित सस्थाओ मे असदिग्ध रूप से अनेक समानताएँ हैं। सिन्धु नदी से लेकर अफ्रिका के अतिम छोर तक, जहाँ आर्य लोग नील नदी तथा मिश्री सीमा के दक्षिणी छोर तक पहुँच चुके थे, उनके द्वारा छोटे-छोटे उपनिवेशो की स्थापना के पुष्ट प्रमाण मिलते है। वर्ण व्यवस्था इस जाति मे और हिन्दुओ मे एक-सी है। श्री थोर्टन भी भारत के इतिहास मे स्वीकार करते है कि —नील नदी की घाटी मे पिरामिडो के निर्माण मे अल्प काल ही हुआ था, आधुनिक सभ्यता की जन्म-भूमि यूनान और इटली जब अर्धसभ्यो का ही निवास-स्थान था, तब भारत समृद्धिशाली और गौरवपूर्ण हो चुका था।

१९०७ मे जर्मन-विद्वान ह्यविकेल्पर को तुर्की के वोगजकोई गाँव मे मिट्टी की पट्टियो पर खुदे हुये मितन्नी राजवश के कुछ मधिपत्र प्राप्त हुये है जो ईसवी पूर्व १४वी शताब्दी के है। उनमे मित्तर, वरुण, इन्दर एव नासत्य आदि ऋग्वैदिक देवताओ का आवाहन किया गया है। इन पट्टियो मे फिलस्तीन के राजाओ का नाम सुबन्ध, ऋतोत्तम, मातृवान तथा मितन्नी के राजा का नाम दशरथ लिखा है। मिश्र के साथ इस राजवश के वैवाहिक सबन्धो के कारण उस युग में मिश्र के इतिहास मे भी दशरथ आदि उक्त राजाओ का ऐतिहासिक अस्तित्व प्रमाणित है। इससे स्पष्ट है कि आज से साढे तीन हजार वर्ष पूर्व सुदूर एशिया माइनर तक के अनेक देश ईरान, मेसोपोटामिया, अरब, फिलिस्तीन, मिश्र और टर्की भारतीय सस्कृति से प्रभावित थे।

अमेरिका मे आर्य-उपनिवेशो के समर्थन मे श्री कोलमन '**हिन्दू मैथोलाजी**' (पृ० ३५०) मे लिखते है —जर्मन के प्रसिद्ध यात्री और वैज्ञानिक बैरन हम्बोल्ड हिन्दू सभ्यता के अवशेषो के अस्तित्व का उल्लेख जो अमेरिका मे आज भी विद्यमान है, करते है। मैक्सिको के निवासी ऐसे देवता का पूजन करते थे, जिसका धड मनुष्य का और सिर हाथी का था। बैरन हैम्बोल्ट के कथनानुसार स्पष्टत वह हिन्दुओ का 'गणेश' है। '**मैनुअल ऑव हिस्टोरिकल डेवलपमेंट ऑव आर्ट**' मे डॉ० जर्फी, अमेरिका के प्राचीन-भवन-समूहो मे कई आश्चर्य-जनक मन्दिरो, दुर्गों, पुलो और नहरो का उल्लेख करते है, जो आर्यों द्वारा निर्मित है। '**एशियाटिक रिसर्चेज**' प्रथम भाग (पृष्ठ ४२६) मे सर विलियम जान्स भी लिखते है कि—राम को सीता का पति और सूर्यवंशी बताया गया है। यह बात अत्यन्त आश्चर्यजनक है कि पेरू-प्रदेश के लोग अपनी उत्पत्ति 'रामसित्व' से बताकर गर्व अनुभव करते है और राम-सीता के नाम से उत्सव मनाते है। इससे हमारा अनुमान है कि दक्षिण अमेरिका को आर्य-जाति ने ही बसाया था,

जो सुदूर एशिया से चलकर यहाँ, राम का जीवन-इतिहास तथा रीति-रस्म अपने साथ लेती आयो थी।

इस प्रकार इस ससार मे ऐसी कोई जाति नही है, जो धर्म एव सभ्यता की प्राचीनता के सम्बन्ध मे हिन्दुओं की बराबरी कर सके

मौर्टन साहब अपने **'भारत के इतिहास'** मे लिखते है

जब नील नदी के क्षेत्र मिश्र मे पिरामिडो को बने हुए थोडा ही समय व्यतीत हुआ था, और यूनान और इटली मे जो आधुनिक सभ्यता के आगार माने जाते हैं, अर्द्धसभ्य लोग रहते थे, उस समय भारतवर्ष सर्व सम्पन्न और सभ्यता के पूर्ण शिखर पर आसीन हो चुका था।

श्रीमती बिसेंट **'ऑन इडिया ऐन्ड इट्स मिशन'** मे लिखती है—यूनान या रोम से भारत अधिक प्राचीन है। यह भारत उस समय भी प्राचीन था जब मिश्र का जन्म हुआ था। यह भारत उस समय भी प्राचीन था, जब चाल्डिया की उत्पत्ति हुई थी। इस भारत का इतिहास जब सहस्रो शताब्दियो तक पहुँच चुका था, तब फारस ने कार्य क्षेत्र मे पदार्पण किया था।

अमेरिकन भूगर्भशास्त्री डॉ० डान **'डानाज मैन्युअल ऑफ ज्यालोजी'** (पृ० ५८५) मे दक्षिण-पश्चिम एशिया मे ही सर्व प्रथम मानव-जीवन का आविर्भाव बतलाते है। अन्य वैज्ञानिको का भी अनुमान है कि पृथ्वी पर एशिया या जम्बूद्वीप सबसे प्राचीन महाद्वीप है, जिस पर जीवन की सृष्टि का आरम्भ हुआ है (हिन्दी विश्व-भारती, पृ० १५८)। अधिकतर विद्वानो का मत है कि मनुष्य सबसे पहले एशिया मे ही उत्पन्न हुआ है। सर वाल्टर रेले **'हिस्ट्री ऑव दि वर्ल्ड'** मे लिखते है कि जल-प्रलय के अनन्तर भारतवर्ष मे ही मनुष्य और वृक्ष लताओ की उत्पत्ति हुई, क्योकि पुरातत्त्वविदो के कथनानुसार मानवो से पूर्व वनस्पति की उत्पत्ति निश्चित है और हलके तापक्रम वाले देश मे, उसकी सर्व-प्रथम सृष्टि सम्भव है। मेडलीकट और ब्लम्फर्ड ने **'मैन्युअल ऑव ज्योलोजी ऑफ इडिया'** मे लिखा है कि भारत-भूमि मे ही प्राचीन काल मे समशीतोष्ण तापक्रम के चिन्ह मिलते है। अत यहाँ सर्व प्रथम जीवन-शक्ति के आरम्भ की पुष्टि होती है। टाड साहब **'टॉड्स राजस्थान'** मे लिखते है कि आर्यावर्त्त के अतिरिक्त अन्य किसी देश मे सृष्टि के आरम्भ का अनुमान नही किया जाता। आदि सृष्टि यही हुई, इसमे सन्देह नही।

इस प्रकार विभिन्न इतिहासकार विद्वानो के मतो का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि आदि मानव का मूल स्थान आर्यावर्त्त था और वहीं से उसने विश्व के अन्य छोरो मे फैल कर अपनी सभ्यता और सस्कृति का विकास किया।

● ●

सप्तसिन्धु मानव का मूल स्थान

इस प्रकार भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरो के बावजूद, अनेक भारतीय और विदेशी इतिहासकार आर्यावर्त्त को ही विश्व की समस्त आर्य-जाति का मूल स्थान प्रतिपादित करते है । परन्तु आर्यावर्त्त मे आर्यो का आदि देश, सप्तसिन्धु किस भाग मे था, यह विवादास्पद है । अनेक इतिहासकारो ने पाँच नदियो के देश पजाब मे, एक नदी का नाम, ऋग्वेद मे वर्णित 'सिन्धु' होने के कारण, अनेक प्रतिकूल तथ्यो के बावजूद पजाब को ही सप्तसिन्धु घोषित किया है । श्री अविनाशचन्द्र दास, श्री नारायण पावगी और डॉ० सम्पूर्णानन्द ने भी विविध समाधानो द्वारा, पजाब का ही प्रतिपादन किया है । किन्तु ऋग्वैदिक सप्तसिन्धु के साथ पजाब की कहाँ तक, सामाजिक, धार्मिक एव भौगौलिक वास्तविकता है, पजाब के अतिरिक्त आर्यावर्त्त के किसी अन्य भू-भाग मे ऋग्वैदिक आर्यो एव उनके सप्तसिन्धु की तथ्यपूर्ण भौगोलिक वास्तविकता प्रमाणित हो सकती है या नही, इस पर अभी तक, कोई तर्कसगत निष्कर्ष एव तथ्यपूर्ण खोज नही की गयी है ।

कुछ इतिहासकार मध्य-हिमालय, तिब्बत, कैलास-मानसरोवर के क्षेत्र को भी आर्यों का मूलस्थान मानते है । किन्तु इस अलघ्य पर्वत-प्रदेश की भौगोलिक एव ऐतिहासिक स्थिति मे पूर्ण परिचित न होने के कारण, उनकी स्थापनाएँ अपरिचित एव अस्पष्ट ही रह कर लोक-सम्मत नही हो सकी है । स्वा० दयानद, प्रो० बेनफे, प्रो० बेबर, श्री अटकिन्सन, अल्बेरूनी, श्री भगवद्दत्त, श्री जयचन्द्र विद्यालकार और श्री रामदास गौड के उपर्युक्त कथनो से जो ध्वनि निकलती है, उसके अनुसार आर्यों का आदि-देश पजाब नही वरन् मध्य हिमालय मे, गगा-सरस्वती के आसपास, कैलास-मानसरोवर का क्षेत्र है । भौगोलिक तथ्यो के अनुसार उसी का प्राचीन नाम हिमवन्त, स्वर्ग, ब्रह्मावर्त्त कुरु, कैलास एव केदारखंड तथा वर्तमान नाम गढवाल है । इसी को अनेक महत्वपूर्ण नदियो का उद्गम एव सधिस्थल होने के कारण सप्तसिन्धु भी कहा गया है ।

वेदो के प्रकाड पडित स्वा० दयानन्द, श्री अटकिन्सन, श्री जयचन्द्र विद्यालकार आदि विद्वानो ने, मध्य-हिमालय मे कैलास तक पहुँच कर उक्त क्षेत्र का स्वय निरीक्षण भी किया है । अत वहाँ की आँखो देखी वस्तुस्थिति और

ऋग्वेद मे वर्णित भौगोलिक तथ्यो के आधार पर, उनका अनुमान अधिक बुद्धिगम्य और वास्तविकता के निकट है।

हाल ही मे श्री हरिराम धस्माना जी ने, जो ऋग्वेद के प्रकाण्ड पंडित हैं। अनेक ऋग्वैदिक उद्धरणो द्वारा, आर्यों के आदि देश के सम्बन्ध मे एक नया रहस्योद्घाटन किया है। उनके कथनानुसार गढवाल की अलकनन्दा ही ऋग्वैदिक सिन्धु है, जिसमे सप्तसिन्धु (गढ़वाल की सप्त सरिताएँ सरस्वती, धौली, मदागिनी, पिंडर, मदाकिनी, नयार) संधि करती है, तथा ऋग्वेद मे वर्णित अन्य ६० एव ६६ नदियाँ एवं नदी-नाले भी मिलते है। उनके निष्कर्ष भी अधिक तर्कसगत और विचारणीय हैं।

केप्टेन सूरजसिंह ने भी (अमृतबाजार पत्रिका, मई १६५८ के दो-तीन अको मे) अनेक भौगोलिक एवं ऐतिहासिक वास्तविकताओ के आधार पर, कई भू-गर्भ-विशेषज्ञो, पुरातत्त्वान्वेषियो एव इतिहासकारो के तर्कसगत प्रमाण प्रस्तुत करके गढवाल को ही आर्यों का मूलस्थान प्रमाणित किया है।

अमेरिकन विद्वान् डेविस ने अपने **'हार्मोनिया'** नामक ग्रन्थ (पृ० ३१८) मे विश्व मे हिमालय को सर्वोच्च पर्वत-शिखर बतला कर उसको ही आदि सृष्टि का उत्पत्तिस्थान घोषित किया है। सृष्टि के आरम्भ मे भौगोलिक विप्लवो के कारण जब समुद्र-गर्भ से तरल पदार्थों के बाहर निकलने से सृष्टि का आविर्भाव हुआ तो संसार का सर्वोच्च शैल-शिखर हिमालय ही सर्व प्रथम प्रकट हुआ होगा और उसी पर सर्व प्रथम वनस्पति, चर और अचर की उत्पत्ति भी निश्चित है।

यो तो आर्यावर्त्त के उत्तर मे फैला हुआ हिमालय पर्वत हिम का आलय है, परन्तु मध्य हिमालय का गढवाल-क्षेत्र जितने ऊँचे और जितने अधिक हिम-शिखरो से आच्छादित है, उतना हिमालय का कोई अन्य पर्वतीय प्रदेश नही। हिमालय-पर्यटक सर जौन स्ट्रैची के कथनानुसार 'गढवाल के हिम-शिखरो मे केवल दो ही हिमशिखर (कामेट और नदादेवी) पच्चीस हजार से अधिक ऊँचे है, परन्तु गढवाल कुमाऊँ के हिमालय-पर्वतो की ऊँचाई का अनुपात सबसे अधिक है। बीस मोल तक लगातार इसके कितने ही हिम-शिखर बाईस हजार मे पच्चीस हजार फुट तक ऊँचे है।' अत यह निर्विवाद है कि जब हिमालय समुद्र-गर्भ से बाहर प्रकाशित हुआ तो हिमालय क्षेत्रान्तर्गत गढवाल के सबसे ऊँचे और सबसे अधिक पर्वत-शिखर ही सर्व प्रथम दृष्टिगोचर हुए और उसके पश्चात् यही मनुष्य, वृक्ष और वनस्पति की उत्पत्ति हुई।

भू-वैज्ञानिको के मतानुसार समशीतोष्ण जलवायु मे ही सर्व प्रथम जीव-जन्तु और वनस्पति उत्पन्न हुई है। गढवाल मे जहाँ १००० फुट से नीचे अलकनन्दा उपत्यका के अन्तर्गत लछमनझूला आदि कुछ स्थानो की जलवायु रेगिस्तान

की भाँति अत्यधिक ऊष्ण है, वहाँ ११-१२ हजार फुट ऊँचे कुछ पर्वत-प्रदेशो मे ध्रुवकक्षीय जलवायु भी है, परन्तु इसके अधिकाश भू-भागो मे समशीतोष्ण जलवायु पायी जाती है, जो वनस्पति और जीवजन्तु की उत्पत्ति के लिये सर्वथा उपयुक्त है। गढवाल के वन बाँज, बाँस और देवदारु के वृक्षो से भरे हुए है।

भू-गर्भशास्त्रियो का मत है कि आज से लगभग पच्चीस हजार वर्ष पूर्व गढ़वाल के दक्षिण और विन्ध्य-पर्वत माला के ऊपर तराई भावर मे समुद्र लहरा रहा था। आज भी उसकी भौगोलिक स्थिति इसका स्पष्ट प्रमाण है। यह समुद्र अरबसागर से मिलकर, राजस्थान से उत्तर प्रदेश **तथा बिहार** से होता हुआ आसाम तक चला गया था। इसका अर्थ यह है कि उस समय भी तराई भावर से ऊपर समस्त पर्वत-प्रदेश समुद्र-गर्भ से ऊपर था।

'केदारखड' (११५।२-४) मे लिखा है कि हरिद्वार-क्षेत्र मे गगा के पश्चिम तट पर कुशावर्त के नीचे सप्त सामुद्रिक नामक पवित्र तीर्थ है। प्राचीन काल मे इस स्थान पर सात समुद्रो ने मिलकर शिव की आराधना की थी। **'केदारखड'** मे दो स्थानो पर सप्त सामुद्रिक नामक तीर्थ के उल्लेख मे यह प्रमाणित होता है कि प्राचीन काल मे यहाँ तक समुद्र था।

तराई भावर से ऊपर गढवाल के दक्षिण शिवालिक (सपादलक्ष) के पर्वत-गर्तों मे जो सत्ताईस हजार किस्म के शिवे पिथेक्स और पेलिओ पिथेक्स नामक मनुष्यवत् बन्दरो के प्राचीन अस्थि-पिंजर प्राप्त हुये है, वे पुरातत्त्वान्वेषियो के निष्कर्षानुसार आदि-मानव से सम्बन्धित है। वे आदि मनुष्य की उत्पत्ति के आदि अवशेष है। इनमे विशालकाय जन्तुओ के शेषाशो की अधिकता है। इस क्षेत्र मे प्राप्त ६४ प्रकार के स्तनधारी जन्तुओ मे से २५ जन्तुओ का अब भौतिक अस्तित्व ही समाप्त हो गया है। ११ प्रकार के हाथियो मे से अब केवल एक ही वर्ग का हाथी उपलब्ध है। जगली भैसो के छ वर्गों मे मे अब दुनियाँ मे केवल दो ही किस्मे मिलती है।

भू-गर्भशास्त्री लैम्पवर्थ लिखते है कि शिवालिक-गर्तो मे तृतीय कालीन युग के तृतीय श्रेणी की चट्टाने है, जिनकी रचना नदियो से है हुई। हिमालय से आने वाली नदियो ने वहाँ से उन्हे यहाँ तक लाकर एकत्र किया है। शिवालिक के इन्ही पर्वत-गर्तों मे भारत सरकार द्वारा नियुक्त श्री मेडलीकट, ब्लम्फर्ड और लैम्पवर्थ आदि भू-गर्भ विशेषज्ञो को विश्व मे मानव-जीवन के सबसे प्राचीन अवशेष प्राप्त हुये है। उनके मतानुसार पजाब के पूर्वी छोर कुमाऊँ के उत्तर मे जीवन के अत्यन्त प्राचीन चिह्न पर्याप्त परिमाण मे मिले है (**मैन्युअल ऑफ इण्डियन ज्योलोजी**, पृ० २५)।

भू-गर्भ-विशारदों का अनुमान है कि तिब्बत की ओर हिमालय पर्वत मे ऐसे पत्थर मिलते है, जो पहले वनस्पति और जीव-जन्तु थे। लद्दाख और कश्मीर के बीच की जास्कर पर्वत श्रेणी मे भी इस प्रकार के एक जीव नुम्मीलाइट का पता लगा है, जो किसी समय समुद्र मे रहता था। इस विचारधारा के अनुसार हिन्दूकुश, अराकान की पहाडियाँ, नगा पहाडी और हिमालय का एक बडा भाग, जिसमे शिवालिक पहाडियाँ भी है, बाद मे बना। लेकिन इस विचारधारा के अनुसार भी हिमालय का एक भाग सबसे पुराना है, जिसके बारे मे आज तक पता नहीं लग सका है कि वह किस युग में बना था। वह भाग है गगा के स्रोत से लेकर गढवाल तक का इलाका, जहाँ के पत्थरो में इस बात का कोई पता नही लगता कि वहाँ पर कोई समुद्री जीव रहता था। गढ़वाल से लेकर दार्जिलिंग तक ऐसी पर्वत श्रेणी भी मिलती हैं, जो प्राचीन गोडवाना पर्वत श्रेणी से मेल खाती है।

अवर प्रवालादियुग जिन छ युगो मे विभक्त किया गया है, उससे दूसरे प्राचीनतम युग को अवर प्रवालादियुग (ओडेवीशियन पीरियड) कहते है। भारत-वर्ष मे इस युग के स्तर—केवल हिमालय के कुछ ही स्थानो मे, कुमाऊ, गढवाल और नेपाल मे ही मिलते है (**हिन्दी विश्वकोश**, पृ० १६६)।

भारतवष के नूतन युग (सीनोजोइक इरा) आज से बीस लाख वर्ष पूर्व भारत, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिका का प्रथक्करण है। मध्यकल्प (मेसोजोइक इरा) छ करोड पचास लाख वर्ष पूर्व तक ये सारे देश एक-दूसरे से जुडे हुये थे, परन्तु जिस समय हिमालय का उत्थान आरम्भ हुआ उसी समय भू-गतियो ने इन देशो को एक-दूसरे से पृथक् कर दिया, जिनकी अवधि भी भू-वैज्ञानिको के मतानुसार साठ लाख वर्ष से अधिक है। उच्च शिवालिक तत्र के टेट्राट और पिंजर नामक भाग अतिनूतन के अधिकाश भाग के समकालिक है। हरिद्वार के समीप प्रसिद्ध शिवालिक पर्वत-माला के ही आधार पर इस तत्र का नाम शिवालिक तत्र पडा है। अतिनूतन युग के शैल सिन्धु, बिलोचिस्तान, पजाब, कुमाऊँ तथा आसाम के हिमालय की पाद मालाओ मे पाये जाते है।

इस युग के शैलो मे पृष्टवशियो, विशेषत स्तनधारियो के जीवाश प्रचुरता से मिलते है। यही कारण है कि वे समस्त विश्व मे प्रसिद्ध हो गये हैं। इस युग मे बसने वाले जीव उन जगलो मे रहते थे, जो नव-निर्मित हिमालय की बाहरी ढालों मे थे। उनकी खोपडियाँ और जबडे नीचे बह कर आने वाली नदियो द्वारा बहा लाये गये और अन्ततोगत्वा अति शीघ्र सचित होने वाले अवसादो मे समाधिस्थ हो गये (**हिन्दी विश्वकोश**, पृ० ९२)।

भू-गर्भ-शास्त्रियो के साक्ष्यो के आधार पर श्री विश्वेश्वरनाथ रेउ* यह स्वीकार करते है कि पृथ्वी पर मध्य और उत्तरी हिमालय का निर्माण मनुष्य के जन्म से पहले हो चुका था। हिमालय के जन्म के समय पृथ्वी बड़े-बड़े भू-कम्प के कारण डगमगा गयी थी। मध्य हिमालय के उत्थान के समय उसकी दक्षिणी उपत्यका मे एक गहरा गर्त बन गया था। वह गर्त या समुद्र एक लम्बे काल तक बना रहा। उसमे उस समय के जीव-जन्तुओ के अवशेष भी, जो हिमालय की नदियो द्वारा बहाकर लाये गये थे, दब गये। उसके बाद कालान्तर मे वही आस-पास मे फिर भूकम्प आया और शिवालिक पर्वत माला का उद्गम हुआ। उसके पास समुद्र का दूसरा गड्ढा बन गया और उसके भरने मे उत्तरी भारत का मैदान बना। परन्तु रेउ जी जलप्लावन के समय जब कश्मीर के उत्तर में स्थित हिमालय के किसी शिखर पर मनु की नौका-बन्धन का उल्लेख करते हैं उस समय उनका भी ज्ञान-ध्यान मध्य हिमालय की वस्तुस्थिति के सर्वथा विपरीत सप्तसिन्धु की स्थापना के लिए अन्य इतिहासकारो की भाँति इधर-उधर न जाकर पंचनद (पजाब) पर ही केन्द्रित रह जाता है और वे भी सप्तस्वषामु ज्येष्ठा सरस्वती की भी कही-कही कल्पना कर लेते है। ऋग्वेद (७।३६।६) के अनुसार सिन्धु मे सात नदियाँ सधि करती है और उनमे सब मे जेष्ठ, शीर्ष स्थान पर—सातवी सरस्वती है। पाँच नदियो का देश पजाब यदि आर्यों का सप्तसिन्धु भी है तो वहाँ सप्तसिन्धु मे सरस्वती को भी सधि करनी चाहिए। परन्तु इस क्षेत्र मे जिस सरस्वती की कल्पना की गयी है, उसका कही भी सिन्धु नदी के साथ कोई सम्बन्ध नही होना। वस्तुत पचनद (पजाब) मे सप्त सिन्धुओ और आर्यों की पुण्यतोया सरस्वती का भौगोलिक अस्तित्व कोरी कल्पनामात्र है।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय के अनुसार हिमालय की इसी पादमाला (तलहटी) मे सर्व प्रथम मानव-सृष्टि हुई। निराकार निर्गुण का साकार रूप मे सर्व प्रथम यही आविर्भाव हुआ। हरिद्वार मे कलालघाटी होकर कण्वाश्रम तक समुद्र-तट पर स्वायभुव (आदि मनु) से, जिसे 'बाइबल' और 'कुरान' मे बाबा आदम कहा गया है, आर्यों की आदि सभ्यता का प्रारम्भ हुआ है।

डबराल जी 'उत्तराखण्ड का इतिहास' (पृ० ५४ ६०) में लिखते है—उत्तराखड में प्राप्त ताम्रयुगीन और प्रस्तरकालीन अवशेष उसके इतिहास को प्रागैतिहासिक काल तक ले जाते है (पृ० १७)। भारत में पाषाण-काल का आरम्भ लगभग छः लाख वर्ष पूर्व हो चुका था। यह इतनी लम्बी अवधि है कि इसके विस्तार का अनुमान लगाना भी दुष्कर है ।

*ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि, पृ० ७४, ७५।

उत्तराखंड के दक्षिणी भागो मे हरिद्वार, ऋषिकेश, लछमनभूला तक का प्रदेश जो प्राचीनकाल मे 'गगाद्वार क्षेत्र' कहलाता था, अत्यन्त प्राचीनकाल से मानव की क्रीडा-भूमि रहा है। १९५१ ई० मे यहाँ हरिद्वार से ८ मील पश्चिम की ओर बहादराबाद नामक स्थान पर गंगा जी की नहर की उपशाखा खोदते समय मजदूरो को ताम्रयुगीन बस्ती के अवशेष मिले थे।

इसी क्षेत्र में २३ फीट नीचे १९५३ ई० मे डॉ० यज्ञदत्त शर्मा ने प्रस्तरयुगीन बस्ती का भी पता लगाया था। तेईस फीट नीचे दबी हुई गगाद्वार सस्कृति आज से कम-से-कम चार सहस्र छ सौ वर्ष पूर्व की मानी जा सकती है।

बहादराबाद उस क्षेत्र के अन्तर्गत है, जहाँ गगा जी पर्वत मे मैदान मे उतरती हैं। यहाँ गगा जी का वेग तीव्र है और वह समय-समय पर अपने तटो पर एकत्र मिट्टी-परतो को बढाती या बहाती रहती है। एक बरसाती नाला भी उस क्षेत्र से होकर बहता था, जिसके नीचे उपरोक्त उपकरण मिले है। निश्चय ही गंगाद्वार-सस्कृति का प्रसार उत्तराखंड के दक्षिणी भागो मे और गगा के मैदान के उत्तरी भागो मे दूर तक रहा होगा। कनखल से लछमनभूला तक फैले गगद्वार क्षेत्र मे गगा जी को पार करना अपेक्षाकृत सरल है। उस युग मे जब मनुष्य सम्भवत बाँस के बजडे या खालो की मशक आदि से नदियाँ पार करता था, इस क्षेत्र की स्थिति महत्वपूर्ण थी। गगा जी के सारे मैदान मे कही उपकरण बनाने के लिए पाषाण उपलब्ध नही है, इसलिए उस युग मे गगा जी के मैदान की बस्तियो को अवश्य गंगाद्वार जैसे क्षेत्रो से, जहाँ उपकरण के लिए शिलाएँ उपलब्ध थी, उपकरण मँगाने पडे होगे।

बहादराबाद मे नहर खोदते समय मजदूरो को वहाँ ताम्बे की अनेक रोचक वस्तुएँ प्राप्त हुई थी, जिनमे बेंट या बिना बेंट वाले भाले, कुल्हाडियाँ, तलवारें, भालो की कुन्देवाली नोक आदि मुख्य थी। यहाँ ताम्बे के कुछ कडे और कुछ चित्राकन भी मिले थे। गगा जी के तट से होकर वालावली से लछमनभूले तक चलते समय कुछ स्थानो पर गगातट से सटे, कई फीट ऊँचे टीले मिलते हैं, जिन्हे गंगा जी ने बीच से काट डाला है। ऐसे स्थानो पर अन्वेषणकर्त्ताओं को विभिन्न युगो के मृतिकापात्र, मुद्राएँ, उपकरण और अन्य महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हो सकती है।

हिमालय का वर्तमान स्वरूप उस हिमालय से सर्वथा भिन्न है, जो पहिली बार समुद्र-गर्भ से ऊपर निकला था। उसमें उस समय इतने ऊँचे-नीचे अलघ्य गिरि-गह्वर, इतनी गहरी घाटियाँ एवं इतने नदी-नाले, जो कालान्तर में वर्षा-पानी से क्रमश कट-कट कर बनते चले गये है, नही थे। समुद्र से बाहर निकलने के लाखों बरस तक हिमालय का यह क्षेत्र भूकम्पो एवं अनेक भौतिक विप्लवो का

केन्द्रस्थल रहा है। ऋग्वेद मे कई स्थानो पर इसके पर्वतो के हिलने-डुलने का उल्लेख है। वनस्पति, जीव और मानव-विकास के साथ समुद्र-तट पर, हिमालय की तलहटी मे प्रथम आर्य-नरेश धर्म के प्रथम संस्थापक स्वायम्भुव, मनु का, जिन्हे आदि मनु (बाबा आदम) भी कहते है, आविर्भाव हुआ। उनकी कई पीढियो के बाद—छ मन्वन्तरो के बीच, इस प्रकार के छ बडे-बडे भौतिक विप्लव हुये, जिनमे मालूम होता है निन्नानवे प्रतिशत जन और धन की क्षति होती रही है। प्रकृति की इस विनाशकारी लीला मे यहाँ का सृष्टिक्रम अत्यन्त अस्त-व्यस्त और अस्पष्ट होता रहा है। आर्य-मनीषियो ने सृष्टि की कालगणना करते समय इस अनिश्चित युग को १७२८००० वर्ष का सधिकाल कहा है। परन्तु मालूम होता है कि इन भौतिक विप्लवो मे सब कुछ नष्ट होते हुए भी सृष्टि की इन विनाशकारी लीलाओ को बतलाने के लिये सृष्टि-क्रम-सूचक कुछ विशिष्ट जन जीवित भी रहे है।

आर्यग्रथो मे दक्ष प्रजापति को ब्रह्मा की अमैथुनी सृष्टि से उत्पन्न कहा गया है। वे ब्रह्मा के दाहिने अँगूठे से और उनकी पत्नी बाये अँगूठे से उत्पन्न हुई थी। इनकी कन्याओ से अनेक प्रकार के जीव-जन्तु तथा देवता-मनुष्य उत्पन्न हुए (महा०-शान्ति, १६६, १७)। इनकी पुत्री अदिति से आदित्य, दिति से दैत्य, दनु से दानव, कद्रु से नाग उत्पन्न हुए। इन्होने सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ किया और गगाद्वार भी (जहाँ इनकी राजधानी थी) इनके आवाहन पर सरस्वती (अलकनन्दा जो उस युग मे सरस्वती भी कहलाती थी) वहाँ आयी (महा०-शल्य पर्व, ३८)। कनखल मे शिवजी द्वारा इनका यज्ञ विध्वस हुआ। इनकी अन्तिम दस कन्याएँ मनु को ब्याही थी। वैवस्वत मनु के राजा वेणु हुए, जिनकी राजधानी भी हरिद्वार मे ही थी। कनिंघम के अनुसार (ए० ज्यो०, पृ० २६५ से २६७) आज से डेढ सौ वष पूर्व तक—गगानहर के तट पर राजा वेन के दुर्ग के अवशेष सुरक्षित थे, जो ७५० फीट लम्बी और इतनी ही चौडी भूमि पर फैला हुआ था। इस क्षेत्र मे अनेक ऊँचे टीलो के रूप मे अनेक प्राचीन महत्वपूर्ण ऐतिहासिक अवशेष मिलते है। राजा वेन के बाद उनके पुत्र पृथु राजा हुए, जो आर्य साहित्य मे, अपनी आदर्श शासन-पद्धति के कारण प्रथम आर्यनरेश कहलाते है। इस प्रकार गगाद्वार का यह क्षेत्र आर्यजाति का पितृदेश होने के कारण आर्य साहित्य मे उसका आज तक आध्यात्मिक महत्व स्पष्ट है।

सप्तम मन्वन्तर वैवस्वत मनु के शासनकाल में जो जल-प्रलय घटित हुआ, वह इन पूर्व घटित हुए प्रलयो से अधिक विनाशकारी नहीं था, फिर भी उससे उस समय हिमालय के अनेक पर्वत-शिखर, जिनकी ऊँचाई आज सात-आठ हजार फीट है, अधिकाश जलमग्न हो गये थे। जल-प्लावन के अवतरण पर विशेष भौतिक

विप्लव के कारण तराई भावर का समुद्र सूख गया। कालान्तर में तराई भावर के समुद्र की उस खाई को हिमालय से आने वाली नदियो ने अपनी मिट्टी से पाट कर उसको विन्ध्याचल से मिला दिया। आज वह गगा का मैदान कहलाती है।

सप्तम जलप्लावन को प्रारम्भिक तराई भावर के समुद्र से ऊपर, हरिद्वार से लेकर मानसरोवर पर्यन्त, इस सारे पर्वत-प्रदेश को ऋग्वैदिक आर्य सप्तसिन्धुओ का देश, सप्तसिन्धु कहते थे। क्योकि व्यासघाट से ऊपर उनकी परम पूज्य एवं सबसे बडी नदी अलकनन्दा मे, जिसको सोना निकलने के कारण वे हिरण्यवती भी कहते थे—सातो देवनदियाँ—जिनके सन्धि स्थल पर आर्य-ऋषियो द्वारा पाँच तीर्थ, पाँच प्रयाग स्थापित है, सन्धि करती हैं। इसीलिये ऋग्वैदिक पचजनो ने इसको सिन्धु और उस सारे पर्वत-प्रदेश को जहाँ सप्त सरिताएँ प्रवाहित होती हैं, सप्तसिन्धु कहा है। सप्तम मनु वैवस्वत के जीवन-काल मे जलप्लावन के समय दक्षिण-गिरि-प्रदेश के जलमग्न होने पर जब मनु अपनी शेष प्रजा सहित उत्तर-गिरि प्रदेश मे सरस्वती के तट पर जा बसे तो—प्रलय-जल से जो उन्नत भूमि भाग ऊपर रह गया था, उसका नाम 'ब्रह्मावर्त्त' पडा। दस-ग्यारह हजार फुट से अधिक ऊँचे इस शीतप्रधान प्रदेश ने आर्य-शरणार्थियो का प्रलय-जल से त्राण किया था, अत उसके प्रति उनकी श्रद्धाभक्ति होनी स्वाभाविक थी। इसीलिये ऋग्वैदिक आर्यों ने इसको परम पूजनीय योनिदेवकृत् देश (ऋ० ३।३३।४) कहा है। मनु ने भी इसको यज्ञदेश एव दव-निर्मित्त-देश (त देवनिर्मित देश—मनु० २।१७) और इस क्षेत्र मे बहने वाली गगा, सरस्वती और मदाकिनी को स्वर्ग की देवनदी कहकर सम्मानित किया है।

मनु ने जिस देश को देवताओ का देश कहा है, उसी को वेद और पुराणो ने स्वर्ग भी कहा है। ऋग्वेद मे लिखा है कि जहाँ मन्दाकिनी गगा बहती है, सरस्वती नदी है, वही देश स्वर्ग है (ऋ० १।११२।८)। 'महाभारत' मे भी उसी देवनदी अलकनन्दा के देश को स्वर्ग 'त्रिविष्टप' कहा है। 'केदारखड' ने भी हरिद्वार से ऊपर मानसरोवर तक इसी पावन प्रदेश को स्वर्ग घोषित किया है। पुराणो मे लिखा है कि ब्रह्मा जी द्वारा ब्रह्मावर्त्त मे ही सर्व प्रथम सृष्टि-रचना हुई है।

इस प्रकार यह ब्रह्मावर्त्त देश जहाँ सरस्वती, गगा आदि सप्तसिन्धु की समस्त सरिताएँ प्रवाहित होती थी, आर्य जाति का परमपूज्य आदि देश है। आर्यावर्त्त के आर्य-जगत मे उसका आज भी आध्यात्मिक महत्व पूर्ववत् सुरक्षित है। सप्तम जलप्लावन तक आर्यावर्त्त के अस्तित्व मे आने से पूर्व आर्य इसी सप्तसिन्धु एवं ब्रह्मावर्त्त में रहते थे। जलप्लावन के अवतरण पर विशेष भौतिक विप्लव से तराई भावर के समुद्र सूख जाने के कारण, जब कुरुक्षेत्र, पाचाल आदि देश पृथ्वी-गर्भ से

ऊपर निकल आये, तो प्रलय-जल के उतरने पर आर्य ऋषि अगस्त्य के नेतृत्व में सप्तसिन्धु से आगे विन्ध्याचल तक बढते चले गये। तब यह समस्त देश आर्यावर्त कहलाया। इससे पूर्व आर्यावर्त्त का कोई ऐतिहासिक अस्तित्व नही था।

पुराणों के अनुसार भी इसी क्षेत्र मे ब्रह्मा के मानसपुत्रो में सबसे ज्येष्ठ, आर्य-नरेश दक्ष प्रजापति का, उनके पुत्र-पुत्रियो एव पौत्र-दौहित्रों का, जो देव और दानव, सुर और असुर के नाम मे विख्यात थे, राज्य-शासन था। तराई के समुद्र तट पर हरिद्वार से कण्वाश्रम तक का क्षेत्र उस समय आर्य सभ्यता का प्रमुख केन्द्र था।★ कनखल मे आर्य नरेश दक्ष की राजधानी थी। आर्यों के पूर्व पुरुष, ब्रह्मा के मानसजात पुत्र सप्तर्षि जो इस उत्तर गिरि प्रदेश में रहते थे, आर्य नरेश दक्ष के दामाद थे। उस युग मे यह समस्त गिरि प्रदेश उत्तर गिरि, अन्तर्गिर और दक्षिणगिरि भी कहलाता था। इस प्रकार यह क्षेत्र दक्ष पुत्रियो दनु, दिति और कद्रु से उत्पन्न असुरोपासक आर्यों और अदिति आदि से उत्पन्न इन्द्र और विष्णु आदि बारह आदित्यो का उत्पत्ति स्थान है। कश्यप ऋषि से अदिति के गर्भ से उत्पन्न बारह आदित्यो में एक सूर्य (विवस्वान्) भी थे। विवस्वान् से मनु वैवस्वान् उत्पन्न हुए।

'वायु पुराण' (५०-५८) मे लिखा है कि मेरु के दक्षिण और मानस के ऊपर यम वैवस्वत मनु अपने यमपुर मे रहते थे। 'वैदिक-सम्पत्ति' के लेखक प० रघुनन्दन शर्मा पाचजन्य के राष्ट्रीय एकता-अक, स० २०१६, पृष्ठ ४८ मे लिखते हैं कि यह निर्विवाद हो गया है कि आर्यों का, जिनको आदि कालीन मनुष्य जाति का पूर्वज भी कह सकते है, मूल स्थान हिमालय मे (मेरु से दक्षिण और मानस के ऊपर) ही है। 'शतपथ' (१।८।६) के अनुसार हिमालय मे ही वैवस्वत मनु रहते थे और वही पर जलप्लावन हुआ था।

'महाभारत' मे लिखा है

हिमालयाभिधानोऽय ख्यातो लोकेषु पावन ।
अर्द्धयोजनविस्तार पञ्चयोजनमायत ॥
परिमडल यो मध्ये मेरुरुत्तमपर्वत ।
तत सर्वास्समुत्पन्ना वृतयो द्विजसत्तम ॥
प्रभृति यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ ।

---

१ हिमालय की तलहटी तराई में जहाँ आज सघन वन हैं प्राचीन सभ्यता के अवशेष हैं। कनिंघम आर्कियालौजिकल रिपोर्ट, भाग २, पृ० २८८। जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, ३६, भाग १, पृ० १५४।

अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त के निम्नलिखित मंत्रो से भी यही ध्वनि निकलती है :

अशवाध मध्यतो मानवानं यस्या उद्वत पर्वत सम बहु
नानावीर्यां ओषधीर्या बिभूर्ति पृथिवोन प्रथताराध्यतान
गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्य ते पृथिवि स्योनमस्तु ।

इसीलिए केदारखड मे भी भगवान् ने इस केदारखड के सबसे प्राचीन होने की जो घोषणा की है, उसमें ऐतिहासिको एव भूगर्भशास्त्रियो द्वारा प्रतिपादित समस्त वास्तविक तथ्य निहित है

पुरातनो यथाह वै तथा स्थानमिद किल ।
यदा सृष्टिक्रियायां च मया वै ब्रह्ममूर्तिना ॥
स्थितमत्रैव सतत परब्रह्म जिघीषया ।
तदादिकमिदं स्थान देवनामपि दुर्लभम् ॥

अर्थात् जैसे मै सबसे प्राचीन हूँ उसी प्रकार यह केदार क्षेत्र भी प्राचीन है। जब मै ब्रह्ममूर्ति को धारण कर सृष्टि-रचना मे प्रवृत्त हुआ तब मैने इसी स्थान मे सर्व प्रथम सृष्टि रचना की। उसी दिन से यह स्थान विद्यमान है। इसकी प्राप्ति देवताओ को भी दुर्लभ है।



सप्तसिन्धु की जलवायु और गढ़वाल

मध्य हिमालय में आर्यों का यह सप्तसिन्धु देश (गढवाल) हिमालय के सबसे अधिक हिम-शिखरो से आच्छादित है। इसलिए प्राय सब इतिहासकार इसको शीतप्रधान प्रदेश ही समझते रहे हैं। परन्तु उन्हे यह ज्ञात नही था कि ससार के इस आश्चर्यजनक पर्वत-प्रदेश मे विश्व की सब प्रकार की जलवायु पायी जाती है। पर्वत, नदी, उपत्यकाओ में जहाँ 'सहारा' रेगिस्तान की सर्वाधिक ऊष्ण जलवायु है, तो चार-पाँच हजार फुट की ऊँचाई पर बसे हुए देशवासियो को यूरोप की समशीतोष्ण जलवायु का आनन्द प्राप्त होता है और १० हजार, ११ हजार से ऊँचे पर्वत पृष्ठो पर लोकमान्य तिलक द्वारा अनुमानित 'उत्तरी ध्रुव' की जलवायु वाला शीतप्रधान प्रदेश है। इस प्रकार जो लोग केवल गोरे रग के लोगो का हिमालय मे या कृष्ण वर्ण के लोगो का ऊष्ण या अन्योष्ण देश मे अनुमान लगाते हैं वे प्राय गलती कर बैठते है। कई इतिहासकारो ने यहाँ के काले वर्ण के लोगो को निस्संकोच यहाँ की मूल-वश-परम्परा से खारिज कर दिया है। हो सकता है कि काले वर्ण के मनुष्य शीतप्रधान प्रदेश मे और गोरे वर्ण के ऊष्ण देशो मे जीवित न रह सकते हो, परन्तु जिस देश मे, कुछ ही दूरी पर प्रत्येक व्यक्ति के अनुकूल जलवायु उपलब्ध हो जाती है, उसी जलवायु के आधार पर काले और गोरे वर्ण की उत्पत्ति का अनुमान असगत है।

आर्यावर्त्त के प्रत्येक भू-भाग मे ऊष्ण जलवायु का अनुमान करके स्वदेशी और विदेशी इतिहासकारो ने आर्यों के आदि देश के सम्बन्ध मे अनेक भ्रान्त धारणाएँ स्थापित की हैं। किसी को शीतप्रधान प्रदेश की खोज मे (जहाँ दस महीने की शीत और दो महीने की गर्मी पडे) उत्तरी ध्रुव मे और किसी को समशीतोष्ण जलवायु की खोज मे आर्यावर्त्त से बाहर यूरोप आदि देशो मे भटकना पडा हैं। यदि उन्हें मध्य हिमालय में इस ब्रह्मावर्त्त के पर्वत-प्रदेश (गढवाल) के कुछ क्षेत्रो मे ध्रुवकक्षीय तथा कुछ क्षेत्रो में यूरोप के समकक्ष समशीतोष्ण जलवायु का ज्ञान होता तो उन्हें आर्यों के मूल स्थान के सम्बन्ध में इतनी कष्ट-कल्पना करने की आवश्यकता नही पडती। पाठको को यह जानकर आश्चर्य होगा कि मध्य हिमालय के इस देश मे ऋग्वेद और जेंदावस्ता मे वर्णित जलवायु ही नहीं

है, वरन् आर्यों की परम पूज्य सरस्वती के साथ, सप्तसिन्धु की सप्त सरिताएँ भी विद्यमान हैं।

आर्यों का आदि देश शीतप्रधान प्रदेश था (ऋ० ३।७।१।)। इस तथ्य से सभी इतिहासकार एकमत हैं। वहाँ दस महीने की कड़ी सर्दी पड़ती थी। केवल दो महीने साधारण गर्मी रहती थी (ऋ० ५।३२।१)। यम वैवस्वत मनु उस शीतप्रधान प्रदेश के प्रथम नरेश थे। वर्ष की गणना पहले हिम शीत-काल (ऋ० ५।५४।१५) से होती थी। कालान्तर में पुन. दक्षिण के कुछ समतल भू-भागो की ओर बढने के पश्चात् शरद ऋतु से भी होने लगी। शरद ऋतु के प्रति आर्य-जाति की विशेष निष्ठा थी। 'जीवेम शरद शतम्' के आशीर्वाद द्वारा वे अपने स्नेही-सुहृदो को सौ शरद तक जीने की कामना करते थे। ऋग्वेद मे वर्ष अर्थ मे शरद शब्द का बीस से अधिक और हिम शब्द का दस से अधिक बार उल्लेख हुआ है। उसके बाद गर्मियो के दो-तीन महीनो मे वसन्त ऋतु रहती थी। यह सबसे छोटी ऋतु थी। इस प्रकार सप्तसिन्धु मे शरद, हेमन्त और वसन्त तीन ऋतुओ का भी उल्लेख मिलता है (ऋ० १।१६४।१४)। वहाँ वर्षा का भी आधिक्य था (ऋ०२,१२,२ ऋ०२।१७।५)। आर्य-ऋषियो को हिमालय अत्यन्त प्रिय था। वैदिक ऋचाओ मे जिस सृष्टिकर्ता की महत्ता, हिमाच्छादित पर्वत बतलाते है (ऋ० १०।१२१।४) 'हिमेनाग्नि, हिमेववासतो, हिम्वानान् हविष्मान्' कहकर उन्होने हिमालय के प्रति असीम श्रद्धा व्यक्त की है। अथर्व० (१२।१।११) मे भी 'गिरिर्यस्ते पर्वता हिमवत पृथिवी' कह कर हिमालय की वन्दना की है। वर्ष भर मे तीन ही ऋतु का दृश्य दिखायी देता है। एक मे अन्नोपार्जन के लिये बीज बोया जाता है। एक मे सभी सच्चे प्रेमी खूब चेष्टा करते है। घाजी के तलवार की धाट की तरह शीतल वायु-वेग के कारण, एक ऋतु का रूप नही देखा जा सकता, अर्थात् हेमन्त मे मूल स्थान मे नही रहा जाता।

आर्यों को अपने देश मे बारहो महीने अग्नि प्रज्वलित रखनी पडती थी। इसीलिये आर्य सविता, उषा आदि अग्नि के प्रतीको के विशेष भक्त थे। अग्निदेव देवताओ के भी देवता समझे जाते थे (ऋ०।१।३१।१)। उनकी प्रशसा मे ऋग्वेद-सहिता मे अनेक सूक्त है। अग्नि पर तो सबसे अधिक सूक्तो की रचना हुई है। ऋग्वेद अग्निदेव की ही स्तुति से आरम्भ होता है। उसके प्रथम मडल के प्रथम सम्पूर्ण सूक्त मे अग्निदेव का आह्वान है। ऋग्वेद-सहिता मे अग्निदेव के सम्बन्ध मे ढाई हजार मत्र है। उषा और सूर्यदेव का भी बार-बार वर्णन है। जाडे के दिन रात मे अग्नि और सूर्यताप के अतिरिक्त, उस युग मे सर्वसाधारण

के पास शीत-निवारण के लिये अन्य साधन सुलभ नही थे। मेघाच्छादित दिवस भी शीतप्रधान प्रदेशो के लिये असह्य होता है। अधिक वर्षा और जाडे के दिनो में सूर्य के बादलो से बाहर निकलने पर, घुमक्कड आर्यों ने ऋग्वेद के कई मत्रो द्वारा प्रसन्नता प्रकट की है, जो स्वाभाविक है। मौसम के अनुसार कई घंटो और कई दिनो तक ऋग्वेद मे सरस्वती नदी के तट पर अनिवार्य यज्ञ-यागो द्वारा अग्नि प्रज्वलित रखने की जो व्यवस्था थी, वह भी उनके शीत-प्रधान प्रदेश होने का सूचक है। ऋ० १।३१।१ और ३।२३।४ के अनुसार ऋषि अगिरा द्वारा (त्वमग्ने प्रथमो अगिरा ऋषि) अग्नि प्राचीन काल मे सरस्वती नदी के क्षेत्र मे सघर्षण से उत्पन्न की गयी। कुरुक्षेत्र और प्रयाग की सरस्वती के ऊष्ण तट-प्रदेश मे वैदिक-आर्यो द्वारा परम पूज्य (देवो देवाना) अग्नि को प्रमुखता प्रदान करना, सम्भव नही है।

पजाब मे हिमालय नही है। वहाँ वर्षा का भी अभाव रहता है। वह गर्म देश है। वहाँ इस प्रकार की कठिन शीत की कल्पना भी नही हो सकती। आर्यों की प्राचीन पुस्तक **'ऋग्वेद'** मे वर्णित सप्तसिन्धु की जलवायु और उनकी अन्य भौगोलिक स्थिति मे और वर्तमान पजाब मे आकाश-पाताल का अन्तर है। इस कारण श्री पावगी और श्री लोकमान्य को, वेदो में वर्णित जलवायु की खोज मे उत्तरी ध्रुव के शीतप्रधान प्रदेशो की कल्पना करनी पडी है। श्री अविनाशचन्द्र दास और डॉ० सम्पूर्णानन्द जी ने जहाँ उत्तरी ध्रुव और मध्य एशियावाद का युक्ति-युक्त खण्डन किया है, वहाँ उन्होने वैदिक परिस्थितियो के सर्वथा प्रतिकूल, पंजाब की सिन्धु नदी पर केन्द्रित होने के कारण, पंजाब को ही आर्य-जाति का मूल-निवास स्थान 'सप्तसिन्धु' बताकर, उक्त समस्या को विवादास्पद ही रहने दिया है। वे वर्तमान पंजाब और प्राचीन पजाब (सप्तसिन्धु) के जलवायु आदि मे हजारो बरसो के भौतिक परिवर्तनो के कारण अन्तर पडना बतलाकर, सतुष्ट हो जाते है। वहाँ की सिन्धु नदी के कारण वे सप्तसिन्धु की खोज में पजाब को छोडकर जरा भी आगे-पीछे जाने का प्रयत्न नही करते।

ऋग्वैदिक आर्यों के अनेक प्राचीन आध्यात्मिक स्मारको से सम्पन्न हिमवन्त (गढवाल) के बदरी और केदार क्षेत्र मे देवनदी सरस्वती, मन्दाकिनी और गगा के विस्तृत पार्श्ववर्ती भागो मे ऋग्वेद मे वर्णित भौगोलिक तथ्य एवं जलवायु आज भी शत-प्रतिशत विद्यमान है। महापडित राहुल साकृत्यायन **'हिमालय परिचय'** (१) पृष्ठ २६ मे लिखते है

हिमालय-श्रेणी की हिमानियो तथा हिम-शिखरो के इस ओर साइबेरिया की भाँति आठ मास धरती बर्फ से ढकी रहती है। १३००० फुट से

ऊपर यही ध्रुवकक्षीय जलवायु आ जाता है। यहाँ जाडा लम्बा और गर्मी का मौसम छोटा (ऋग्वेद में वर्णित दस महीने शीत और दो महीने गर्मी) होता है, जिसके कारण अभी बर्फ अच्छी तरह पिघलने भी नही पाती कि नयी बर्फ पड जाती है। माना और नीती गाँव (सरस्वती नदी का तटवर्ती प्रदेश) यहाँ की उच्चतम मानव बस्तियाँ है। यहाँ वसन्त बहुत छोटा होता है, जबकि उस समय थोडी गरमाहट मालूम पडती है। दिसम्बर से अप्रैल तक माना और नीती के गाँव सफेद हिम की चादर से ढककर मानव-शून्य हो जाते हैं।

पारसियों के धर्मग्रन्थ '**जेन्दावस्त**' मे लिखा है कि आदि सृष्टि जिस भू-भाग में हुई वहाँ दस महीने शीत और दो महीने गर्मी रहती थी। '**जेन्दावस्त**' की आदि सृष्टि सप्तम वैवस्वत मनु के जल प्लावन मे उत्तरी गिरि को जाने के पश्चात् प्रारम्भ होती है। सृष्टि का पुनर्निर्माण सप्तम मनु से भले ही आरम्भ हुआ हो, परन्तु सप्तसिन्धु मे, वह कई हजार वर्ष पूर्व स्वायम्भुव से प्रारम्भ हो हो चुकी थी।

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि हिमाच्छादित बदरीनाथ और केदारनाथ मन्दिर के कपाट जाडो मे छ महीने बन्द रहते हैं। छ महीने देवताओ द्वारा और छ महीने मानवो द्वारा यहाँ जो पूजा करने का वर्णन है, उसमे यही भाव है। सर्वोच्च हिम-शिखरो से अच्छादित इसी क्षेत्र का नाम गन्धमादन, कैलास और सुमेरु है (**हिमालय परिचय**, पृष्ठ ६१)। सुमेरु-पर्वत पर वेद और पुराणो मे वर्णित छ महीने दिन और छ महीने रात रहने की जो उपमा दी गयी है, जिसको लोकमान्य तिलक ने भी ध्रुव देश की पुष्टि मे उद्धृत किया है, इसमे यही भाव निहित है। दिन-रात घने मेघो से आच्छादित रहने के कारण, वहाँ दिन में भी रात्रि की तरह गहन अन्धकार छाया रहता है। ऋग्वैदिक ऋषि कवि थे। कविता के प्रत्येक शब्द में शत-प्रतिशत ऐतिहासिक एव भौगोलिक वास्तविकता की तलाश उपहासास्पद है। आज भी अनेक कवि अपने विरह-वर्णन में, रात्रि को द्रौपदी की चीर तथा 'डग भई वामन की सावन की रतियाँ' कह कर जो उपमा देते है उसमें क्या वैदिक कवियो की उक्त भावना की अभि-व्यक्ति नही है ? यहाँ पर रतूडी जी के '**गढवाल का इतिहास**' पृष्ठ ३८ का उद्धरण भी अप्रासगिक नही होगा, वे लिखते हैं

'गढवाल के ऊपरी भाग मे जो हिमप्रधान भाग हिमालय के निकट है, उसमे नवम्बर से मई-जून तक आठ महीने हेमन्त ऋतु का प्राधान्य बना रहता है। जून से अक्टूबर के अन्त तक वहाँ वसन्त रहता है, उस समय वहाँ सारी भूमि पुण्यमय दिखायी देती है। ८००० फुट से ऊपर वाले पर्वतो पर वर्षा ऋतु और वसन्त ऋतु मिश्रित रूप मे दिखायी देती हैं।" वाल्टन साहब गढ़वाल

गजेटियर्स, पृष्ठ २८ मे लिखते हैं—"दक्षिण मे ७००० फुट से ऊपर, उत्तरी गढवाल में ६००० फुट से ऊपर, सारे वर्ष जाडा रहता है। वर्ष भर मे यहाँ तीन ही ऋतुएँ होती हैं।" इन्ही तीन ऋतुओ शरद, हेमन्त और वसन्त का ऋग्वेद में उल्लेख है। 'जीवेम शरद शतम्' के अनुसार शरद ऋतु के प्रति आज तक गढवाल में वही श्रद्धा भाव पूर्ववत् सुरक्षित है। इस ऋतु में दोनो फसलो को समेट कर यहाँ के निवासी धन-धान्य से सम्पन्न रहते हैं। अनुकूल जलवायु के साथ आवश्यक शाक-भाजी, गेहूँ, जौ, चावल आदि अन्य सब अनाजो से उनके भडार भरे रहते है। प्रजापति द्वारा सौ शरद जीवित रहने का शुभाशीर्वाद शरद की इसी सर्वसम्पन्नता का द्योतक है।

पारसियो के धर्मग्रन्थ अवेस्ता के अनुसार श्री तिलक आदि कई विद्वानो का मत है कि आर्य पहले ऐसे प्रदेश में रहते थे, जहाँ सात महीने गर्मी और पाँच महीने सर्दी पडती थी। जलवायु अच्छा था, जनता सुखी थी। परन्तु जलप्लावन एव आकस्मिक हिमाच्छादन के कारण आर्य इस प्रदेश से भाग कर ऐसे प्रदेश में चले गये, जहाँ दस महीने का जाडा और दो महीने की मामूली गर्मी पडती थी। ऋग्वैदिक आर्य गढवाल के दक्षिणी क्षेत्र में बसते थे। उस युग मे इसका नाम दक्षिण गिरि था। दक्षिण गढवाल की जलवायु सात महीने गर्म और पाँच महीने ठडी रहती है। जलप्लावन के समय आर्य लोग उत्तर गढवाल मे १०-१२ हजार फुट से ऊपर उत्तर गिरि (शतपथ ब्राह्मण, १।८।१।६) प्रदेश की ओर भाग निकले, जहाँ आज भी दस महीने की कठिन शीत और दो महीने की साधारण गर्मी पडती है। हिमालय के इस शीतप्रधान प्रदेश में आर्यो के सौतेले भाई असुरोपासक आर्यो का प्राबल्य था।

ऊपर राहुल जी ने माना और नीति गाँव से जिन अतिम मानव-बस्तियो का उल्लेख किया है, सरस्वती के इस तटवर्ती क्षेत्र मे वही कही १२०००-१३००० फुट पर उत्तर प्रदेश के सर्वोच्च शैल-शिखर कामेठ और नदादेवी जो २५६६० फुट ऊँचे है, के निकट शतपथ आदि वैदिक वाडमय में प्रतिपादित जलप्लावन से सम्बन्धित उत्तर गिरि का वह 'मनोरव सर्पणम्' नामक शरणस्थल भी है, जहाँ दक्षिण (गिरि) से चल कर सप्तर्षियो की नाव जल-अवतरण तक ठहरी थी। मनोरव, मनु और माना मे शुद्ध-साम्य भी है और राहुल जी के कथनानुसार यह अंतिम मानव-बस्ती भी है। श्री पावगी आदि इतिहासकारो ने जो लिखा है कि आर्य-जाति प्रालेय-प्रलय के समय यहाँ से उत्तरी ध्रुव मे गयी और फिर साधारण समय आने पर वापस लौट आयी, आर्यावर्त्त इसकी स्पष्ट सूचना देता है। इसका सीधा और सही अर्थ यह है कि गढवाल समस्त गिरि-प्रदेश है। इसका उत्तरी भाग उत्तरगिरि, मध्यभाग अन्तरगिरि (महाभारत,

भीष्मपर्व ६।४६) और दक्षिण भाग दक्षिणगिरि कहलाता था। उत्तरगिरि का अधिकांश १२ हजार फुट ऊँचे हिम-शिखरो से आच्छादित होने के कारण वहाँ का जलवायु उत्तरी ध्रुव की भाँति शीतप्रधान है। दक्षिणगिरि, उत्तरगिरि की अपेक्षा कुछ समतल है। वहाँ सरिता-तटो एव उपत्यकाओ की जलवायु अत्यधिक ऊष्ण है। लक्ष्मणभूला उपत्यका की ऊँचाई केवल १००० फुट होने के कारण, वहाँ की जलवायु अधिक ऊष्ण है। इस प्रकार १००० फुट से निम्न और २५६०० फुट तक ऊँचे स्थलो से आच्छादित होने के कारण, इस पर्वत-प्रदेश मे अत्यधिक शीत और अत्यधिक ऊष्ण दोनो प्रकार की जलवायु पायी जाती है। ४ हजार से ७-८ हजार फुट तक ऊँचे क्षेत्रो मे यहाँ प्राय परिवर्तित हलके तापक्रम वाले शीतोष्ण जलवायु का भी बाहुल्य है, जो भूगर्भशास्त्री मेडलीकट एव ब्लम्फर्ड के मतानुसार विश्व मे जीवन-शक्ति के सर्व प्रथम उत्पत्ति-स्थल है। वाल्टन गढवाल गर्जेटियर्स मे यहाँ के नागपुर आदि क्षेत्रो की जलवायु यूरोप की जलवायु के समान बताता है।

ऋग्वेद मे कही-कही (१।२३।१४, १।१६४।१२, १५) छ ऋतुओ तथा कही शिशिर और हेमन्त की एक ही ऋतु होकर केवल पाँच ऋतुओ का भी उल्लेख मिलता है। जल-प्लावन से पूर्व आर्य जब दक्षिणगिरि के समशीतोष्ण प्रदेश मे थे तो उस क्षेत्र मे छ ऋतुएँ थी। सारे दिनभर कार्यनिरत आर्य सुखप्रद रात्रि का स्वय आह्वान करते थे (आह्वयामि रात्रि जगतो निवेशनीम्, ऋ १।३५।१)। परन्तु जलप्लावन के बाद, जब वे उतरगिरि-प्रदेश मे चले गये, वहाँ उन्हें केवल पाँच ऋतुओ का ही आभास हुआ। बारह-तेरह हजार फुट से ऊँचे हिमाच्छादित पर्वत-प्रदेश की ध्रुवकक्षीय जलवायु मे, शिशिर और हेमन्त दोनो मे, फरवरी-मार्च तक भी हिमपात होता रहता है। अत वहाँ के निवासियो को वहाँ शिशिर और हेमन्त दोनो ऋतुएँ समान प्रतीत होती है।

शिशिर और हेमन्त ऋतुओ मे यो तो सर्वत्र रात्रियाँ लम्बी और दिन छोटे होते हैं परन्तु बारह-तेरह हजार फुट ऊँचे हिमाच्छादित शीतप्रधान प्रदेश मे जब लगातार बर्फ गिर रहा हो, कडाके का जाडा पड रहा हो, तेज और कर्कश वायु-वेग बह रहा हो, ओढने-बिछौने का अभाव हो, आग जलाने का ईधन भी भीगा और बर्फ से ढक गया हो, मेघाच्छादित आकाश मे सर्वत्र निस्सीम अधकार फैला हो, तो उस वक्त उन आर्य-शरणार्थियो के लिये जिनके पास अपने पक्के निजी आवासगृह भी रहने के लिये न हो, एकमात्र ऊषा के शुभागमन की प्रतीक्षा एव सूर्य के प्रकाश के अतिरिक्त द्रौपदी की साडी की तरह बढने वाली वहाँ की रात्रियाँ कितनी लम्बी (न यस्या पारं दहृशे, अथर्व० १६।४७।२) एवं भयावह हो सकती हैं ?

इस क्षेत्र मे हिमपात तो प्राय होता ही है, परन्तु कभी-कभी आकस्मिक रूप से, असमय इतना हिमपात भी हो जाता है जिसकी यहाँ के निवासी सदियो तक कल्पना भी नही करते। रूपकुड मे इधर-उधर बिखरे हुये सैकडो स्त्री-पुरुषो, बालक-बूढो के मृत-अवशेषो से इस क्षेत्र की इस आकस्मिक, अकल्पित, अत्यधिक हिमपात से होने वालो ऐतिहासिक दुर्घटनाओ की पुष्टि हो जाती है। इसी प्रकार के भयंकर हिमपातो के कारण, जलप्लावन के अवतरण पर उत्तर-गिरि प्रदेश को छोड कर, दक्षिण की ओर आर्यों का पुन प्रस्थान करना स्वाभाविक है।



ऋग्वैदिक गढवाल की सामाजिक और आर्थिक स्थिति

सृष्टि मे सर्व प्रथम ब्रह्मा के सात मानसपुत्रो मे दक्ष, मरीचि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और अत्रि थे। इनमे दक्ष सबसे बड़े थे। इसीलिए प्रजापति के पद पर सर्व प्रथम वे ही प्रतिष्ठित किये गये। वे प्रथम आर्य-नरेश हुए। गढवाल के दक्षिण, कनखल मे (महा० वनपर्व ८४।३०, ९०।२२, अनु० २५।१३, शांति० २८४।३) उनकी राजधानी थी। ब्रह्मा के अन्य छ मानसपुत्रो के आश्रम भी यत्र-तत्र गढवाल ही मे थे। यह सर्व विदित तथ्य है कि गढवाल-नरेश दक्ष की तेरह कन्याओ मे दिति सबसे बडी और अदिति छोटी थी। दिति से दैत्यो की उत्पत्ति हुई। दूसरी पुत्री अदिति मे बारह आदित्यो, देवो (जिनमें इन्द्र सबसे बड़े और विष्णु वामन सबसे छोटे थे), वसुओ व रुद्रो और दो अश्विनीकुमारों की उत्पत्ति हुई।

गढवाल मे प्राचीन काल से सौतियाबाँट की प्रचलित प्रथा के कारण, गढ़वाल का दक्षिणी गिरि अदिति-पुत्र आदित्यो, और उत्तरी गिरि-प्रदेश दिति, दनु और कद्रु के असुरोपासक दैत्यो, (दानवो और नागो) के हिस्से मे पडा। इस प्रकार, देव और दानवो, दोनो का उत्पत्ति-स्थान गढवाल ही था।

ऋग्वैदिक भवन और पत्थरो का प्रचलन—आर्यों के पत्थरों और काष्ठो के बने प्राय दुपुरे और तिपुरे घर, जिन्हें ऋग्वैदिक काल में भी दुपुरे और तिपुरे ही कहा जाता था, होते थे (ऋ० ६।४६।९,८।४०।१९,१०।६६।५,७।)। आज भी गढवाल के प्रस्तर और काष्ठ-निर्मित आवास प्राय दुपुरे और तिपुरे ही होते हैं और उन्हे इसी नाम से सम्बोधित भी किया जाता है। पजाब के मैदानी प्रान्तो में मिट्टी के बने घर होते हैं, जो ऋग्वैदिक आर्यों को कतई पसन्द नही थे। वशिष्ठ कहते हैं कि 'हे वरुण! तुम्हारे मिट्टी के मकान को मैं न पाऊँ' (ऋ० ७।८९।१)। असुरराज शम्बर के विशाल प्रस्तर-खडो से निर्मित १०० सुदृढ गढ़ थे (ऋ० ४।३०।२०)। गढ़वाल के पर्वत-शिखरो पर उनके अनेक अवशेषो के कारण इस प्रदेश का नाम गढवाल पडा। पत्थर आर्यों के जीवन-रक्षा के सर्वोत्तम साधनो मे से थे। ऋग्वेद के दशवें मडल का ७६वाँ और १७५वाँ सूक्त पत्थरो की ही प्रशसा मे है। आर्य अपने शत्रुओ के विरुद्ध भी पत्थरो का प्रयोग करते थे। उन्हे भगाने के लिये वे पर्वत-शिखरो से प्रस्तर खंड फेंकते थे (ऋ० १।७।७६।४,७।१०४।५)। वैज्ञानिको के कथनानुसार वह प्रस्तर युग आज

से पचास हजार वर्ष पूर्व था (**हिन्दी विश्वभारती** ४१२)। गढ़वालियों द्वारा युद्ध मे पत्थरों का प्रयोग कालिदास ने दिग्विजयी रघु के विरुद्ध भी वर्णन किया है। (**रघुवंश** ४।७७)। '**महाभारत**' (द्रोणपर्वत) मे भी गढवाली सैनिकों का दुर्योधन के पक्ष में सात्यकी के साथ पत्थरो से युद्ध करने का उल्लेख है। डॉ० यल० डी० जोशी ने भी अपने '**खस-फेमली लों**' (पृष्ठ १५) मे इसका समर्थन किया है। वे लिखते है कि पत्थरो से लड़ना यहाँ की ग्राम बात है। लोकगाथाओं से इसकी पुष्टि होती है। यहाँ के पर्वत-शिखरो पर एकत्र प्राचीन पत्थरों के ढेर इसके प्रमाण हैं। आर्य लोग सोम को कूटने एव रस निकालने के लिये भी पत्थरो का प्रयोग करते थे (ऋ० १।२८१,३।३६।७,६।६१।७,६०।८०।५,१०।१२५।२)। सोम भी महान् प्रस्तर-राशि के परिवेष्टित स्थानो में मिलता था (ऋ० १।१३०।३)।

गुफाएँ—ऋग्वेद मे पणियो द्वारा आर्यों की गायो को गुफाओ मे छिपाये रखने का उल्लेख है, जिनका इन्द्र ने उद्धार किया था (ऋ० १।६।५)। हिमालय के इस प्रदेश की गुफाएँ-कन्दराएँ प्रसिद्ध है। महाराज मनु की सरस्वती के तट पर बदरीक्षेत्र मे व्यासगुफा, गणेशगुफा, नारदगुफा, मुचकुन्दगुफा—आदि गुफाएँ है। इनमे से कई गुफाएँ इतनी बडी है कि उनके भीतर ५०० तक बकरियाँ आ जाती हैं। कालिदास को भी यहाँ की इन गुफाओ का ज्ञान था।

वनौषधियाँ—आर्यों के देश में जडी-बूटियो का बाहुल्य था। वे फलवती, फल-शून्या, पुष्पवती, बहुमूल्य जडी-बूटियाँ १०७ स्थानो पर होती थी, जिन्हें आर्य अपने द्विपद और चतुष्पद सम्पत्तियो के रोग-निवारणार्थ प्रयुक्त करते थे। ऋग्वेद मडल १० के ६७ सूक्त के समस्त २३ मत्रो मे उनका स्तवन है। आर्य इन जडी-बूटियो से चिकित्सा-कार्य करते थे (ऋ० ७।२०।२३,२५,२६ तथा ६०।६७)। गढ़वाल आज भी बहुमूल्य जडी-बूटियाँ का आगार है। यहाँ के द्रोणागिरि की सजीवनी जडी-बूटियाँ प्रसिद्ध है। इसीलिए महर्षि भरद्वाज के नेतृत्व में एक बार आयुर्वेदज्ञ ५२ ऋषियो ने इस क्षेत्र मे एकत्र होकर स्वार्गाधिपति इन्द्र से आयुर्वेद का त्रिस्कन्धात्मक ज्ञान प्राप्त किया था (**चरक सहता**, सूत्रस्थान १।११।१४)।

गोपालन—गाय, बैल, भेड और अश्व आर्यो का पशु-धन था। ऋग्वेद प्रथम मडल का २६ वाँ समस्त सूक्त गो एव अश्व धन के सम्बन्ध में है। आर्य गायो को गोधन (ऋ० १०।६१।२४,१०।६२।६) और गायो से युक्त गोष्ठ को 'गोष्ठ' कहते थे (ऋ० १०।६२।१,१।८६।६)। गढ़वाल में आज भी उसी प्रकार गायों को [illegible] और गायो के कोडो को गोष्ठ ही कहा जाता है। आज तक गढ़वाल के घरों और खेतो में उसी प्रकार गोष्ट (गोष्ठ) रखने की परम्परा सुरक्षित है।

आर्य कभी बृहद् वनों में लता-गुल्म का घर बना कर वहाँ गायें लेकर रहते थे। ऋग्वेद मे इन्हें अरण्यानी कहा गया है। आज गढवाली इस व्यवस्था को 'मरोडा' कहते हैं। ऋग्वेद मे वर्णित उन अरण्यानियो (मरोडो) का चित्र आज भी यहाँ अपरिवर्तित है। ऋग्वेद मडल १० के समस्त १४६ सूक्त में उसका भव्य चित्र, चित्रित है। जिसको गढवाल मे गाँव से दूर सघन-वन मे लता-गुल्मो से निर्मित इन अरण्यानियो (मरोडो) को देखने का एक बार भी अवसर मिला हो वह ऋग्वेद के उस वर्णन की वास्तविकता एव स्वाभाविकता का अनुभव कर सकेगा। उक्त सूक्त का अनुवाद निम्नलिखित है

१—अरण्यानी ! तुम देखते-देखते अन्तर्धान हो जाते हो। इतनी दूर चले जाते हो कि दिखायी नहीं देते। तुम क्यों नही गाँव मे जाने का मार्ग पूछते हो ? अकेले रहने में तुम्हें भय नही होता है ?

२—कोई जन्तु वृष के समान बोलता है। कोई ची-ची कर मानो उसका उत्तर देता है। मानो ये वीणा के पर्दे-पर्दे में शब्द करके अरण्यानी का यश-गान करते हैं।

३—विदित होता है कि इस विपिन में कही गायें चरती हैं और कही लता-गुल्म आदि का गृह दिखायी देता है। सध्या को वन से कितने ही शकट निकल रहे हैं।

४—एक व्यक्ति गाय को बुला रहा और एक काठ काट रहा है। अरण्यानी में जो व्यक्ति रहता है, वह रात को शब्द सुनता है।

५—अरण्यानी किसी का वध नही करती। यदि व्याघ्र-चोर आदि नही आवें तो कोई भय नही। वन में स्वादिष्ट फल खाकर भली-भाँति काल-क्षेप किया जा सकता है।

६—मृगनाभि के समान ही अरण्यानी सुगन्धित है। वहाँ आहार भी है। वहाँ प्रथम कृषि का अभाव रहता है। यह हरिणो की मातृरूपिणी है। इस प्रकार मैने अरण्यानी की स्तुति की है।

"आर्य शीतोष्ण जलवायु मे रहते थे, जहाँ उन्हें बाँज, बेत और कुछ पीत दारु परिवार के वृक्षो से परिचय हुआ। वे घुमक्कड न थे। वे महीनो नियत स्थान पर बसे हुए श्रम करके अन्न उत्पन्न करते थे और बैल, गाय, भेड, घोडा, कुत्ता और सुअर इन जानवरो को पालते थे, किन्तु गधा, ऊँट और हाथी नही। घोडा और गाय विभिन्न परिस्थितियों के सूचक है। घोडा खुले मैदानों में चरने वाला है जहाँ उसके बछडे मादा के पीछे घूमते रहते हैं। गाय जब चरने जाती है अपने बछडे को पीछे छोड तो देती है लेकिन उससे दूर नही हटती। मूल आर्य

वासस्थान ऐसा होना चाहिए, जहाँ पशुओ के चरने और कृषि दोनों की सुविधा हो, अर्थात् अश्व-पालन के अनुकूल लम्बे-चौडे घास के मैदान और भेडो के चरने के अनुकूल घास से भरी हुई पहाडी 'उडार' दोनो निकट हो।" (हिन्दू सभ्यता, पृ० ६७)।

आर्यों का गाय, बैल, भेड, बकरी, अश्व, बराह, हरिण और गुफाओ में रहने वाले सिंहो से परिचय था (ऋ० ३।६।४)। परन्तु गधा, ऊँट और हाथी से उनका परिचय नही था। पजाब मे, मैदानी प्रान्तो मे हाथी, गधा और ऊँट मिलते है परन्तु हिमालय मे गधा, ऊँट और हाथियो की कल्पना नही हो सकती। इसी-लिए ऋग्वेद मे कही उसका वर्णन नही मिलता। आर्यों का देश वहाँ के उत्पन्न अश्वो के लिये प्रसिद्ध था। घुडदौड के लिये सिन्धु और सरस्वती प्रान्त के तेज दौडने वाले घोडो की माँग की जाती थी (ऋ० १०।७५।८,६।६१।३,४)। आर्यों की मुख्य सवारी घोडा और मुख्य व्यवसाय पशु चराना था। मोटर-कारो के प्रचलन से पूर्व, उत्तर गढवाल को मुख्य सवारी घोडा और मुख्य व्यवसाय भेड-बकरी चराना था। गो, अश्व, मेष और मेषी रुद्र-राज्यान्तर्गत सरस्वती और सिन्धु के इस प्रदेश मे (नागपुर-पैनखडा, चान्दपुर और बधाण मे) आर्य-जाति के मुख्य पशु थे (ऋ० १।४३।६)। बदरीनाथ-केदारनाथ के पार्श्वों मे गन्धमादन आदि पर्वत-पृष्ठो पर फैले हुए वेदिनी आदि अनेक बुग्याल तत्कालीन आर्य-जाति के सर्वोत्तम चरागाह थे। वेदिनी शब्द मे वैदिक आर्यों के वेद शब्द से सम्बन्धित अभिव्यक्ति स्पष्ट है। इसी वेदिनी क्षेत्र मे वेद-सहिताओ के सकलन के सम्बन्ध मे, किम्वदन्ती प्रचलित है। '**गढ़वाल गजेटियर्स**' (पृष्ठ २६) मे लिखा है कि वान और बदरीनाथ के निकट वेदिनी बुग्याल एव पयार (चरागाह) गर्मियो मे यहाँ के निकट-निवासियो के विस्तृत चरागाह हैं। दक्षिण गढवाल के लोग भी गर्मियो मे अपने-अपने घोडो को छ महीने के लिये इन्ही चरागाहो मे चरने छोड आते थे। कुछ लोग आर्यों को खानाबदोस कहते है। वे यह भूल जाते है कि आर्य गोपालक थे, उनकी गाय-बैलो की गोष्ठें★ होती थी और गाय-बैलो को खानाबदोस जीवन असह्य होता है, क्योकि वे दो दिन चलकर थक जाते हैं। गढवाल के घने वन, बाँज, बाँस, रिंगाल और देवदारु के वृक्षो से जो आर्यों के मूलस्थान मे पाये जाते थे, आच्छादित है।

★ **गोष्ठ—गाँवों से दूर वन प्रान्त मे गोपालों की देख-रेख मे लकड़ी-घास के छप्परो मे जो गो-समूह रखा जाता है, उसको यहाँ आज भी पूर्ववत् 'गोष्ठ' कहा जाता है।**

पंजाब में कस्तूरी-मृग नही होता। ऋग्वेद (१०।१०७।६ और १०।१४६। ६) में कस्तूरी मृग का उल्लेख है। यह तीन फुट लम्बा और दो फुट ऊँचा प्रत्येक ऋतु मे परिवर्तित होने वाले रंग का मृग है। इसकी नाभिस्थल पर कस्तूरी की गाँठ पायी जाती है। यह ८,००० से लेकर १२,००० फुट की ऊँचाई पर, टिहरी के फतेह-पर्वत, भिलग तथा उत्तरी गढवाल के मल्ला पैनखंडा क्षेत्र में पाया जाता है।

भेड़-पालन—सप्तसिन्धु ऊन की उपज के लिये विख्यात था। वहाँ भेड और बकरियाँ पाली जाती थी और उनके कम्बल बनते थे (ऋ०१०२६।६,१०।१०१। ७)। इन्द्र को भेड के समान उपकारी बताया गया है (ऋ०८।८६।१२)। उत्तरी गढवाल मे आज भी भेड-बकरियो की अधिकता है। उनका मुख्य व्यवसाय आज भी भेड चराना है। इसीलिए दक्षिण गढ़वाल के लोग उन्हे 'मैल मुलक्या ढेबरा' कहते है। अर्थात जैसी सीधी-सादी और भोली उनकी भेडें है, वैसा ही सरल वहाँ के निवासियो का स्वभाव भी है। सोम प्राय मेषलोममय छलनी से छाना जाता था (ऋ०६।६।२१,६।६६।१३,२१)। असुरराज शम्बर के यहाँ ऊनी वस्त्रो से छना हुआ सोमरस, एक-एक द्रोण के काष्ठ-कठैतो मे रखा हुआ था (ऋ०६।८६। ४७)। 'गढवाल गजेटियर्स' (पृष्ठ ४१) मे लिखा है कि गढवाल की मुख्य दस्तकारी कम्बल और भँगोला बुनना है। वस्तुत उत्तर गढवाल के स्त्री-पुरुषो का परम्परागत ओढना-पहिनावा और बिछौना आज भी ऊन पर ही अवलम्बित है।

माप-तोल के पैमाने—ऋग्वैदिक आर्यों के घरो मे सोम से भरे एक-एक द्रोण के काष्ट-कलसो का उल्लेख है (ऋ०६।१।२८,६।३।१,६।६६।१३,१४,६। १०३।२,३)। यह कलसे (कठौते) काष्ठ के बने होते थे (ऋ०६।'०७।१०)। आज भी एक-एक द्रोण तक के कठौते जिन्हे गढवाली मे 'पर्या' एव 'परोठा' कहते है, यथावत् सर्वत्र प्रचलित है। जो प्राय छाँछ और दूध-दही रखने के लिये प्रयुक्त होते हैं, यथावत् सर्वत्र प्रचलित है। वैदिक काल मे तौल के लिये द्रोण (३२ सेर), पाथा (२ सेर), और माणा (½) सेर का पैमाना प्रचलित था। आज भी गढवाल मे अन्न, घी और तेल के माप के लिये द्रोण, पाथा एव माणा पुडखो (पुरुषो-जल की माप) का ही व्यवहार होता है और उनको सर्वत्र इसी नाम से पुकारा जाता है। २० द्रोणो की 'खार्य' के (ऋ० ५।१।३१,५-१-४०) ऋग्वैदिक पैमाने को आज भी 'खार' कहते है।

अन्न-साटी (षष्टिक)—पजाब का मुख्य अन्न गेहूँ आर्यों के देश मे नही होता था, किन्तु धान और धान्य जो शायद चावल का वाचक है, होता था, जौ उनका मुख्य अन्न था (ऋ० ११।३३।१५)। उनके खेत जौ से पूर्ण होते थे (ऋ०१०।१३१।२)। वे बैलो द्वारा खेत जोतते और जौ बोते थे (ऋ०१।१७६।६)।

आर्य-महिलाएँ जौ भूनती थी (ऋ०८।८०।२ ६।११२।३)। जौ को सूप से छान कर 'सत्तू' बनता था (ऋ०१०।७१।२), और आर्य उनमें घी मिला कर खाते थे (ऋ०६।५६।१)। सत्तू देवान्न है और इसीलिए तब से आज तक हवन मे उसका प्रयोग होता है। आज भी यहाँ पर्वत-क्षेत्रों मे प्राय जौ की खेती होती है और उसका सत्तू गढवालियो के प्राचीन मुख्य आहारों मे से है (ऋ०६।६८।४)। गढवाली मे एक प्राचीन कहावत है 'उखिमु सत्तू को भारो, उखिमु पाणी को धारा', अर्थात् वही पर सतुओ का बोझ और वही पर जल की धारा यदि उपलब्ध हो तो इससे अधिक खाद्य सम्बन्धी सुविधा और क्या चाहिये ! यह कहावत प्राचीन गढवाल के मुख्य खाद्य-पदार्थों मे सत्तू का महत्व भी प्रकट करती है। मनु ने स्वर्गलोक (उत्तर गढवाल सरस्वती नदी के तट पर) हल चला कर जौ की खेती आरम्भ की थी (ऋ०८।२२।३)। ऋग्वैदिक आर्य खेत जोतते थे और जौ बोते थे (ऋ०१।११७।२१)। ऋग्वेद मे कही कपास का उल्लेख नही है। गढवाल मे भी आज तक कपास की खेती नही होती। यहाँ के मुख्य अन्न कोदा और झगोरा (नीवार और श्यामाक) को जो देवान्न कहते हैं, वह पितृ देश के मुख्यान्नो के प्रति आर्यो की असीम श्रद्धा का द्योतक है।

सुरा—आर्य सुरा-सेवी थे। सुरा सोम के अतिरिक्त, अन्न से निर्मित एक स्वतत्र मादक पेय था (ऋ० १०।१०७।९)। जन्हुदेश मे (जौनपुर-टिहरी गढवाल) आज भी अन्न से निर्मित यह मादक पेय सुरा नाम से ही विख्यात है और वहाँ के निवासी स्त्री और पुरुष, आज भी वैदिक आर्यो की भाँति सत्तू मिला कर सुरा का सेवन करते है। सुरा जलो या ओषधियो के रस को भी कहते थे (शतपथ, १२-८-१,४)।

स्वर्ण धातु तथा ताँबे का प्रयोग—आर्यों के देश मे स्वर्ण का पर्याप्त प्रयोग प्रचलित था। ऋग्वेद के कई मत्रो मे स्वर्ण का वर्णन है (ऋ० १।१२६।२, ५।५३।४, ६।५४।११, ८।४६।२२, २।४६।२, १०।२६।१४)। सिन्धु नदी से स्वर्ण निकलने का उल्लेख है। इसीलिए आर्य अपने देश को हिरण्यगर्भा और सिन्धु को 'सिन्धु हिरण्यवर्तिनी' कहते थे (ऋ० ८।२६।१८,१०।७५८)। श्री राधाकुमुद मुकर्जी (**हिन्दू सभ्यता**, पृ० ७७) लिखते है कि सोना सिन्धु नदी से निकलता था, जिसे हिमवर्तिनी कहा गया है। पजाब की सिन्धु नदी के तट पर कही स्वर्ण निकलने का वर्णन नही मिलता। गढवाल मे अलकनंदा (सिन्धु) का तट सदियो से स्वर्ण के लिए विख्यात है। उसकी रेत धोने से स्वर्ण मिलता है। इसीलिए अलकनन्दा को हिरण्यवती या हेमवती भी कहते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ है कि गढवाल की ऋग्वेद की भूमि हिरण्यगर्भा सप्तसिन्धु और अलकनन्दा ही हिरण्यवर्तिनी सिन्धु नदी है। '**गढ़वाल गजेटियर्स**' (पृष्ठ १०) मे लिखा है कि

अलकनन्दा नदी से सोना निकाला जाता है। आज भी (सन् १९६८ में) साधारण श्रमिक चार आने मूल्य का स्वर्ण प्रतिदिन निकाल देता है। अटकिंसन भी (पृ० ५४३) गंगानदी के रेत धोने से, पर्याप्त स्वर्ण निकालने का उल्लेख करता है (जिसका आज दो रुपये से अधिक मूल्य है)। पुन 'गजेटियर्स' (पृष्ठ ११६) में लिखा है कि—मुगलकालीन इतिहासकार फरिश्ता के कथनानुसार गंगा और जमुना की जन्म-भूमि गढ़वाल के परम विस्तृत राज्य में रेत को धोने से पर्याप्त स्वर्ण निकलता था। वहाँ ताम्बे की भी खाने है। उस राज्य मे प्राचीन राज्यो द्वारा सचित ५६ स्वर्ण-कोष, जिन पर उनके स्वामियो के नाम की मोहरें लगी हैं, सुरक्षित हैं।

'केदारखड' ३७ मे अलकनन्दा के इस क्षेत्र को सुवर्ण-भूमि भी कहा गया है। 'महाभारत' (सभापर्व ५२) में पाडवो के राजसूय यज्ञ मे, हिमवन्त के खस और तगणो (चमोली के निकट वर्तमान टगणी चट्टी के आस-पास के निवासियो) द्वारा कई द्रोण स्वर्ण भेंट देने का उल्लेख है। अश्वमेध यज्ञ में युधिष्ठिर के रिक्त-कोष की पूर्ति के निमित, ऋषिवर व्यास उन्हे हिमालय मे राजा मरुत द्वारा छोडी हुई अगाध धन-सम्पत्ति लाने का आग्रह करते है। जनश्रुति के अनुसार लामबगड मे बदरीनाथ के निकट राजा मरुत ने यज्ञ किया था। वहाँ खुदाई करने पर जला हुआ चरु मिलता है। 'महाभारत' (अश्व ६५।२०, २१, ऋग्वेद ५।५२ मत्र ६, १०, १७) मे मरुत को गो-अश्व आदि समूहात्मक धन-सम्पत्ति (जिसको गढ़वाली आज भी धन-वयन कहते है) का स्वामी कहा गया है। उसका राज्य यमुना-तट पर (ऋ०५।५२।१७) परुष्णी नदी के आस-पास (ऋ० ५।५२।६) गिरि-कन्दराओ वाले पर्वत-प्रदेश मे था (ऋ० ५।५२।१०)। वही अनितमा, रसा, कुर्मा, सिन्धु और सरयू भी प्रवाहित होती थी (ऋ० ५।५३।६)। उसी क्षेत्र मे गोमती के तीर पर हिमवान् पर्वत-प्रान्त मे रथवोति ऋषि का भी निवास था (ऋ० ५।६१।१६)। मरुत रुद्र के पुत्र थे (ऋ० ८।२०।१७, ८।२०।२, ५।६०।२, ५।५७।६ नागपुर (गढवाल) के रुद्रप्रयाग और रुद्रनाथ में रुद्र के प्राचीन मन्दिर हैं। रुद्र पुत्र मरुत का निवास-स्थान अत्यन्त उन्नत पर्वत-प्रदेश में था (ऋ० ८।१३।२६)। ८।७।५, ७, ८।२०।१)। मरुतो को अश्व प्रिय थे। वे प्राय अश्वो से युक्त रहते थे (ऋ० ८।२७।६)। सम्भव हैं कि वे मरुत वर्तमान मार्च्छा जाति के पूर्वज थे। 'महाभारत' के अनुसार ऊशीरवीज नामक स्थल पर उत्तराखड मे हिमालय के पास, उत्तर दिशा की ओर महाराज मरुत का यज्ञ हुआ था (वनपर्व १३६।१, उद्योग १११।२३)। बदरीनाथ के क्षेत्र मे 'कचनगगा' नामक एक सरिता है जो सुमेरु पर्वत से निकल कर बदरीनाथ से दो मील पर अलकनन्दा मे मिलती है।

कहते हैं उसमें स्वर्ण मिलता है, लोग अब भी छानते हैं (**कल्याण**, अप्रिल, ६२)।

'**रघुवंश**' के पाँचवें सर्ग में कालिदास ने भी अलकापुरी के अधीश्वर कुबेर द्वारा (जिन्हें पुराणो मे देवताओ का कोषाध्यक्ष कहा गया है) दिग्विजयी रघु के रिक्त-कोष मे स्वर्ण बरसा कर इस प्रदेश को हिरण्यगर्भा घोषित किया था। '**केदारखण्ड**' मे इसीलिए इस भूमि को स्वर्ण भूमि भी कहा गया है (तस्मिन्देशे महादेवि स्वर्णभूमि महाप्रिये)। ऋग्वेद मे सोने के आभूषणो का भी वर्णन है। वे कानो में कुण्डल पहनते थे ऋग्वेद (१।६८।३,१।१२६।२) मे निष्को (स्वर्ण-मुद्राओ) का भी उल्लेख है। मडल २ मत्र ३३ मे निष्को की माला (निष्कग्रीव २।३३। १०) पहनने का भी वर्णन मिलता है। आज भी गढवाली स्त्रियो को कानो में कुण्डल एव सोने-चाँदी के रुपये, दुअन्नी और चवन्नियो की माला बना कर गले मे पहिने हुए देखा जा सकता है।

स्वर्ण-धातु के बाद ऋग्वैदिक आर्यों द्वारा ताम्बे, जिसको वे (अयस) एवं लोहित अयस, लाल रग का लोहा (ऋ० ११।३।१,७) कहते थे, का पर्याप्त प्रयोग प्रचलित था। ताम्बा यहाँ पर ३००० वर्ष ई० पू० के भी पुराने शहरो मे मिला है। ताम्बा भारतवर्ष मे अत्यन्त प्राचीनकाल से निकाला जाने लगा था और काम मे आने लगा था (डा० रा० कु० मुकर्जी **हिन्दू-सभ्यता**, पृ० ८)। गढवाल मे धनपुर, नागपुर और दशोली मे ताम्बे की अनेक खानें हैं, जिनसे गढवाल-राज्य के पतन के समय भी गोरखो के शासन-काल तक राज्य को केवल ताम्बे की खानो से ५० हजार की वार्षिक आय निश्चित थी (**गढवाल गजेटियर्स**, पृष्ठ ८)। खनिज-पदार्थों मे केवल तीन ही धातुओ का प्राचीन काल मे यहाँ बाहुल्य था। चाँदी यहाँ नही होती यह सर्वविदित है। ऋग्वेद मे भी चाँदी का वर्णन नही पाया जाता है।

वैज्ञानिको का मत है कि सबसे पहले जो धातु मनुष्य को मिली, वह सोना था। किन्तु उसने उससे पहले ताम्बे का उपयोग करना सीखा। करीब आठ हजार वर्ष से ताम्बे का उपयोग आरम्भ हो गया था (**हिन्दी विश्व-भारती**, पृष्ठ ८२)। '**केदारखण्ड**' (८०।४१) मे यहाँ स्वर्ण-धातु का घर कहा गया है। उसके बाद सीधे ताम्बे की खानो का उल्लेख है। चाँदी का कही उल्लेख नही है (स्वर्णादिधातुनिलयास्तथा ताम्रमया नगा)। ऋग्वैदिक आर्य इन्ही धातुओ से परिचित थे।

यद्यपि गढवाल की पट्टी बछरणस्यूं इडिया कोट, क्वीली भरपूर और कुजणी मे लोहे की खानें भी थी। परन्तु गढवाल मे प्राचीन काल से ताम्बे का सबसे अधिक प्रचलन था। स्वय मैदानी प्रान्तो पर उसके सोने और ताम्बे की धाक

थी। 'गढ़वाल गजेटियर्स' के अनुसार राज्य को इन खानों से पचास हजार वार्षिक आय थी। आज से तीस-पैंतीस वर्ष पूर्व, गढ़वाली जनता के पास ताम्बे को वस्तुएँ इतने परिमाण में उपलब्ध थीं कि वे अपने विवाह आदि में इन्ही के विनिमय द्वारा निर्विघ्नतापूर्वक अपनी कई कठिन आर्थिक समस्याओ का समाधान कर लेते थे। आज तक भी उस ताम्बे के बृहदाकार बर्तन-भाँडे तथा अन्य सामग्री अनेक घरो में सुरक्षित है।

"उत्तराखड के दक्षिणी भाग में हरिद्वार, ऋषिकेश, लक्ष्मनझूला तक का प्रदेश जो प्राचीन काल में गगाद्वार क्षेत्र कहलाता था, अत्यन्त प्राचीन काल से मानव की क्रीडा-भूमि रहा है। १९५१ मे यहा हरिद्वार से ८ मील पश्चिम की ओर बहादराबाद नामक स्थान पर गगा जी की नहर की उपशाखा खोदते समय मजूरो को ताम्रयुगीन वस्ती के अवशेष मिले थे। मजूरो को वहाँ ताम्बे की अनेक रोचक वस्तुएँ प्राप्त हुई थी, जिनमे बेंट या बिना बेंट वाले भाले, कुल्हाडियाँ, तलवारें, भालो की कुन्देवाली नोकें आदि मुख्य थी। यहाँ ताम्बे के कुछ कडे और कुछ चित्राकन भी मिले थे। तेईस फीट नीचे दबी हुई, गगाद्वार सस्कृति आज से कम-से-कम चार सहस्र छ सौ वर्ष पूर्व की मानी जा सकती है।" (**उत्तराखंड का इतिहास**, पृ० ५४-६०)।

राज्य-व्यवस्था

ऋग्वैदिक युग की भाँति प्राचीन गढवाल में राजा का, जो राष्ट्रपति कहलाता था, निर्वाचन बहुत-कुछ प्रजातांत्रिक-शासन प्रणाली की तरह होता था (ऋ० १०।१७३।१)। गाँवो मे राष्ट्रपति (राजा) को उचित परामर्श देने के लिये (ऋ० १०।९७।६) सर्वत्र सभा-समितियाँ एव न्याय-पचायते स्थापित थी। अग्रेजो के आगमन से पूर्व तक यहाँ गाँव-पचायतें प्रचलित थी, जिनके द्वारा प्रजा को अनेक राजकीय अधिकार एव सुविधाएँ सुलभ थी। राजा को ईश्वर का अश और पचो को पच परमेश्वर कहा जाता था। आज भी विशाल प्रस्तर-खडो से निर्मित प्राचीन काल के वे पचायती चबूतरे जिन्हें 'थर्प' कहा जाता है, और जिनमे उस युग मे गाँव-पचायतो की बैठकें बैठती थी, ग्रामीण-क्षेत्रो में सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। उन ग्राम-पचायतो को राज्य द्वारा प्रमुखता प्राप्त थी। उन गाँव-पचायतो द्वारा प्रत्येक प्रकार के वादों का निर्णय होता था। अपराध की अस्वीकृति पर हरिवश उठाकर शपथ दिलायी जाती थी (**बैटन रिपोर्ट**, पृ० २७)। **अन० डब्ल्यू० पी० सेनसेज रिपोर्ट** (१९११, भाग १, पृ० ३४५) के अनुसार प्राचीन काल से अब तक कुमाऊँ के

ग्रामीण क्षेत्रो में सर्वत्र न्याय-पचायतो की व्यवस्था स्थापित थी। जी० आर० सी० विलियम्स 'मेम्योयर्स ऑव देहरादून' (१८७१, पृ० ६२) में लिखते हैं कि प्रत्येक मामले यहाँ पंचायतों द्वारा निर्णीत होते थे। आज से कुछ समय पूर्व तक पचायतें शासन द्वारा अनेक प्रशासकीय अधिकारों से अधिकृत थी। व्यावहारिक दृष्टि से यह प्रदेश आज भी उनके द्वारा शासित हैं। मौटेनियर अपनी 'हिमालय की एक ग्रीष्म-यात्रा' (पृ० १६६) मे लिखता है कि—गावो के प्रत्येक विवाद यहाँ ग्राम-पचायतो द्वारा निर्णीत होते है। प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को उसमे बोलने का अधिकार है और वह इसके लिये पचायतो द्वारा आमन्त्रित भी होता है।

डॉ० हेमचन्द्र जोशी ने (त्रिपथगा, जनवरी ५८) मे अनेक प्रमाणो द्वारा ऋग्वेद-काल मे उत्तर कुरु (गढवाल) मे गणतत्र-शासन-प्रणाली प्रमाणित की है। वे लिखते हैं

महाभारत-काल तक उत्तर कुरु मे न तो राजा था, न पुलिस, न कोतवाल। प्रजा धर्म मे रत थी और इसी धर्म के सहारे एक-दूसरे की रक्षा करती थी। इतना तो इस लेखक ने कुमाऊँ के पहाडो मे देख रखा है कि मकानो पर ताले नही पडते थे। चोरी का नाम न था। अतिथि की सर्वत्र आवभगत थी। कुमाऊँ भी कभी उत्तर कुरु मे था। कुछ झलक मैंने भी उत्तर कुरु मे धर्म राज्य की देखी थी। उस समय घी तीन सेर का था। घी-दूध की नदियाँ बहती थी। 'खस-कुटुम्ब-पद्धति' (पृ० २३) मे डॉ० जोशी भी लिखते है कि—इस देश मे ईमानदारी और बहादुरी अत्यधिक हैं। इनकी ईमानदारी तो लाजवाब ही है।

'विष्णु पुराण' मे इस प्रदश की प्रजा को इसीलिए स्वस्थ्य, आतकहीन और समस्त दु खो से रहित कहा गया। 'मनुस्मृति' (२।१७) मे इस पावन प्रदेश को ब्रह्मावर्त्त एव देवनिर्मित देश कहा है। ऐसा देश जिसकी ऐसी आदर्श प्राचीन परम्पराएँ और आचार-विचार हैं, जिनको सदाचार कहते हैं। यहाँ से उत्पन्न ब्राह्मणो से पृथ्वी के सब मनुष्य सदाचार की शिक्षा ग्रहण करते थे

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन।
स्व स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानवा.॥

प्राचीन काल से लेकर आज तक अन्य भू-भागो की अपेक्षा यहाँ की प्रजा अधिक स्वस्थ, सदाचारी, आतकहीन और सुखी थो। चोरी, लूटमार, छल और कपट का सर्वत्र अभाव था। 'गढ़वाल गजेटियर' (पृ० ६६) मे वाल्टन लिखता है कि—इनकी ईमानदारी लाजवाब है। इनकी मौखिक लेन-देन भी अविवादास्पद

होती है। यहाँ चोरी का नाम-ही-नाम है, परन्तु उसको किसी ने कार्य-रूप में परिणत किया हो, यह सर्वथा अज्ञात है। अंग्रेजी राज्य के प्रारम्भ तक गढ़वाल अपनी उच्च नैतिकता, ईमानदारी और सच्चाई में अद्वितीय था। ट्रेल जो सन् १८२१ ई० में गढ़वाल के प्रथम कमिश्नर थे, लिखते है चोरी का सर्वथा अभाव एवं गढ़वाली लोगो की अत्यधिक नैतिकता यहाँ पुलिस की नियुक्ति अनावश्यक कर देती है। १८३९ ई० में बैटन डिप्टी-कमिश्नर भी इसका समर्थन करता है। लिखता है यहाँ के लोगो का पारस्परिक व्यवहार ईमानदार और विश्वसनीय है। अपने आर्थिक-सम्पर्क मे भी यहाँ ग्रामीणो को किसी लिखत की आवश्यकता नही पडती। दोनो पक्षो द्वारा केवल हाथ मिला कर ही, किसी भी ठेके की स्वीकृति हो जाती है। जिसकी पूर्ति किसी भी सरकारी लिखत की भाँति, निश्चित रही है (**गढ़वाल-एनशिएन्ट ऐन्ड मोडर्न**, पृ० १२६)। श्री सान्याल **'महाप्रस्थान के पथ पर'** (पृ० १५) मे लिखते है .

"इस मार्ग मे सभ्य समाज के समान चोरी-डकैती आदि कुछ नही होती। इस दृष्टि से इस ओर यात्री निरापद रहता है। कुली विश्वासी, नम्र और सीधे-सादे होते हैं। पैसे के लिए उनमे मोह होता है, किन्तु उसके लिये दुष्प्रवृत्ति नही होती। वे विवाद करेंगे पर धूर्तता नही करेंगे। वे गरीब होते हैं, किन्तु गरीबी उनके हृदय को कलुषित नही करती। वे वित्तहीन है पर चित्तहीन नही।"

डॉ० हीवर १८२४ ई० मे लिखते है कि—इनमे अधिक ईमानदार और शान्त जाति विश्व भर मे शायद ही कही मिलेगी।

सामाजिक आचार-विचार और रीति-रिवाज

यहाँ के अधिकाश आचार-विचार हिन्दू-समाज के अनुसार बने हुये हैं। वैवाहिक रीति-रस्म हिन्दू-कानून सम्मत न होते हुए भी प्राचीन आर्य-शास्त्रो द्वारा प्रतिपादित हैं। उनके आचार-विचारो मे, सामाजिक रीति-रस्मो मे हिन्दू-जगत के अनेक सामाजिक, धार्मिक एव राजनीतिक परिवर्तनो के बावजूद आर्यावर्त्त मे पहुँचने से पूर्व वे प्राचीन आर्य-परम्पराएँ अधिकाश सुरक्षित है। पन्नालाल और यल० डी० जोशी आदि कानून-निर्माताओ ने जिन 'टेकवा', 'भौजेटिया,' 'घरजवाँई,' 'जेठुडा,' 'सौतियावाँट,' और 'टके का ब्याह' आदि प्रथाओ के कारण इन्हे हिन्दू-लौ से बाहर अहिन्दू एव अवैदिकी प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है, वे समस्त प्रथाएँ नवीन हिन्दू नीतिशास्त्रो द्वारा स्वीकृत भले ही न हो प्राचीन आर्यशास्त्रो द्वारा प्रतिपादित हैं। इसमें स्पष्ट है कि गढवाल के आदि निवासी आर्यों का आर्यावर्त्त मे पहुँचने से पूर्व ही अपने सजातीय आर्यों से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया था। ऋग्वेद (१०।८५।४५,

१०।४०।२।, १०।१८।७,८) के अनुसार देवर को अपनी विधवा भावज के साथ दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित करने एव उत्तराधिकारी बनने का उपदेश है। यास्काचार्य ने 'निरुक्त' मे देवर को इसीलिए द्वितीय वर लिखा है (देवर कस्माद्, द्वितीयो वर उच्यते)। ऋग्वेद की इसी सम्मति के आधार पर देवर और भावज के दाम्पत्य सम्बन्ध से, गढवाल में टेकवा एव भौजेटिया आदि सम्बन्धो की सृष्टि हुई है। देवर के लिए यहाँ आज भी वे अधिकार कानूनो मे सुरक्षित है। डाक्टर जोशी के कथनानुसार टेकवा नियोग है। विधवा अपने पति के घर पर रहकर जिस देवर के साथ दाम्पत्य-सम्बन्ध स्थापित कर संतानोत्पत्ति करती है, उसको गढवाल में 'टेकवा' कहते हैं और देवर-भावज के दाम्पत्य सम्बन्ध से उत्पन्न पुत्रो को 'भौजेटिया' कहने हैं। टेकवा विधवा का प्रबन्धक, सरक्षक और प्रेमी होता है, जिसको विधवा किसी भी समय पृथक् कर सकती थी। आज तो टेकवा प्रथा का सर्वथा लोभ हो गया है।

पति की मृत्यु के उपरान्त ही नही, वरन् उसके जीवनकाल मे पति की स्वीकृति से टेकवा द्वारा अपनी पत्नी से सन्तान उत्पत्ति का हिन्दू शास्त्रानुसार दस्तूर था। स्मृतिकार मनु, वशिष्ठ, गौतम, नारद और विष्णु इसे अनुचित नही समझते। गढवाल मे भी टेकवा द्वारा उत्पन्न सन्तान धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर की भाँति टेकवा (व्यास) की नही, वरन् मृतक पति की क्षेत्र सन्तति समझी जाती थी और इसीलिए उसी की सम्पत्ति की अधिकारिणी भी होती थी। हिन्दू-स्मृतियो के आधार पर केवल 'देवर' ही टेकवा बनाने का अधिकारी था, परन्तु उसकी अस्वीकृति एव अभाव मे अपने जेष्ठ, भीष्म के अतिरिक्त सुदूर सम्बन्धी जेष्ठो से भी धृतराष्ट्र, पाण्डु, विदुर एव पाँचो पाण्डव उत्पन्न किये जा सकने थे। परन्तु आज गढवाल मे विधवा भावज मे दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार केवल देवर को ही है। इस प्रकार हिन्दू लौ से बाहर गढवाल की विधवा भावजो मे दाम्पत्य-सम्बन्ध टेकवा और भौजेटिया आदि की परम्परा वेद और स्मृति-ग्रन्थो पर आधारित है (मनु ९।५८)।

घरजँवाई और जेठुडा प्रथा

पुत्र के अभाव मे पुत्रहीन मनुष्यो को पुत्रिका-संस्कार द्वारा अपनी पुत्री को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करने का, शास्त्रीय विधान है। गढवाल में 'घरजंवाई' की यह प्रथा मनु द्वारा प्रतिपादित है (मनु ९।१२७ से १३६)। वशिष्ठ ने (१७।१६) वेदमन्त्रो के उद्धरण देकर इसकी पुष्टि की है। इसी प्रकार मनु ने (९।११२) पृथक्-पृथक् होने से पूर्व, पैतृक सम्पत्ति का बीसवाँ भाग

और वस्तुओ में सर्वोत्तम वस्तु जेष्टाश के रूप मे बडे भाई को देने का आदेश दिया है। स्मृति-ग्रन्थो द्वारा प्रतिपादित यही जेष्ठाश गढवाल मे 'जेठुडा' प्रथा की आधार शिला है।

सौतिया बाँट

आज से पचास-साठ वर्ष पूर्व तक गढवाल मे पैतृक सम्पत्ति को पत्नियो की सख्या के अनुसार बराबर-बराबर विभाजित करने की प्रथा भी प्रचलित थी। इसी को 'सौतिया बाँट' कहते हैं। आज भी कई गाँवो में इसके प्रत्यक्ष प्रमाण सुरक्षित हैं। यह वैदिक युग की मातृ-प्रधान प्रथा के अवशेष हैं। राहुल 'कुमाऊँ' (पृ० १६१) मे डॉ० यल० डी० जोशी भी अपने 'खस-फेमली-लौ' (पृ० २६०) मे इसका अस्तित्व स्वीकार करते है। मातृप्रधान-प्रथा की यह परम्परा स्मृति-ग्रन्थो द्वारा सम्मानित रही है। इसी आधार पर स्मृतिकारों ने मामा-भानजा आदि मातृ-पक्ष के सदस्यो को अपने धार्मिक एव पितृ-कार्यों मे विशेष आदर देने का आदेश दिया है। मातृप्रधान युग की परम्परानुसार स्त्री राज्य का ऐतिहासिक अस्तित्व प्रमाणित है। चीनी यात्री ह्वेन-त्साँग ने हरिद्वार से ऊपर, ब्रह्मपुर के उत्तर मे, स्त्री राज्य का उल्लेख किया है। ऋग्वैदिक काल मे भी मातृ-महत्व की प्रमुखता प्रमाणित हैं। देव और असुर एक ही प्रजापति के पुत्र थे, परन्तु इस युग मे भी पिताओ के नाम पर नही, वरन् माताओ के नाम पर वश-परम्परा प्रतिष्ठित हुई। माताओ के नाम पर देव और दानवो का वश चला। अदिति के आदित्य, दनु के दानव, दिति के दैत्य और कद्रू के नाग हुए। सौतियाबाँट की इसी वैदिक परम्परानुसार देव और दानवो के बीच राज्य का विभाजन किया गया। सप्तसिन्धु का उत्तर गिरि अलकनदा पार दिति के पुत्र दैत्यों को और दक्षिण गिरि-प्रदेश अदिति के पुत्र आदित्यो को प्राप्त हुआ। पुराणो द्वारा स्थान-स्थान पर इस विभाजन की पुष्टि है।

दक्षिण भारत मलाबार क्षेत्र मे यह प्रथा आज भी प्रचलित है। वहाँ भी पत्नियो की सख्या के अनुसार पैतृक सम्पत्ति के समान विभाजन को पत्नि-भाग कहते है। पत्नि-भाग का शब्दार्थ स्पष्टत सौतियाबाँट है। आर्यों के आदि देश सप्तसिन्धु 'ब्रह्मावर्त्त' से वह मातृ-प्रधान परम्परा, जलप्लावन के अवतरण के बाद, जब ऋग्वैदिक ऋषि अगस्त्य के नेतृत्व में आर्यों का अभियान, ब्रह्मावर्त्त से, आर्यावर्त्त से, होता हुआ दक्षिण की ओर भी अग्रसर हुआ, दक्षिण देश को भी चली गयी।

विवाह-पद्धति

गढवाल में अनेक प्रकार की विवाह-पद्धतियाँ प्रचलित है। आर्य-ग्रन्थो मे ऐसे अनेक सम्बन्धो का उल्लेख है। परन्तु पन्नालाल और डॉ० यल० डी० जोशी गढवाल के इन विवाहो को हिन्दू-विवाह-पद्धति के अन्तर्गत नही मानते। यद्यपि आर्य-ऋषियो द्वारा प्रतिपादित आठ प्रकार के विवाहो मे से चार विवाहो मे वैदिक विधि से विवाह-सस्कार सम्पन्न नही होते हुए भी, वे आर्यशास्त्रो द्वारा सम्मानित एव मान्यता-प्राप्त है, तो भी गढवाल के सब प्रकार के विवाहो को समाज मे समान स्थान प्राप्त करने के लिये देर-सबेर, पिता या पति के घर पर विधिवत् सप्तपदी सस्कार करना अनिवार्य है। स्टौवल इसे स्वीकार करता है। कहता है कि—"सप्तपदी का आवश्यक सस्कार सदैव सम्पन्न किया जाता है।" पन्नालाल भी दबी जबान से अपने 'कुमाऊँ कस्टमरी लौ' मे इसे स्वीकार करता है। कहता है—"सप्तपदी सस्कार यद्यपि सदैव सम्पन्न किया जाता है परन्तु आवश्यक नही।" सप्तपदी सस्कार के लिए वर-वधु की ओर से पर्याप्त धन व्यय किया जाता है। यदि यह सस्कार अनिवार्य न होता तो कोई इतना व्यय-भार वहन करने के लिये सहर्ष तैयार न होता। इस तथ्य को पन्नालाल सर्वथा नजर-अदाज कर देता है।

पन्नालाल और डॉ० यल० डी० जोशी (पृ० ११७) 'टके के विवाह' को कन्या विक्रय घोषित करते हैं, जो सरासर निराधार है। विक्रय करने के बाद उस वस्तु के प्रति विक्रेता के सम्पूर्ण सामाजिक, धार्मिक एव आर्थिक सम्बन्ध समाप्त हो जाते है। परन्तु टके का आदान-प्रदान होते हुए भी जिन विवाहो मे पिता-पुत्री के पीढियो तक समस्त लौकिक-पारलौकिक सम्बन्ध सुरक्षित रहते है, विधिवत् सप्तपदी सस्कार आयोजित होता है, उसको कन्या विक्रय कहना मूर्खता है। यल० डी० जोशी टके के ब्याह को आसुर विवाह कहते है, जो गलत है। आसुर-विवाह उस विवाह को कहते है, जो वधू के माता-पिता को धन देकर बिना विधिवत् विवाह सस्कारो के स्वच्छन्दतापूर्वक (मनु ३।३१) सम्पन्न होते है। कन्या-विक्रय इन्ही स्वच्छन्द एव सस्कारच्युत विवाहो के अन्तर्गत आता है। परन्तु टके के ब्याह मे पति के घर दृढतापूर्वक वैदिक सस्कार होते हैं, विधिवत् शास्त्र-सम्मत सप्तपदी सम्पन्न होती हैं। आर्य-विवाह में वर से एक या दो जोडे बैल लेने के लिये कन्या के माता-पिता शास्त्रो द्वारा अधिकृत हैं।

इसमे कोई सन्देह नही कि आठ प्रकार के विवाहो में से चार अंतिम विवाहों मे कन्यादान सम्भव नही है। टके के ब्याह मे भी कन्या के माता-पिता द्वारा कन्यादान नही होता। परन्तु विवाह से कन्यादान का कोई सम्बन्ध नहीं है।

आर्यधर्मानुसार विधिवत् सप्तपदी-सस्कार पत्नीत्व का कारण है ।

दान के आध्यात्मिक एव सामाजिक अर्थों मे कन्यादान का कोई स्थान नहीं है । वस्तुत कन्यादान दान ही नहीं है । कन्या पर माता-पिता का स्वामित्व नहीं है । वे उसके उपभोक्ता नही हो सकते । वे कन्या को किसी-न-किसी अन्य व्यक्ति को देने के लिये विवश हैं । जिस वस्तु को हम दूसरो को देने के लिये विवश हैं, जिसका हम स्वय उपभोग नही कर सकते, वह हमारी वस्तु नही, पराई है, और पराई वस्तु को दान करने का हमें कोई अधिकार नहीं है । कन्यादान करने के बाद भी कन्या के साथ हमारा पितृत्व एवं कन्यात्व सम्बन्ध पूर्ववत् सुरक्षित रहता है । यदि कन्यादान दान होता तो दान के पश्चात् कन्या के साथ, दाता के समस्त सामाजिक, धार्मिक एव आर्थिक अधिकार समाप्त हो जाते, परन्तु कन्या के साथ कन्यादान के बाद भी, माता-पिता के लौकिक ही नही,वरन् पारलौकिक सम्बन्ध भी पीढ़ियो तक सुरक्षित रहते है । टके का ब्याह तो अंतिम चार निन्दनीय विवाहों से अधिक शिष्ट तथा सम्माननीय है, परन्तु अंतिम चार निन्दनीय विवाहो के अन्तर्गत, सीता-द्रौपदी-स्वयम्वर, शकुन्तला-दुष्यन्त का गाधर्व-विवाह एव अनेक आर्य-नरेशो द्वारा कई राजकुमारियो के पाणिग्रहण के जो हमारे आर्य-ग्रन्थो में अनेक उदाहरण है, उनमें सप्तपदी एवं विधिवत् विवाह-सस्कारो का कही उल्लेख न होने पर भी, उनके द्वारा उत्पन्न सतति को आर्य-जगत् में सर्वोच्च सम्मान मिला है ।

गढवाल मे प्रचलित उपर्युक्त रीति-रस्म हिन्दू-कानून से सर्वथा अप्रभावित क्यो रहे ? बाहर के नये हिन्दू-ससार के सामाजिक-धार्मिक परिवर्तनों का उनकी दिनचर्या पर क्यो प्रभाव नही पडा ? इसका कारण यह है कि जलप्लावन के अवतरण पर, जब आर्य अपने आदि देश ब्रह्मावर्त्त को छोडकर आर्यावर्त्त में बस गये तो वर्तमान गढ़वालियो के अधिकाश पूर्वज अपने आदि देश में ही अपनी प्राचीन आर्य-परम्पराओ का अधिकांश पालन करते हुए, रह गये। यद्यपि आर्यावर्त्त के गत हजारों वर्षों के सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों से वे भी पूर्णत. अछूते नही रहे, परन्तु यहाँ की विषम पर्वतीय परिस्थितियो के कारण, उनकी ऋग्वैदिक परम्पराएँ, नये हिन्दू ससार से अधिकांश अप्रभावित रहीं । डॉ० यल० डी० जोशी भी इस मत के समर्थक है । वे अपने शोधग्रन्थ 'खस-फेमली-लौ', (पृ० ३१०–१२) मे लिखते है

"गढवाल के खसियो की कुटुम्ब-पद्धति आदिकालीन आर्यों के कौटुम्बिक सगठन की परिचायक है । वे उन धार्मिक विचारों से सर्वथा अप्रभावित हैं, जो बाद के बने हिन्दू-नीति-शास्त्रो में पाये जाते है । इस प्रकार अर्वाचीन हिन्दू-सिद्धान्तो से सर्वथा अछूता रहने का कारण यह है कि गगा-क्षेत्र मे बसने पर,

ब्राह्मण-युग के बाद आर्यावर्त्त के आर्यों में जो शक्तिशाली सांस्कृतिक उथल-पुथल हुई, वे उससे पूर्व ही पृथक् हो गये थे। हमारे समक्ष इस विश्वास के पर्याप्त कारण है कि गढवाल के वर्तमान खसिये वैदिक आर्यों की आदि शाखा है।"

दस्यु या दास

गढवाली हरिजनो मे एक जाति 'दास' कहलाती है, जो वैदिक दस्यु से मेल खाती है। दस्युओ को ऋग्वेद मे दास भी कहा गया है (ऋ० १०।२२।८)। इसका वर्ण काला था (ऋ० ७।५।३)। डब्ल्यू० क्रुक अपनी **'दि ट्राइब ऐण्ड कास्टस ऑफ नौर्थ-वेस्ट-प्रोविन्स'** (द्वितीय भाग, पृ० ३३२) में लिखते है कि—इस प्रान्त के पर्वतीय प्रदेश मे दास भी है, जिन्हे वेद के दस्युओ की सतान कहा जाता है और जिनका नाग या खसो के आगमन से पूर्व उत्तर भारत पर प्रभुत्व स्थापित था। डॉ० यल० डी० जोशी (पृ० १२ मे) उन्हे इन पर्वत-प्रदेशो के आदि निवासी, जिन्हे खसियो ने पराजित करके दास बनाया है, बतलाते है। बहिष्कृत वस्तुत सस्कारच्युत होने के कारण आर्यो की इस शाखा को दास कहा गया है। जिनको प्रायश्चित स्वरूप द्विजो की दासवृत्ति से जीवन-निर्वाह करना अनिवार्य था (ऋ० १०।६२।१०)। वैदिक युग में आर्य-सभ्यो के नाम दिवोदास, सुदास भी थे तथा दस्यु नामक ऋषि ऋग्वेद के मत्रद्रष्टा थे। दस्युओ और असुरो की नामावली से भी यह प्रमाणित नही होता कि वे आर्यों से भिन्न किसी असस्कृत जाति के वशज थे।

ऋग्वेद (१।५१।८) के अनुसार उन आर्यों को जो दस्यु है, अलग-अलग पहचानो और जो धार्मिक कर्म करते, उनको दड देते हुए यज्ञ करने वालो के अधीन करो! इससे स्पष्ट है कि दस्यु अन्यव्रते, अवृता, कर्महीना, अयाज्ञिक आर्यो को कहते थे। **'ऐतरेय ब्राह्मण'** मे लिखा है कि आर्य-ऋषि विश्वामित्र ने अपने ५० अवज्ञाकारी पुत्रो को दस्यु घोषित कर दिया। मनु स्पष्ट कहते है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की जो जातियाँ क्रियालोप से बाह्य हो गयी है, चाहे म्लेच्छ भाषा बोलें या आर्य-भाषा, वे दस्यु कहलाती है

मुखबाहूरूपज्जाना या लोके जातयो बहि·।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाच सर्वे ते दस्यव· स्मृता ॥

कुछ विद्वानो का यह कथन है कि कृष्ण वर्ण के दस्यु हिमालय के आदि निवासी नही हो सकते, सत्य है, परन्तु वे हिमाच्छादित पर्वतवासी भले ही न हो, गिरि-प्रदेश गढवाल के निवासी हो सकते है, क्योकि गढ़वाल के समस्त

भाग हिमाच्छादित नही रहते। यहाँ की जल-वायु जहाँ उन्नत पर्वत-प्रदेश मे अत्यधिक शीतप्रधान है, वहाँ गहरी गिरि-उपत्यकाओ मे अधिक उष्ण भी है। कृष्ण वर्ण के व्यक्ति अनार्य जाति के होते हैं, यह कथन निराधार है। उन्नत पर्वत प्रदेशो मे जहाँ केवल द्विजो मे ही नही, वरन् शूद्रो मे भी गौर वर्ण के लोग पाये जाते है, वहाँ गिरि-उपत्यकाओ मे द्विजातियो मे भी कृष्ण वर्ण के लोग होते है। कृष्ण वर्ण के लोग अनार्य जाति के थे, यह कथन सर्वथा निराधार और असगत है। आर्य जाति के आराध्य राम और कृष्ण का वर्ण काला था। द्रोपदी कृष्ण वर्ण की थी। कृष्ण वर्ण होने के कारण महर्षि व्यास को कृष्ण द्वैपायन कहा गया था। वस्तुत कई प्रकार की जल-वायु होने के कारण गढवाल की समस्त ऊँच-नीच जातियो मे श्वेत, श्याम, ताम्र एव पीत वर्ण के व्यक्ति पाये जाते है। केवल दस्यु ही नही, कण्व ऋषि कृष्ण वर्ण के तथा देवराज इन्द्र श्याम वर्ण के थे।

आर्य एक जातिवाचक शब्द है, यह स्थापना भी सर्वथा निराधार और अप्रामाणिक है। गोरे इतिहासकारो ने राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने के लोभ से अपने को रूप-रग के आधार पर ससार की अन्य जातियो से श्रेष्ठ प्रमाणित करने के लिए आर्यों की विशेष जाति की कल्पना की है, अन्यथा वेद और पुराणो मे आर्य एव अनार्य शब्द विशेषण मात्र थे। सप्तसिन्धु के निवासी अपने आदरास्पद ज्ञानवृद्ध एव वयोवृद्ध किसी भी श्रेष्ठ पुरुष को 'आर्य' एवं महिला को 'आर्या' तथा किसी अप्रिय एव अवाछित कार्य करने वाले को 'अनार्य' एव 'अनार्या' कहकर सम्बोधित करते थे। ऋग्वेद मे ३३ बार, सामवेद मे ३ बार और यजुर्वेद में १४ तथा अथर्ववेद मे १२ बार 'आर्य' शब्द का व्यवहार हुआ है और कही भी वह किसी जातिविशेष का सूचक नही है। समस्त आर्य-साहित्य में पौराणिक काल तक, 'आर्य' एव 'आर्या' शब्द द्वारा विशेष आदरसूचक सम्बोधन की ही परम्परा पायी जाती है। मनु ने भी आर्यावर्त्त के समस्त निवासियो को, वे कृष्ण तथा गौर वर्ण के ही क्यो न हो, वे देव हो या दानव, 'आर्य' कहा है। वाल्मीकि 'रामायण' मे जहाँ मन्दोदरी राक्षसराज रावण को आर्यपुत्र (६-१६-६) कह कर सम्बोधित करती है, वानरराज बाली की पत्नी बाली को आर्यपुत्र (४-१५-१८) और आर्य नाम से (४।१७।३०) पुकारती है, वहाँ आर्य नरेश दशरथ कैकेयी को 'अनार्या' कह कर भर्त्सना भी करते है (२।१६।१६)।



आर्यों की स्वर्गभूमि गढ़वाल

मुगल सम्राटो के शासनकाल के बाद केवल चार-पाँच शताब्दियो से विदेशी पर्यटकों द्वारा कश्मीर को पृथ्वी का स्वर्ग घोषित किया गया है। परन्तु प्राचीन काल मे लगभग सातवी शती से पूर्व, जब तक भारतवर्ष हिन्दुस्तान नही बना था, यह उत्तराखड प्रदेश, जो आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक रूप से सम्पन्न है, जहाँ सर्वत्र पर्वत-उपत्यकाओ मे स्थान-स्थान पर रग-बिरगे सहस्त्रो पुष्प-समूहो से अलकृत वन-उपवनो, शैल-शिखरो पर फैले हुये अनेक सुन्दर सरोवरो, भाँति-भाँति के पशु-पक्षियो, कल-कल प्रवाहिनी सरिताओ, तरु-लताओ एव बहुमूल्य सजीवनी जडी-बूटियो का बाहुल्य है, पृथ्वी का स्वर्ग कहलाता था।

आर्यों ने अपने आदि देश को सगर्व स्वर्ग की उपाधि से विभूषित किया है। वहाँ मंदाकिनी आदि नदियाँ बहती हैं, वहाँ स्वर्ग का द्वार है, वहाँ सोम होता है, वहाँ का राजा मनु है। आर्यगण ऋग्वेद मे प्रार्थना करते हुए कहते है

हे सोम ! जिस लोक मे वैवस्वत मनु राजा है, जहाँ स्वर्ग का द्वार है, और जहाँ मन्दाकिनी आदि नदियाँ बहती हैं, उस उत्तम लोक मे उन्हे अमर करो (ऋ० ६।११३।८)। इस ऋचा के उद्गाता कश्यप ऋषि स्वय हरिद्वार के निवासी थे।

ऋग्वेद की इस घोषणा मे चार तथ्यो का उल्लेख किया गया है। सबसे प्रथम सोम का उल्लेख है, जिसका उत्पत्ति-स्थान हिमालय का मुजावत नामक पर्वत है। मत्र के द्वितीय तथ्य के अनुसार जहाँ वैवस्वत मनु का राज्य है। वैवस्वत मनु (यम) ब्रह्मावर्त्त के राजा थे। उन्होने जलप्लावन के समय, गढवाल के दक्षिण गिरिप्रदेश से जहाँ उनका निवास स्थान एव प्रधान केन्द्र था, उत्तरगिरि की ओर, हिमालय के सर्वोच्च शैल-शिखर पर अपनी नाव बाँधने के लिये, सप्तर्षियो को लेकर प्रयाण किया था। मनु का यह 'मनोरवसर्पण' नामक सर्वोच्च शरणस्थल उन्ही के द्वारा प्रशसित देवनिर्मित देश ब्रह्मावर्त्त मे बदरीनाथ के निकट सरस्वती नदी के तट पर, वर्तमान माना (वर्ष) गाँव, जिसका पौराणिक नाम मणिभद्रपुर था, के आस-पास कही था। हिमालय के उत्तरगिरि के इसी पर्वतक्षेत्र मे एवरेस्ट के बाद, कामेट और माना शिखर नामक २५,००० फुट तक ऊँचे सर्वोच्च हिमाच्छादित शैल-शिखर हैं। इसका अर्थ है कि हिमालय के दक्षिण गिरि से लेकर उत्तर गिरि तक, गढवाल के समस्त पर्वत प्रदेश पर मनु का राज्य था।

मन्त्र के तीसरे भाग मे कहा गया है कि वहाँ स्वर्ग का द्वार है। वह स्वर्ग का द्वार कहाँ है। उसके सम्बन्ध में 'केदारखड' (१०६।४।५) का निम्नलिखित उद्धरण अवलोकनीय है। उसमे हरिद्वार से नीचे की भूमि को सामान्य भूमि, हरिद्वार से ऊपर की भूमि को स्वर्ग भूमि और हरिद्वार को स्पष्टत स्वर्ग द्वार कहा है, जिसके दर्शन मात्र से मनुष्य भव-बन्धनो से मुक्त हो जाता है

गगाद्वारोत्तर विप्र स्वर्गभूमि स्मृता बुधै ।
अन्यत्र पृथ्वी प्रोक्ता गगाद्वारोत्तर विना ॥
इदमेव महाभाग स्वर्गद्वार स्मृत बुधै ।
यस्य दर्शनमात्रेण विमुक्तो भवबन्धनै ॥

'महाभारत' (आदि पर्व १६६।२२) मे लिखा है कि—जिस क्षेत्र मे गगा जी अलकनन्दा के नाम से पुकारी जाती है, वही स्वर्ग है। आज भी हरिद्वार से ऊपर गगा जी अलकनन्दा नाम से पुकारी जाती है। पाँचो पाडवो के साथ अर्जुन ने वनवास-काल में बदरीकाश्रम के इसी गन्धमादन पर्वत क्षेत्रान्तर्गत स्वर्ग मे स्वर्गाधिपति इन्द्र से दिव्यास्त्र प्राप्त किये थे। पाँचो पाडवो ने स्वर्गारोहण के निमित्त भी, इसी स्वर्गभूमि की यात्रा कर मुक्ति प्राप्त की थी। महाराज युधिष्ठिर ने स्वर्ग त्रिविष्टप मे प्रवेश करने के बाद जिस देवनदी अलकनन्दा मे स्नान कर देवत्व प्राप्त किया था, 'महाभारत' (स्वर्गारोहण पर्व) के अनुसार वह पावन क्षेत्र यही है। स्वर्गाधिपति इन्द्र युधिष्ठिर से कहते हैं

एषा देवनदी पुण्या पार्थ त्रैलोक्यपावनी ।
अत्र स्नातस्य भावस्ते मानुषो विगमिष्यति ॥
गगा देवनदी पुण्या पावनीमृषि सस्तुताम् ।
अवगाह्य ततो राजा तनु तत्याज मानुषीम् ॥

ऋग्वेद के उक्त चौथे तथ्य मे कहा गया है कि जहाँ मदाकिनी आदि नदियाँ बहती हैं वही स्वर्ग है। इस दृष्टि से गढवाल के केदार क्षेत्र मे बहने वाली मदाकिनी के भौगोलिक अस्तित्व से ऋग्वैदिक आर्यों की स्वर्गभूमि की वास्तविकता पूर्णत प्रमाणित हो जाती है।

गढवाल की देवनदी सरस्वती का तट वैवस्वत मनु का शरणस्थल था। गढवाल की दूसरी और तीसरी देवनदियाँ, अलकनन्दा और मदाकिनी का तटवर्ती क्षेत्र पुरूरवा और उर्वशी की क्रीडा-स्थली भी था। पुरूरवा, वैवस्वत मनु की पुत्री इला से उत्पन्न बुध के पुत्र थे। बुध का निवासस्थान बधाण (बुध अयन) था। उर्वशी स्वर्ग की अप्सराओ मे से एक थी। वह ऋग्वेद के प्रसिद्ध 'पुरुष सूक्त' के ऋषि नारायण से उत्पन्न थी, जिनका आश्रम बदरी क्षेत्र मे नर-नारायण

आश्रम के नाम से आज भी प्रसिद्ध है। ऋषि नारायण ने उर्वशी को इसी क्षेत्र के अधिपति इन्द्र को समर्पित कर दिया था।

ऋग्वेद और पुराणो के अनुसार इन्द्र, बुधपुत्र पुरूरवा और उर्वशी का निवास-स्थान, गन्धमादन पर्वत और अलकनन्दा का तटवर्ती क्षेत्र था। आर्य साहित्य मे इसी क्षेत्र को पृथ्वी मे स्वर्ग की उपमा मे सम्मानित किया गया है। पुरूरवा की राजधानी प्रतिष्ठानपुर (जोशीमठ) थी। जिस प्रतिष्ठानपुर को वर्तमान इतिहास-लेखक इलाहाबाद (झूसी) के निकट बताते हैं, उसका ऋग्वेद युग मे अस्तित्व भी नही था। ऋग्वेद (१।३१।४) के अनुसार जिस स्वर्गभूमि मे अग्नि ने मनु को अनुगृहीत किया था, वह शीतप्रधान प्रदेश था।

'**विष्णपुराण**' (४।६।४८) मे भी लिखा है कि—पुरूरवा ने उर्वशी के साथ आनन्दपूर्वक अलकापुरी के अन्तर्गत सुन्दर पद्मो से अलकृत मानसरोवर और सरस्वती मे विहार करते हुए कई हजार वर्ष व्यतीत किये। '**केदारखण्ड**' (बदरीकाश्रम महात्म्य ५८।३६–३७) मे भी इसका उल्लेख हुआ है। वहाँ कहा गया है कि बदरीनाथ से पश्चिम आध कोश की दूरी पर सम्पूर्ण सुन्दरता प्रदान करने वाला उर्वशी कुड विद्यमान है। इसी कुड के निकट पुरूरवा ने पाँच वर्ष तक तिरछी चितवन वाली उर्वशी से रमण कर पुत्र उत्पन्न किये थे।

महाकवि कालिदास ने भी अपने प्रसिद्ध नाटक '**विक्रमोर्वशीयम्**' मे इस मदाकिनी-अलकनन्दा के तटवर्ती क्षेत्र मे गन्धमादन पर्वत पर पुरूरवा और उर्वशी की क्रीडाओ का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। जब उर्वशी अलकापुरी-नरेश कुबेर की सेवा करके लौट रही थी तो केशी नामक एक राक्षस उसका हरण करता है। यही मे नाटक आरम्भ होता है। कालिदास ने '**मेघदूत**' मे कनखल से ऊपर देवतास्वरूप हिमालय और देवनदी गगा के इस पावन क्षेत्र को स्वर्ग-प्राप्ति का सोपान कहा है।

'**विष्णुपुराण**' (२।३) मे हिमालय के इस क्षेत्र को स्पष्टत स्वर्ग घोषित किया गया है। '**विष्णुपुराण**' मे इस प्रदेश को उत्तर कुरु वर्ष तथा इलावृत वर्ष भी कहा गया है। इसीलिये इस क्षेत्र को वेदो ने **योनिदेवकृत्** (२।३३।४) और मनु ने देवताओ का देश (त देवनिर्मित देश) कहा है। क्योकि यहाँ का अपना स्वतत्र परम्परागत धर्म एव आचार है, जो सबके लिए अनुकरणीय है। इस क्षेत्र को वेद और पुराणो द्वारा प्रतिपादित अद्वितीय आध्यात्मिकता के कारण आज भी मनुष्य प्रति वर्ष स्वर्गप्राप्ति के निमित इस भूमि की यात्रा करके आध्यात्मिक शाति प्राप्त करते हैं। '**केदारखण्ड**' (४१।५) मे भगवान् ने स्वयं कहा है कि मैने ब्रह्ममूर्ति धारण कर सर्व प्रथम जिस देश की

रचना की है, उसी का नाम ब्रह्मावर्त्त एव केदारखड है। मै स्वय जितना प्राचीन हूँ, यह क्षेत्र भी उतना ही प्राचीन है।

प्राचीन काल मे यह गिरि प्रदेश तीन भागो में (उत्तरगिरि, अन्तर्गिरि और दक्षिणगिरि) विभाजित था। इसलिये इसे 'त्रिविष्टप' भी कहते थे। एक का अधिपति विष्णु, एक का इन्द्र और एक का अधिपति ब्रह्मा था। इन्द्र एक पदवी थी जो स्वर्गराज्य के अधिपति के लिए निश्चित थी। गधमादन पर्वत क्षेत्रान्तर्गत इस स्वर्गराजा का प्रत्येक अधिपति उत्तराधिकार मे इन्द्र से गद्दी प्राप्त करने के पश्चात् इन्द्र या सुरराज के नाम से सम्बोधित किया जाता था। इस प्रकार स्वर्ग के जिस प्रदेश के अधिपति इन्द्र थे, उसका नाम वेदो और पुराणो के अनुसार, गन्धमादन पर्वत प्रदेश अर्थात् बदरीकाश्रम क्षेत्र था। इसी क्षेत्र मे त्रिपथगा (गगा), जिसको ऋग्वेद के 'नदीसूक्त' के प्रथम मत्र के अनुसार तीनो लोको मे बहने वाली सिन्धु (अलकनदा) भी कहा गया है, प्रवाहित होती है। 'महाभारत' मे स्वर्ग (त्रिविष्टप) मे प्रवेश करने पर युधिष्ठिर को गगा नदी मिलती है। 'महाभारत' (वनपर्व ८४।२७, ८६।१५ और ६०।२१) के अनुसार हरिद्वार ही स्वर्गद्वार है। हरिद्वार से ऊपर जहाँ सुरसरिता गगा अलकनन्दा के नाम से पुकारी जाती है वही स्वर्ग एव त्रिविष्टप है और इस स्वर्ग (त्रिविष्टप) के तीनो भागो मे बहने के कारण अलकनन्दा को इसीलिए 'त्रिपथगा' कहा गया है। वेदो के प्रकाड पडित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर लिखते है —त्रिविष्टप स्वर्ग का नाम है। इसी का अपभ्र श तिब्बत हुआ है। अर्थात् आज का तिब्बत ही 'त्रिविष्टप' अर्थात् स्वर्ग है। भारत के यज्ञकर्ता वृद्धावस्था मे त्रिविष्टप मे (स्वर्ग मे) जाकर रहते थे। हिमालय मे सुखद स्वास्थ्यदायी पवन बहता है। शीघ्र थकावट नही आती। शरीर मे अच्छी शक्ति रहती है। उत्साह रहता है। ऐसा वह प्रदेश है। अत वृद्ध होने पर वहाँ जाकर लोग रहते थे और आनन्द से अपनी आयु व्यतीत करते थे। इसके अनेक प्रमाण है।

पाडवो ने इन्द्रप्रस्थ पर भारत युद्ध के बाद तीस वर्ष राज्य किया। तत्पश्चात् वे स्वर्ग मे रहने के लिए गये थे। स्वर्ग मे मरने के पश्चात् जाते हैं, यह अशुद्ध विचार है। अर्जुन जीवितावस्था मे ही स्वर्ग मे जाकर शस्त्रास्त्र लाया था। इस तरह सब पाडव जीते-जी, स्वर्ग मे, हिमालय मे, रहने के लिए गये थे।

आज भी स्वर्गद्वार के नाम से एक स्थान हिमालय मे हरिद्वार से थोडी दूर पर विद्यमान है। इस स्वर्गद्वार से स्वर्ग स्थान का प्रारम्भ होता है। प्राचीन समय के वृद्ध लोग हिमालय के इस पवित्र स्थान मे जाकर रहते थे। तरुणावस्था मे यहाँ की राज्य-व्यवस्था का कार्य करना और वृद्ध होने पर हिमालय मे अथवा त्रिविष्टप मे जाकर काल-क्रमण करना, यह प्राचीन काल की उत्तम

व्यवस्था थी। इस तरह पाडव सौ वर्ष तक यहाँ का राज्य करने के पश्चात् हिमालय मे जाकर रहे थे।

'**महाभारत**' के स्वर्गारोहण पर्व मे इनके जाने का मार्ग लिखा है। वह मार्ग हिमालय चढने का मार्ग है। आज भी हिमालय मे हरिद्वार के दो-तीन मुकामो के बाद स्वर्गद्वार का स्थान आता है। उस स्थान के उत्तर का भाग स्वर्ग है। भागीरथी (पवित्र गगा) का नाम स्वर्ग नदी है, क्योकि स्वर्ग मे इसका उद्गम है। इससे स्वर्ग की ठीक कल्पना हो सकती है। उत्तर हिमालय मे स्वर्ग का प्रारम्भ है। तिब्बत उस स्वर्ग का उच्चतर प्रदेश है।"

ब्रह्मा ने ब्रह्ममूर्ति धारण कर जिस ब्रह्मावर्त्त की रचना की है,वह मानसरोवर से नीचे का यही क्षेत्र है, जहाँ से ब्रह्मपुत्र निकलती है। '**वाल्मीकि रामायण**' मे भी त्रिविष्टप को ब्रह्मलोक कहा गया है (त्रिविष्टप ब्रह्मलोक लोकाना परमेश्वर)। '**अमरकोश**' में भी त्रिविष्टप को स्वर्ग एवं स्वर्गलोक कहा गया है।

इस प्रकार मानसरोवर से नीचे, अलकनन्दा के उद्गम स्थान के आसपास के क्षेत्र से हरिद्वार तक का क्षेत्र 'त्रिविष्टप' एव स्वर्ग हैं। गगा को 'सुरनिम्नगा' इसीलिए कहते हैं कि वह स्वर्ग से निकलती है।

श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति के कथनानुसार—'हमारे पास यह मानने के लिए बहुत पुष्ट और पुष्कल प्रमाण है कि उन आर्यों का प्रारम्भिक निवास स्थान हिमालय की ऊँची घाटियो मे और हिमाच्छादित चोटियो पर था। भारत के इतिहास का पहला परिच्छेद कश्मीर और तिब्बत के ठडे और सुहावने पर्वतो और मैदानो मे लिखा गया था। यही वह प्रदेश थे जिन्हे उत्तरकालीन आर्य 'स्वर्ग' आदि नामो से पुकारा करते थे' '**भारतीय सस्कृति का प्रवाह**', पृ० १३।

इन्द्र जी का यह कथन कि आर्यों का आदि देश, हिमालय की ऊँची घाटियो मे और हिमाच्छादित शिखरो पर था, जिसे उन्होने 'स्वर्ग' कहकर सम्मानित किया था, वस्तुस्थिति के अधिक निकट है, परन्तु आर्य-साहित्य मे हरिद्वार से ऊपर के भूमि-भाग को स्वर्ग कहा गया है, जहाँ गगा सरस्वती आदि सप्तसरिताएँ बहती हैं, जो सर्वोच्च हिम शिखरो से आच्छादित है, जिसका आर्य जाति के समक्ष आज तक आध्यात्मिक महत्व प्रमाणित है और यह स्पष्ट है कि वह क्षेत्र, न कश्मीर है, और न तिब्बत ही, वरन् वह भूभाग है, जिसका वर्तमान नाम गढवाल है।

●

स्वर्ग भूमि गढ़वाल का प्रकृति वैभव

आठवी शती तक, आचार्य शकर से पूर्व, प्राय समस्त प्राचीन आर्य मनीषियो द्वारा आर्य-साहित्य मे हरिद्वार से ऊपर की भूमि को, उसके अद्वितीय आध्यात्मिक एव प्राकृतिक सौन्दर्य के कारण, स्वर्ग कहा गया, है। दस-ग्यारह हजार फुट से ऊँचे हिम-शिखरो से अधिकाश आच्छादित मध्य हिमालय के इस अगम्य पर्वत प्रदेश का पर्यटन, साधु-सन्तो, त्यागी और तपस्वियो के अतिरिक्त, आरामतलब पर्यटको के लिए प्राय सुगम और सुलभ नहीं रहा है। इस दुर्गम पर्वत-प्रान्त मे अनेक आक्रमण-प्रत्याक्रमणो के बावजूद हरिद्वार से ऊपर मुसलमान शासको का प्रवेश सम्भव नही हो सका। जिन आध्यात्मवादी प्रकृति देवी के उपासको ने कठिन कष्ट सह कर, यहाँ के अलौकिक सौन्दर्य का रसास्वादन किया, उन्होने, उसके सार्वजनिक विज्ञापन की आवश्यकता नहीं समझी। भगवान् व्यास, महाकवि कालिदास और आचार्य शकर आदि आर्य-ऋषियो की आध्यात्मिक परम्परा के अतिम तीर्थ-यात्री होते हुए भी कवि और कलाकार थे। उन्होने यहाँ के अद्वितीय आध्यात्मिक सौन्दर्य से ही नही, वरन् सर्वोत्कृष्ट प्राकृतिक सौन्दर्य से भी चमत्कृत होकर अपने काव्य-ग्रन्थो से यहाँ के जो स्वाभाविक शब्द-चित्र अकित किये हैं, वे आज भी '**महाभारत**', अष्टादश पुराणो, '**मेघदूत**' और '**कुमारसम्भव**' आदि आर्य-ग्रन्थो मे सुरक्षित हैं। वस्तुत व्यास, कालिदास और शकर के पश्चात् हिन्दुस्तान के सभी आरामतलब लेखको द्वारा प्रकृति देवी का यह सर्वोत्तम कला-केन्द्र सर्वथा अपरिचित और उपेक्षित ही रहा है।

नौवी शती के बाद कश्मीर की अनुकूल भौगोलिक परिस्थितियो के कारण, मुसलमान सम्राटो ने कश्मीर-विजय कर, वहाँ सर्वत्र अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया था। कश्मीर की भूमि उनकी क्रीडास्थली बन गयी। मुगल बादशाहो ने उसको अनेक मनोरम बाग-वाटिकाओ, फल-फूलों से अलकृत कर, उसके प्राकृतिक सौन्दर्य मे चार चाँद लगा दिये। तदनन्तर मुगलो और अग्रेजो के शासन काल मे राजकीय प्रोत्साहनो द्वारा अनेक राजमार्गों, विश्रामगृहो एव क्रीडास्थलियो के निर्माण के कारण, वहाँ ज्यो-ज्यो सार्वजनिक सुविधाएँ सुलभ होती गयी, कश्मीर अमीर-उमराओ, राजा-रईसो एव राजकीय अधिकारियो की विलास-चेष्टाओ का आगार बनता चला गया। उसके पश्चात् भौतिकवादी सौन्दर्योपासक भारतीय तथा विदेशी पर्यटकों ने अपने-अपने लेखो एवं

रचनाओ द्वारा उसको निस्सकोच पृथ्वी का स्वर्ग करार देकर, उसके सौन्दर्य को लोकव्यापी महत्व दे दिया। आज भी लोक-परम्परागत इस अंधानुकरण के कारण गढवाल की भौगोलिक वास्तविकता से सर्वथा अपरिचित इन भौतिकवादी सौन्दर्यापासकों के विज्ञापनो से प्रभावित, कुछ सज्जनो को कालिदास के हिमालय-वर्णन में भी कश्मीर के ही दर्शन हो रहे है।

कश्मीर भी प्रकृति की रगस्थली है, परन्तु कश्मीर का सौन्दर्य बाह्य सौन्दर्य मात्र है, जो प्रकृति के सौन्दर्योपासको को सास्कृतिक एव आध्यात्मिक प्रेरणा देने मे असमर्थ है। परन्तु आर्यों की यह स्वर्गभूमि, उत्तराखड के इस पावन प्रदेश की दिव्य प्राकृतिक सौन्दर्यानुभूति, सदियो से आर्य जाति के सास्कृतिक एव आध्यात्मिक जीवन को भी अनुप्राणित करती रही है। कश्मीर भौतिकवादी पर्यटको की विलास-चेष्ठाओ का आगार है, किन्तु हरिद्वार से ऊपर, गढवाल के प्रकृति-वैभव के दर्शन मात्र से तो मानव भवबधनो से मुक्त हो जाता है। डाक्टर सम्पूर्णानन्द जी के शब्दो मे—"कश्मीर का प्राकृतिक सौन्दर्य शृङ्गारमय है। शृङ्गार को ब्रह्मानन्द का सहोदर कहा है परन्तु इस क्षेत्र का प्रकृति-सौन्दर्य तो साक्षात् ब्रह्मानन्दमय है।"

'**महा प्रस्थानेर पथ**' आदि प्रसिद्ध यात्रा-वर्णनो के लेखक श्री प्रबोधकुमार सान्याल लिखते है

देवतात्मा हिमालय मे सर्वाधिक प्रिय, सर्वाधिक पूज्य और लगता है सर्वाधिक वन्य-सुषमा-सम्पन्न भू-भाग है यह अविभक्त गढवाल। बहुकाल व्यापी विज्ञापन द्वारा कश्मीर को भू-स्वर्ग कहा गया है। किन्तु दोनो आँखें खोलकर जिन्होने कश्मीर और गढवाल का विचार किया है, वे जानते है कि गढवाल में अनगिनत भू-स्वर्ग बिखरे पडे है। भारत से बाहर के जो भी घुमक्कड कश्मीर मे—स्विटजरलैन्ड या आल्प पर्वत वाली आब-हवा पा जाते हैं, वे ही कश्मीर की शतमुखी प्रशसा करते है, किन्तु कश्मीर हिमालय मे देवतात्मा का स्वाद नही है। मौज-मजे, घूमने-फिरने, सुयोग-सुविधा और विलास-व्यसन आदि की दृष्टि से कश्मीर आधुनिक घुमक्कडो के लिये बेशक अतीव आरामदेह है, किन्तु गागेय ब्रह्मपुरा की तो बात ही दूसरी है। यहाँ आज भी आधुनिक काल की विज्ञानी सभ्यता आत्मश्लाघा का प्रचार नही करती। यह तो मानो अनादि अनन्त काल का आधुनिक है। लाखो-करोडो सालो से अधिक आधुनिक है। अनन्त काल के एक खड को मानो इसने अपने सर्वाङ्ग मे समेट रखा है। यहाँ आने पर दिखायी देगी भारत की मौलिक प्रतिभा, भारत की आदि सस्कृति, भारत का सर्वकालजयी सहति मत्र। यहाँ सुख नही, आनन्द है, ब्रह्मपुरा को ताकते रहो। जहाँ तक निगाह जाती है, केवल घनश्यामी आभा, चारो ओर

हरियाली-ही-हरियाली। मनचाही नदियाँ, मनचाही जलधाराएँ इधर-उधर जहाँ भी ताको फूलो से लदी-लदी वन-भूमि। दुनिया भर के फूल यहाँ खिलते हैं, गुच्छो-पर-गुच्छे। जहाँ भी जाग्रो, जिधर भी ताको—तपोवन। सुर्ख सेब और अनारो ने बडे पहाड को लाल-लाल कर दिया है—ससार का आठवाँ आश्चर्य देख लो। उन पक्षियो की ओर देखो, जिन्हे तुमने कभी नही देखा, जिनका वर्ण-वैचित्र्य तुम्हारी कल्पना को नन्दन-कानन पहुँचा देगा—जी भर कर देख लो इन्हे। सुनील नयना नदी की ओर ताकते रहो—जिसकी जलराशि मे अनन्त उदार आकाश की परछाई पड रही है। यह रोमाचक कौतुक तुम भूल नही सकोगे कभी। ऊँचे पहाड की चोटियो पर चढो, एक से दूसरी—चिर तुषार-धवलित त्रिशूल पर्वत और नयनाभिराम नन्दा देवी की शोभा तुम्हे मत्र मुग्ध कर देगी।

देवतात्मा हिमालय

हिमालय भारतवासियो के लिए जड पर्वत नही, वरन् साक्षात् देवता है। अत आर्य-मनीषियो ने उसे सदैव श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है। ऋग्वेद (१०।१२।१।४) के ऋषियो ने बार-बार हिमालय के प्रति अपनी असीम श्रद्धा-भक्ति व्यक्त की है। अथर्ववेद के 'पृथ्वीसूक्त' (२१।१।११) मे भी उसका स्तवन किया गया है। आर्य-ग्रन्था मे स्थान-स्थान पर उसकी अलौकिक श्री-सम्पन्नता के अनेक भव्य चित्र अकित हैं। कालिदास का हिमालय-वर्णन तो विश्व-साहित्य मे अद्वितीय है। उसके शब्दो मे वह अनेक रत्नो का जन्मदाता है, उसके द्रोणागिरियो मे अनेक बहुमूल्य जडी-बूटियाँ उगती है। वह पृथ्वी मे रह कर भी स्वर्ग है। इसकी उपत्यकाओ मे स्थान-स्थान पर अनेक तीर्थ हैं, जहाँ आकर लोग शुद्ध हो जाते है। यह योगियो-तपस्वियो का निवास स्थान है। इसके पर्वत-शिखरो पर सरोवरो मे भाँति-भाँति के कमल-पुष्पो से परिपूर्ण प्राकृतिक पुष्पोद्यानो मे सप्तर्षि पुष्प-चयन करते है

सप्तर्षिहस्तावचितावशेषाण्यधो विवस्वा-परिवर्तमान ।
पद्मानि यस्याग्रसरोरुहाणि प्रबोधयत्यूर्ध्वमुखैर्मयूरवं ॥

महाकवि कालिदास ने 'मेघदूत', 'कुमारसम्भव', 'विक्रमोर्वशीय और 'रघुवश' मे जिस नगाधिराज हिमालय की विशाल प्रकृति और अनन्त सौन्दर्य के मनोरम चित्र चित्रित किये हैं, वे कश्मीर मे नही, वरन् मध्य हिमालय के उस पावन प्रदेश में है, जिसका वर्तमान नाम गढ़वाल है। जो हिन्दुओ की परम पुण्यतोया सरस्वती, गंगा, भागीरथी एव मदाकिनी आदि देवनदियो का उद्गम स्थान है। जहाँ कालिदास के कथनानुसार गंगा की धारा गिरती है, जो ऋषियो के चरण-रज

प्राप्त कर अत्यन्त पवित्र हो गया है। 'कुमारसम्भव' की पार्वती के पिता हिमालय की राजधानी कश्मीर मे नही थी, वरन् उस क्षेत्र में थी जिसके चारो ओर परम सुगन्धित गन्धमादन पर्वत फैला हुआ है, जहाँ गगा की धाराएँ बहती थी एव चमकीली जडी-बूटियाँ प्रकाश करती थी। कालिदास ने 'रघुवश' का आरम्भ करते हुए, अपने जिस कुल-पुरोहित वशिष्ठ के आश्रम का उल्लेख किया है वह कश्मीर मे नही था, वरन् वहाँ था जहाँ गगा नदी हिमालय के निर्झरो के ठडी फुहारो से लदा हुआ और मन्द-मन्द कम्पित वृक्षो के पुष्पो मे बसा हुआ पवन बहता था।

कालिदास के दिग्विजयी रघु ने जिस हिमालय-नरेश के राज्य मे प्रवेश किया था, वहा भोजपत्रो का वन था और मार्ग मे गगा की फुहारो से शीतल हुआ वायु-वेग बह रहा था। 'मेघदूत' की मन्दाकिनी गगा की फुहारो से शीतल हुआ वायु-वेग कश्मीर मे कहाँ था ? उसी प्रकार जो गन्धमादन पर्वत क्षेत्र कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' की उर्वशी और पुरूरवा का भी क्रीडास्थल है, वह कश्मीर मे नही, वरन् गढवाल के बदरिकाश्रम के निकट का पर्वत प्रदेश है। हिमालय मे कैलास की गोद मे अपने प्यारे के अक मे बैठी हुई कामिनी की तरह कालिदास के 'मेघदूत' की अलकापुरी भी कश्मीर मे नही, वरन् वहाँ है जहाँ कालिदास के शब्दो मे कामिनी की देह से सरकी हुई साडी की भाँति गगा जी निकलती है

तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगगादुकूलां।
न त्व दृष्ट्वा न पुनरलका ज्ञास्यसे कामचारिन् ॥

इस प्रकार कालिदास द्वारा वर्णित हिमालय का सम्पूर्ण प्रकृति-वैभव कश्मीर पर नहीं वरन् मध्य हिमालय के उस क्षेत्र पर आधारित है, जहाँ गगा, भागीरथी और मदाकिनी आदि नदियाँ बहती है, जहाँ कैलास, अलकापुरी, गन्धमादन, बदरी-काश्रम, कण्वाश्रम, नर-नारायण आश्रम और कनखल आदि प्राचीन ऐतिहासिक स्थलो का भौगोलिक अस्तित्व सुरक्षित है। इनमे से एक भी स्थल कश्मीर तथा किसी अन्य भू-भाग मे नही है। सबके सब गढवाल मे है। गढवाल भारत के अन्य समस्त पर्वत-प्रदेशो के अधिक सर्वोच्च हिम-शिखरो से भी आच्छादित होने के कारण कालिदास का देवतात्मा हिमालय' (अस्त्युत्तरस्या दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराज) नाम गढवाल पर ही सबसे अधिक चरितार्थ होता है। महापडित राहुल साकृत्यायन 'कुमाऊँ' (पृष्ठ १) मे लिखते है "मानसरोवर से लगा हुआ मध्य हिमालय का यह भाग भारत के लिए सास्कृतिक, साम्पत्तिक और प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है।"

वाल्टन (**गढ़वाल गजेटियर्स**, पृष्ठ ३,४) का कथन है कि सबसे ऊँचे हिम-शिखर जिनके कारण हिमालय का सौन्दर्य प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित है, इसी क्षेत्र में पडते हैं। वे बदरीनाथ और नन्दादेवी रेंज में ३० से ४० मील दक्षिण-पश्चिम तक फैले हुये हैं आज भी यहाँ प्रत्येक पर्वतीय, कुली-मजदूर तक जब कभी भी वह देवतास्वरूप हिमालय का दर्शन करता है तो उस समय पवित्र मंत्रो का उच्चारण कर, अत्यन्त श्रद्धापूर्वक दोनो हाथ जोड कर, उसको नमस्कार करता है। '**इडिया**' नामक पुस्तक मे हिमालय पर्यटक सर जौन स्ट्रैची लिखते हैं

मैने कई यूरोपीय पर्वतो का पर्यटन किया है, परन्तु अपनी विशालता एव भव्य-सौन्दर्य मे उनमे से कोई हिमालय की तुलना नही कर सकता। गढवाल के हिम-शिखर यद्यपि इतने ऊँचे नही है, जितने हिमालय-श्रेणी के अन्य भागो के कुछ शिखर, यहाँ केवल दो ही हिम-शिखर पच्चीस हजार फुट से अधिक ऊँचे है, परन्तु गढवाल-कुमाऊँ के हिमालय-पर्वतो की ऊँचाई का अनुपात सबसे अधिक है। बीस मील तक लगातार इसके कितने ही हिम-शिखर बाईस हजार से पच्चीस हजार फुट तक ऊँचे हैं।

शेरिंग साहब (**वेस्टर्न तिब्बत ऐंड ब्रिटिश बोर्डर लंड. पृ०** ३०) लिखते हैं टिहरी से लेकर पूर्व मे अलमोडे तक हूणदेश की सीमा पर फैले हुए ३० मील के इस छोटे से प्रदेश मे हिमशिखरो की ऐसी विलक्षण शृ खलाएँ पायी गयी है, जो ससार के किसी भी भाग मे उपलब्ध नही होती। इस सीमित क्षेत्र मे कम-से-कम ८० हिमशृ ग २० हजार फुट या उससे अधिक ऊँचे है जिनके बीच मे मुक्ताओ के मध्य हीरो की भाँति कुछ ऐसे हिमशिखर है, जो ससार के सर्वोच्च हिमशिखरो मे से है।

गढवाल के हिमशिखर—गढवाल का अधिकाश भाग निम्नलिखित हिमशिखरो से आच्छादित है

परगना	पैनखडा मे	कामेठ-		२५४४३फु०	भारतखड(केदारखड)	२२३३३फु०
तला	,,	नदादेवी-		२५६६०	कुर्नलिग (बदरीनाथ)	२१२२६
,,	,,	त्रिशूली	(१)	२३४०६	,, ,, (२)	२००३८
,,	,,	,,	(२)	२२४९०	हाथीपर्वत (पैनखडा)	२२१४१
,,	,,	,,	(३)	२२३६०	स्वर्गारोहिणी(केदारनाथ)	२०२९५
,,	,,	द्रोणगिरि		२३५३१	बन्दरपूंछ (टिहरी)	२०७३१
,,	,,	सुमेरू (सतोपथ)	(१)	२३६६०	,, ,, (२)	२००२६
,,	,,	,,	(२)	२३२४६	चौखम्भा (बदरीनाथ	२००००
,,	,,	,,	(३)	२१९९१	श्रीकठ (केदारनाथ)	२०१३०
,,	,,	केदारनाथ	(१)	२२८४४		
,,	,,	,,	(२)	२१६९५		

गर्म जल के कुड—बदरीनाथ के तप्त कुड मे १२०° गर्मी, तपोवन (नीति मार्ग पर जोशीमठ से १० मील दूर भविष्यबदरी के समीप) मे चार सोते हैं जिनमें १२७° से १२३° तक उष्णता है। गौरी कुड—केदार मार्ग पर है। इस कुड का तापमान १२८° है। इसी प्रकार गगोत्तरी मार्ग पर गगानदी और यमुनोत्तरी तथा पिंडर की बायो ओर कुलसारी मे व गगासलान भौरी मे गर्म जल के स्रोत हैं।

देवनदियाँ और तीर्थस्थल

गढवाल देवनदियो का देश है। इसके हिम-शिखरो से देवनदी गगा, सरस्वती, धौली, नदाकिनी, पिंडर, मदाकिनी, भागीरथी और दोनो नयारें तथा ऋषि गगा, गणेश गगा, रुद्र गगा, पाताल गगा, गरुड गगा आदि अनेक कल-कल प्रवाहिनी सहायक सरिताएँ प्रवाहित होती है, जिनके तट पर, सगम-स्थलो पर, बदरीनाथ, नर-नारायण आश्रम, पाडुकेश्वर, ज्योतिर्मठ, केदारनाथ, ऊखी मठ, लोकपाल, हेमकुड, गुप्त काशी, त्रियुगी नारायण, काली मठ, तुगनाथ, रूद्रनाथ, मदमहेश्वर, अगस्तमुनी, गोपेश्वर, आदि बदरी, विष्णु प्रयाग, केशव प्रयग, नन्द प्रयाग, कर्ण प्रयाग, रूद्र प्रयाग, श्रीनगर, कमलेश्वर, देव प्रयाग, व्यास घाट, गगोतरी, यमुनोतरी और उत्तर काशी आदि प्रसिद्ध तीर्थ तथा धार्मिक एव पुरातात्विक महत्व के अनेक ऐतिहासिक स्थल अवस्थित हैं। इसके दर्शनार्थ सदियो से प्रति वर्ष भारत के प्रत्येक भू-भाग से लाखो तीर्थ यात्रियो का जन-समुद्र उमडता चला आता है। एक वेद-वाक्य के अनुसार यहाँ की पर्वत-उपत्यकाओ मे नदियो क सगम स्थलो पर, बुद्धिमान् मनुष्य का उद्भव हुआ (ऋ० ८।६।२८)।

हिमालय-पर्वत आर्यावर्त्त के उत्तर मे, पूर्व से पश्चिम तक फैला हुआ है परन्तु आर्य-मनीषियो द्वारा, वेद और पुराणो मे, जिसके प्रति इतनी असीम श्रद्धा-भक्ति व्यक्त की गयी है, वह मध्य हिमालय का निम्नांकित भाग्यशाली भू-भाग है

(१) जहाँ आर्यों की पुण्यतोया सरस्वती, गगा, भागीरथी, मदाकिनी आदि देवनदियो का उद्गम है।

(२) जहाँ आर्य जाति के सर्वाधिक तीर्थ स्थान, प्राचीन आध्यात्मिक एव सास्कृतिक स्मारक सुरक्षित है।

(३) जो सर्वोच्च हिम-शिखरो से आच्छादित होते हुए भी प्रकृति नटी का अद्वितीय लीला-निकेतन है।

(४) जो आर्यों का आदि देश है।

गढवाल के प्राकृतिक पुष्पोद्यान

हरिद्वार से ऊपर उत्तराखंड की भूमि को, जो प्राचीन साहित्य में आर्य-ऋषियो द्वारा स्वर्ग कही गयी है, उसके अलौकिक आध्यात्मिक सौंदर्य की पुष्टि मे हम इससे पूर्व पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत कर चुके है । कश्मीर मे इन आध्यात्मिक सौंदर्य-स्थलो का सर्वथा अभाव है । उसका प्रकृति-वैभव, बाग-वाटिकाएँ, अधिकाश मनुष्यकृत एव राजा-रईसो के सतत प्रयासो का परिणाम है, किन्तु गढवाल का प्राकृतिक सौदर्य मानव-करो से सर्वथा अछूता अलौकिक एव प्रकृति-प्रदत्त है । उसके पर्वत-पृष्ठो पर, ग्यारह हजार फुट से लेकर सत्रह हजार फुट की ऊँचाई मे, मीलो तक अनेक प्राकृतिक पुष्पोद्यान फैले हुये हैं ।

लोकपाल के निकट समुद्र की सतह से लगभग साढ़े पन्द्रह हजार फुट की ऊँचाई पर, **'फूलो की घाटी'** का पुष्पोद्यान अँग्रेजी-शासन-काल मे विदेशी पर्यटको द्वारा प्रसिद्ध हो चुका है । सन् १६३१ मे फ्रैंक यस० स्माइथ ने इसे खोज निकाला । उन्होने २५० से अधिक प्रकार के पुष्प चयन किये । स्माइथ लिखता है कि—"हमने पुष्पो की उपत्यका मे प्रवेश किया, जो घुटनो तक फूलो से भरी थी, सर्वत्र शीतल और सुगन्धित वायु बह रही थी । अपने जीवन मे इससे अधिक मनोहर उपत्यका हम मे से किसी ने भी नही देखी । हमारे स्मृति-कोश मे पुष्पो की यह उपत्यका सदैव सुरक्षित रहेगी ।" लन्दन के प्रसिद्ध उद्यान एडिन्बरा वोटेनिकल गार्डन और रॉयल वोटेनिकल गार्डन यहाँ के कतिपय फूलो से अलकृत है तथा अनेक अन्तर्राष्ट्रीय-वनस्पति-विशेषज्ञ यहाँ से पुष्प-चयन कर अपने-अपने उद्यानो की सौदर्य-वृद्धि कर चुके है । तीन मील चौडी और लगभग सात मील लम्बी यह मनोरम पर्वत-उपत्यका हजारो किस्म के रग-बिरगे पुष्पो से आच्छादित है । विदेशी पर्यटको द्वारा प्रकृति के इस आश्चर्यजनक पुण्य-भडार की प्रसिद्धि सुन कर, अनेक विदेशी-पर्यटक पुष्प-सग्रह के निमित यहाँ आते रहते है ।

पाश्चात्य पर्यटक स्माइथ से पूर्व, भारत के इस भू-भाग को स्वर्गभूमि घोषित करने वाले आर्य-ऋषि इस पुष्पोद्यान से पूर्ण परिचित थे । यह **'महाभारत'** (वन पर्व) मे भगवान् व्यास द्वारा वर्णित अनेक सरोवरो से परिपूर्ण, अगणित सुवासित पुष्पो से अलंकृत कुबेर का प्रसिद्ध नन्दन-कानन है । इन्ही विचित्र कमल-पुष्पो पर आसक्त द्रौपदी के आग्रह पर, पुष्प-चयन करने के लिये भीमसेन, अलकापुरी नरेश कुबेर के इसी नन्दन-कानन मे पहुँचे थे । भीमधार (म्यूधार) उपत्यका के नाम से आज भी उक्त घटना की ऐतिहासिक स्मृति यहाँ सुरक्षित है । यहाँ पर इस क्षेत्र की प्राकृतिक सुषमा से सम्बन्धित **'महाभारत'** (वन १६८) का उद्धरण भी अप्रासंगिक नही होगा

नित्य तुष्टाश्चते राजन् प्राणिनः सुखवेश्मनि ।
नित्य पुष्पफलास्तत्र पादपा हरितच्छदा ॥

मदाकिनी नदी के दोनो ओर, उद्गमस्थल से कुछ नीचे, समुद्र-तल से लगभग पद्रह हजार फुट की ऊँचाई पर, एक विस्तृत समतल भू-भाग मे, भाँति-भाँति के अगणित पुष्पो से आच्छादित एक और प्राकृतिक पुष्पोद्यान फैला हुआ है। नदी-तट के दोनो पार्श्वों पर इस मनोहर पर्वत-उपत्यका मे दूर से केवल फूलो की ही दुनियाँ दृष्टिगोचर होती है। फूलो के अतिरिक्त वहाँ दूसरी वनस्पति नही उगती। कुछ फूल एक ही रग के और कही-कही प्रकृति-परमेश्वर द्वारा एक ही फूल मे कई प्रकार के रग भरे हुए होते है। पौधो की ऊँचाई अधिक-से-अधिक डेढ हाथ और कम-से-कम एक हाथ होती है। सारे डण्ठल पुष्पो से लदे हुए होते है। ग्रीष्म और वर्षा ऋतु मे फूल फूलते है और हिमपात आरम्भ होने पर दब कर नष्ट हो जाते है।

इस कुसुमोद्यान मे अन्य पुष्पो के अतिरिक्त नील कमल और पुष्पराज भी होते है। ऊँचे-ऊँचे पर्वत-शिखरो पर दूर तक फैली हुई इस अनन्त पुष्पराशि के दर्शन जिस अनिवचनीय आनन्द एव जिस स्वर्गीय शाति की सृष्टि करते है, वह वर्णनातीत है। शायद इन्ही वन-उपवनो मे उगे हुए 'रैंमासी' के फूलो को देखकर गढवाल के अमर कवि स्व० चन्द्रकुँवर ने लिखा था

मा गिरिजा दिनभर चुन जिनसे
भरती अपना पावन दुकूल।
पावनी सुधा के स्रोतो से
उठते है जिनके अरुण मूल।
मेरी आँखों मे आये वे
राईमासी के दिव्य फूल।
मैं भूल गया इस पृथ्वी को,
मैं अपने को भी गया भूल॥

हिमालय के इन मनोरम अको मे लगभग ग्यारह हजार फुट से लेकर तेरह हजार फुट की ऊँचाई पर, भेड के बच्चे की ऊन से अधिक कोमल घास से भरे हुए, बुग्याल नाम से प्रसिद्ध, कई मील लम्बे-चौडे चौरस चरागाह है। रहस्यमय रूपकुड के निकट, लगभग सात वर्गमील तक फैला हुआ आली और वेदिनी बुग्याल का सर्वथा ककड-पत्थर विहीन चौरस मैदान, भाँति-भाँति के सहस्रो पुष्पो से आच्छादित, उस सीमाहीन रगीन कालीन की भाँति जिस पर प्रकृति द्वारा रग-विरंगे अनन्त कलात्मक पुष्प कढे हो, दृष्टिगोचर होता है।

प्रकृतिदेवी के इस आश्चर्यजनक लीला-निकेतक मे ये चिर-उपेक्षित अनन्त कानन-कुसुम सदियो से स्वत ग्रीष्म और पावस ऋतु मे विकसित होते हैं और हिमपात के प्रारम्भ मे प्रति वर्ष झर-झर कर अदृश्य हो जाते है। कविवर देव के शब्दो मे आज भी दर्शक जिन्हे 'देखि न सकत, देखि-देखि न थकत, देव, देखिवे कि धात देखि-देखि न अघात है।' उसके सूर्यास्त के अलौकि दृश्य से परम चमत्कृत होकर, गढवाल के अतिम अग्रेज डिप्टी कमिश्नर बर्निडी का कला-प्रेमी हृदय कह उठा था कि—मैने यूरोप के प्रकृति-श्री से सम्पन्न अनेक रम्य स्थलो का पर्यटन किया है, परन्तु आली-बुग्याल के सूर्यास्त का यह मनोरम दृश्य विश्व मे अद्वितीय है। प्रकृति देवी के उपासक इस गुणग्राही अग्रेज ने यहाँ पर पर्यटको के आराम के निमित, अपने व्यय से, एक विश्रामगृह का भी निर्माण कर अपनी स्मृति सुरक्षित रखी है। जनश्रुति के अनुसार वेदिनी-बुग्याल के इसी क्षेत्र मे वेदो का सकलन किया गया था। 'वेदिनी' नाम में—वह पूर्वस्मृति आज भी सुरक्षित है।

तपोवन से रामणीगॉव के मार्ग मे, कुमारीपास से दो मील आगे, लगभग सोलह हजार फुट की ऊँचाई पर, कुमारी बुग्याल नामक एक और प्राकृतिक पुष्पोद्यान फैना हुआ है। यह ऊँचाई मे मंदाकिनी-तट के कुसुमोद्यान से अधिक ऊँचा और विस्तार मे भी उससे अधिक है। ऊँचे पर्वत-पृष्ठ पर फैला हुआ सहस्त्रो रग-बिरगे छोटे-बडे प्रफुल्लित पुष्पो से पूर्ण, प्रकृति का यह सर्वोत्तम कला-केन्द्र अविस्मरणीय है। इसके हृदयग्राही दृश्य से प्रत्येक दर्शक परमानन्द-विभोर तो होता ही है, परन्तु पृथ्वी के इस अत्यधिक ऊँचे और स्वर्गीय सौंदर्य से सम्पन्न स्थान मे दर्शक का दृष्टिकोण भी पृथ्वी के साथ ऊँचा उठकर, विशेष, व्यापक और उदार हो जाता है।

गढवाल बडी-बडी नदियो और ऊँचे-ऊँचे शैल-शिखरो से आच्छादित पर्वत-प्रदेश है। यहाँ सब प्रकार की जल-वायु पायी जाती है। यहाँ सामान्य ऊँचाई पर सम-शीतोष्ण तथा उससे ऊँचे स्थलो पर ध्रुवकक्षीय जल-वायु पायी जाती है। इसलिए यह प्रदेश अत्यन्त उष्ण एव शीत प्रधान दोनों प्रकार की वन-सम्पत्ति से सम्पन्न है। इस प्रदेश के टेढे-मेढे कठिन चढाई-उतार वाले पर्वत-पथो मे सर्वसाधारण पर्यटको का प्रवेश कुछ असुविधाजनक अवश्य है पर जिन साहसी यात्रियो ने कुछ भौगोलिक विषमताओ को सहकर, एक बार भी यहाँ की प्राकृतिक सुषमा का रसास्वादन किया होगा, उन्होने आजीवन उसे सम्मानपूर्वक स्मरण किया है। नागपुर परगने के प्राकृतिक सौदर्य से प्रभावित होकर वाल्टन **'गढ़वाल गजेटियर'** (पृष्ठ १८६) मे लिखता है

"हम बैटन साहब के इस कथन से पूर्णत सहमत हैं कि जिसने एक बार भी

मदाकिनी स्रोत की ओर उसके तटवर्ती क्षेत्र का भ्रमण किया होगा, जिसने कभी तुगनाथ के सघन वन-उपवनो मे विचरण किया होगा, तथा जिसने एक दिन भी दिउरीताल के तट पर रहकर व्यतीत किया होगा, वह उस दृश्य को आजीवन नही भूल सकता । नागपुर की समस्त ऊपरी पट्टियो की दृश्यावली, उसकी प्राकृतिक सुषमा पर्वत-प्रदेश मे अद्वितीय है । इस क्षेत्र का जल-वायु यूरोप के समान और प्राकृतिक सौदय अत्यन्त हृदयग्राही है । सर्वदा हिमाच्छादित शिखरो के निकटवर्ती क्षेत्रो का प्रकृति सौदर्य एव वन-वैभव तो सर्वोत्कृष्ट ही है ।

स्वर्गीय वी० एन० दातार अपनी बदरी-केदार तीर्थ-यात्रा (१६६१) मे लिखते हैं

"मुझे मदाकिनी नदी की विस्तृत और गहरी घाटी से गुजरना पडा + + + यह, एक ऐसा चिर परिवर्तनशील मनोरम दृश्य बनाती है जो कि एक ओर ऊँची पहाडी की चोटी तथा दूसरी ओर गहरी खाइयो के कारण आदर तथा आश्चर्य का एक समन्वित विषय प्रस्तुत करता है ।

मैं विभिन्न कारणो से हिमालय के उन भिन्न-भिन्न भागो मे गया जो कि उत्तर पूर्व मे नैनीताल-अल्मोडा के बीच क्या उत्तर-पश्चिम काँगडा और कुलू के बीच स्थित है । इस कारण मेरा ऐसा मत है कि इस विस्तृत क्षेत्र मे मन्दाकिनी की घाटी सर्वाधिक मनोरम भाग है या सर्वाधिक मनोरम भागो मे से एक है । इसके किनारे के पहाड दृश्यावलियो तथा घने वृक्षो से लदे है ।"

यहाँ के सघन वनो के निकट, सरिता-तटो पर, सरस पर्वत-उपत्यकाओ मे बसे हुए ग्राम-समूहो का प्रकृति-वैभव भी अत्यन्त आह्लादकारी है । पर्वतारोही 'मम' लिखता है

"जुम्मा से मल्ला पैनखडा आरम्भ होता है । वहाँ प्रकृति अपनी विशालता के साथ अत्यन्त प्रिय दर्शन हो उठी है । यहाँ प्रत्येक खुले स्थान मे ठीक स्विट-जरलैड जैसे गाँव मिलते है, जिसके चारो ओर देवदार के वृक्ष तथा ऊपर विशाल शैल जिनके शीर्ष-स्थान पर चमकती हिमराशि की सीमा तक, हरे-भरे बन दृष्टिगोचर होते है । मलारी से आगे हमने एक अत्यन्त सुन्दर उपत्यका में पदार्पण किया, जहाँ अपनी शाखा फैलाये अगणित देवदार वृक्ष नदी की धार तक चले आये थे ।"

महात्मा गाँधी ने (११ जुलाई, १९२९ की) **'यग-इंडिया'** मे , लिखा है

"हिमालय के आकर्षक सौन्दर्य और अनुकूल जलवायु से दर्शक आनन्द-मग्न हो जाता है, और उसकी कोई कामना शेष नही रहती । इस पर्वत-प्रदेश का प्रकृति-सौंदर्य और जलवायु विश्व के सौंदर्य-स्थलो में सर्वोत्कृष्ट है । मुझे

आश्चर्य है कि लोग स्वास्थ्य-लाभ के लिए यहाँ न आकर, यूरोप क्यो जाते हैं ?

शेर्यरिंग साहब अपने '**पश्चिमी तिब्बत और ब्रिटिश सीमान्त प्रदेश**' मे लिखते है "मध्य हिमालय का यह भूभाग, जिसको केदारखड कहते हैं, और जो यमुना नदी से नन्दादेवी तक फैला हुआ है, सौदर्य का अद्भुत भंडार और धरती का सर्वश्रेष्ठ रत्न है।"

पर्वतारोही फ्रैंकलिक, उन पर्वतारोहियो को जो ऊँचे हिमशृगो को पार करने मे असमर्थ है, बदरीनाथ के उत्तर और पश्चिमोत्तर के सामान्य ऊँचाई के पर्वत-प्रदेश अलौकिक प्राकृतिक सौंदर्य की सराहना करते हुए ग्रीष्मकाल मे वहाँ विचरण करने की सस्तुति करते है। उनके कथनानुसार गढवाल की जलवायु और उसका प्रकृति-वैभव स्विट्जरलैंड और मौर्चे के समान है।

श्री यशपाल जैन '**जय-अमरनाथ**' मे कहते हैं कि पर्वतराज हिमालय भारत का ही नही, विश्व का गौरव है गगोत्तरी जाइए यमुनोत्तरी जाइए, बदरीनाथ जाइए, कैलाश जाइए हिमालय निस्सदेह सौन्दर्य और भव्यता का आगार है।

हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार सेठ गोविन्ददास लिखते है कि—"मैंने पृथ्वी की परिक्रमा की है परन्तु ससार मे सर्वत्र घूमकर भी मुझे इतना आत्मिक सुख नही मिला जो हिमालय की इस उत्तराखड की यात्रा से प्राप्त हुआ है। हिमालय की यह नैसर्गिक सुषमा सचमुच अनुपम और अद्वितीय है।"

इस प्रकार प्रकृति-प्रदत्त अनेक पुष्पोद्यानो से अलकृत, केदार और बदरीनाथ के इस पावन प्रदेश को हमारे प्राचीन आर्य ऋषियो ने जो पृथ्वी का स्वर्ग कहा है, उसकी भौगोलिक वास्तविकता एव सत्यता स्वय सिद्ध है।

सरोवर

गढवाल के उत्तरी क्षेत्र मे पर्वत-शिखरो पर प्राकृतिक पुष्पोद्यानो के अतिरिक्त, अनेक प्राकृतिक सुन्दर सरोवरो का भी बाहुल्य है। विरही गगा पर लगभग दो मील लम्बा और आध मील चौडा, ४०० एकड के क्षेत्र मे फैला हुआ 'गौनाताल' है, जो आकार मे नैनीताल से तिगुना अधिक है। यहाँ वन-विभाग द्वारा निर्मित पर्यटको के लिये एक विश्रामगृह और नाव पर बैठकर सरोवर मे सैर करने की व्यवस्था है। चारो ओर उन्नत पर्वत-माला के मध्य मे यहाँ नाव की सैर जिस अनिवर्चनीय सुख की सृष्टि करती है, वह वर्णनातीत है।

विवरीताल—८००० फु०, (४००, २५०, ६६ गज) ऊखीमठ से ३ मील उत्तर पूर्व, ८०० गज के घेरे में, एक अत्यन्त रमणीक सरोवर है, जिसके तट

का दृश्य अत्यन्त मनोहर है। विशाल दर्पण की भाँति इसमे लगभग पन्द्रह मील की दूरी पर अवस्थित चौखम्बा-शिखर शिर से पैर तक प्रतिबिम्बित दृष्टिगोचर होता है। प्रात काल सारी बदरीनाथ-केदारनाथ की हिमालय-श्रेणी सरोवर की जनराशि मे डूबी दीखती है। चारो-ओर की प्राकृतिक सुषमा हिमालय के सर्वोत्तम दृश्यो मे है।

भेकलताल—(९००० फु०) परगना वधाण मे २० एकड के क्षेत्र मे फैला हुआ अत्यन्त सुन्दर ताल है। इसके चारो ओर भोजपत्र, बुराँश, बेल और रिंगाल का गहन-वन-वैभव बिखरा हुआ है। पर्वत-प्राकार के भीतर सूर्य का ताप बहुत कम जा पाता है, जिससे जाडे मे और कभी-कभी गर्मियो मे भी ताल के धरातल पर काफी मोटी हिमचादर पडी रहती है।

लोकपाल—पाडुकेश्वर से पन्द्रह मील पूर्व प्रकृति की पुष्प-वाटिका से घिरा हुआ यह हेमकुड के नाम से सिक्खो का तीर्थस्थान है।

वासुकीताल—श्वेत-कमल-पुष्पो से परिपूर्ण इस सरोवर को केदारनाथ और त्रियुगी-नारायण से मार्ग जाता है।

सतोपथ—बदरीनाथ से १२ मील पश्चिम मे, लगभग एक मील के घेरे मे फैला हुआ परम रमणीक सरोवर है। इसके तीनो कोने ब्रह्मा, विष्णु और महेश के नाम से प्रसिद्ध है। इसके मार्ग मे अत्यन्त ऊँचाई से गिरनेवाला प्रसिद्ध प्रपात 'वसुधारा' है।

ब्रह्मताल—(११५०० फु०) परगना वधाण मे, भेकलताल के निकट दो मील की दूरी पर १०० फु० लम्बा और ६० फु० चौडा रमणीक सरोवर है। इसी परगने मे १०२ एकड के क्षेत्र मे फैला हुआ, देवताल नामक सरोवर भी है। परगना दशोली मे आध मील की लम्बाई मे फैला हुआ गडयारताल है। इसी प्रकार बेनीताल, सुखताल, तडामताल आदि यत्र-तत्र अनेक दर्शनीय सरोवर ह, जिनके चारो ओर बिखरा हुआ अनन्त प्रकृति-वैभव अलौकिक आनन्द की सृष्टि करता है। टिहरी मे भी, उत्तरकाशी से, १६, १७ मील पर चौदह हजार फुट की ऊँचाई पर—दो मील के घेरे मे फैला हुआ—दोदीताल नामक एक सुन्दर सरोवर है।

इस प्रकार आध्यात्मिक सौदर्य की प्रतियोगिता मे कश्मीर का कृत्रिम स्वर्ग आर्य-ऋषियो द्वारा प्रतिपादित गढवाल की प्रकृति-प्रदत्त स्वर्गभूमि के सम्मुख नगण्य है। भौतिक सौदर्य के सम्बन्ध मे प्रसिद्ध भारतीय एव विदेशी सौदर्योपासक यात्रियो के उद्धरण उद्धृत किये जा चुके है। पृथ्वी के सुन्दरतम प्रदेशो मे गढवाल का क्या स्थान है, इस सम्बन्ध मे प्रसिद्ध विश्व-पर्यटक कैप्टेन स्किनर, जो यमुना-स्रोत की खोज मे आया था, लिखता है —'हिमालय बदरीनाथ,

केदारनाथ, गंगोत्री और यमुनोत्री के रमणीय तीर्थस्थानों और फूलों की घाटी के नाम से विश्व-विख्यात है ही, किन्तु हिमालय की यात्रा करने के पश्चात् मैं इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि हिमालय की गोद साक्षात् भू-स्वर्ग है। मैंने यूरोप के सर्वमान्य सौंदर्यस्थलों का दर्शन किया है, जिनको कवि और कलाकारों ने अमर कर दिया है एवं जिन्होंने विश्व-पर्यटकों को मोहित किया है परन्तु इस अपरिचित एवं अज्ञात पर्वत-प्रदेश का प्रकृति-वैभव तो अद्वितीय ही है।'

प्रसिद्ध पर्वतारोही डॉ० टी० जी० लौंगस्टाफ, जिन्होंने १२ जून, १६०७ के चार बजे शाम को, त्रिशूल-शिखर विजय किया था, लिखते हैं

'मैंने छः वार हिमालय-पर्वतों पर पर्यटन किया है और मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि एशिया में गढ़वाल सबसे सुन्दर प्रदेश है। यहाँ न तो कराकोरम की आदि युगीन विशेषता है, न एवरिस्ट की सुनसान सत्ता, न हिन्दुकुश एवं कौकेशश पर्वत का सौंदर्य और न हिमालय के किसी अन्य प्रदेश की ही समानता है। यहाँ की पर्वत-मालाएँ, उपत्यकाएँ, वन-उपवन, हिमपूर्ण-शैल-शिखर, पशु-पक्षी, फल-फूल और वनस्पतियाँ सब ऐसे अलौकिक सुख की सृष्टि करते हैं, जो अन्यत्र दुर्लभ है।'



सामरस अथवा भाँग

इन्द्र और अग्नि के बाद वैदिक सहिताओ मे सोम के विषय मे जितने मत्र है उतने किसी देवता के सम्बन्ध मे नही है। वैदिक सहिताओ का दशमाश सोम की प्रशसा से परिपूर्ण है। ऋग्वेद की ११४ ऋचाओ के पूरे मडल मे सोम का स्तवन है। इस प्रकार इन्द्र, अग्नि और सोम इन तीनो ऋग्वैदिक देवताओ की क्रीडा-स्थली यह पर्वत-प्रदेश है। इससे भी स्पष्ट है कि इन तीनो मुख्य आर्य देवताओ का निवास स्थल ही आर्यों का आदि देश था। अग्नि के सार्वभौमिक महत्व मे इन्कार नही किया जा सकता है, परन्तु शीतप्रधान हिम-शिखरो से आच्छादित पर्वत-प्रदेश मे अग्नि जितनी मूल्यवान् है उतनी समतल भूमि-भाग के निवासियो के लिए नही। डॉ० सूर्यकान्त (**सम्मेलन पत्रिका, आषाढ स० १०१२**) मे लिखते है

"ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर निष्कर्ष निकलता है कि आदि काल मे आर्य किसी ऐसे प्रदेश मे रहा करते थे जो सोम की उपज के लिए प्रख्यात था। वहाँ वे आजादी के साथ सोम पीते थे और उल्लास एव उमगो के ज्वार मे आकर अपने इष्टदेव का गुणगान किया करते थे। बाद मे पीछे की ओर से उन पर शत्रुओ का दबाव पडा और वे अपनी सभ्यता के प्रतीक सोम-देव को साथ लेकर कुरु प्रदेश की ओर आगे बढे। कुरु प्रदेश मे पहुँच कर उन्होने डेरे डाल दिये और यज्ञ-यागादि का विस्तार करने के साथ-साथ अपने आचार-शास्त्र को भी सुव्यवस्थित बनाया। सोम की उत्पत्ति वैदिक साहित्य मे ऋजीक पवन (ऋ० ९।११३।२) पर बतायी गयी है जो कि हो न हो, हिमालय की ही कोई श्रेणी रही होगी और सम्भवत वह शैल-श्रेणी मानसरोवर के आस-पास कही रही हो। तभी तो हमारे पुराणो मे कैलास तथा मानसरोवर की महिमा का अनोखा वर्णन किया गया है। सोम के इस उपाख्यान से आर्यों की उत्पत्ति का मूलस्थान ऊपरी हिमालय ठहरता है, और इस मन्तव्य से हार्नले के उस मत की पुष्टि हो जाती है, जिसके अनुसार आर्य लोग भारत मे उत्तर भारत मे उत्तर-पश्चिम से न आकर पर्वत प्रान्त की ओर से इसमे उतरे थे।"

डाक्टर सूर्यकान्त ने अपने इस लेख मे सरस्वती नदी को ही सोमलता की जननी सोमासिक्त धर्म-कर्मी आर्यों की पूज्य सोमवती नदी प्रमाणित करने का प्रयास किया है। उनके कथनानुसार इतना तो निश्चित है कि सरस्वती आर्यों की एक पावन नदी थी, जिसकी परिधि मे आर्यों का यज्ञ-यागादि कर्मकाड

फूला-फला था एव उनके आचारशास्त्र का विकास हुआ था । ऋग्वेद के पारायण से ज्ञात होता है कि वैदिक आर्यों की दृष्टि मे सरस्वती का वही आदर था जो कि बाद के युग मे गगा जी को प्राप्त हुआ । परन्तु डाक्टर साहब कैलास-मानसरोवर को आर्यों का आदि देश मान कर भी कैलास-मानसरोवर के पास बहने वाली सरस्वती के भौगोलिक अस्तित्व से सर्वथा अपरिचित रहने के कारण, पूर्ववर्ती कुछ इतिहासकारो की गलत धारणाओ के आधार पर कुरुक्षेत्र मे ही लुप्त सरस्वती की खोज करते हुए रह गये । यदि उनको ऋग्वेद मे वर्णित नदियो मे प्रथम, नदियो मे जेष्ठ, प्रखरप्रवाहिनी वास्तविक सरस्वती नदी का मानसरोवर और कैलास के पास, अस्तित्व ज्ञात हो जाता, तो सोम और सरस्वती के अटूट सम्बन्ध मे उनके लेख की भौगोलिक प्रामाणिकता को भी निस्सन्देह पुष्टि हो जाती ।

सोम सप्तसिन्धु मे सप्त सरिताओ से आता है (ऋ० ९।५३।२) । सोम सप्त मातरो, सप्तस्वसारो, सप्तधामोसे उत्पन्न होता है (ऋ० ९।६६।३६, ९।१०२।१,४)। आर्यगण सोम के लिए पर्वत-पथो से पर्वत-प्रदेश मे आते थे (ऋ० ९।६२।४) । सोम महा प्रस्तर-राशि मे परिवेष्ठित स्थानो मे प्राप्त होता था (ऋ० १।१३०।३) । साम हिमालय के मुजावत पर्वत से आता था (ऋ० १०।३४।१) । मुजावन पर्वत हिमालय मे है (**महाभारत** १८।८।१) । ऋग्वेद की भाँति पारसियो के **धर्म-ग्रन्थ** '**जेन्द अवेस्ता**' मे भी दीर्घजीवन के लिए सोम का कीर्तन किया गया है । देवासुर सग्रामो मे पराजित असुरोपासको का सप्तसिन्धु देश के पश्चिमोत्तर प्रदेश की ओर चले जाने के बाद, उनके धर्मग्रन्थ अवेस्ता मे जिस प्रकार सप्तसिन्धु की 'हप्तहिन्दु' सरस्वती की 'हरह्वती' सरयू की 'हरैयू' के रूप से केवल स्मृतिमात्र रह गयी थी । उसी प्रकार 'होम' के रूप मे वे 'सोम' नाम को श्रद्धापूर्वक स्मरण करते थे, क्योकि इनका वास्तविक अस्तित्व तो केवल सप्तसिन्धु क्षेत्र मे ही था । ब्रह्मावर्त्त से आर्यावर्त्त मे बसने के बाद आर्य लोग भी ब्रह्मावर्त्त की सरस्वती तथा ब्रह्मावर्त्त मे स्थित अन्य स्थलो को अपने नवीन देश आर्यावर्त्त की इधर-उधर निराधार कल्पना करने लगे । प्रो० मैक्समूलर अक्टूबर सन् १८८४ मे एकेडमी पत्र मे लिखते है

धर्म-सम्बन्धी कृत्यो की प्राचीनतम पुस्तको मे अर्थात् सूत्र तथा ब्राह्मण-ग्रंथो मे भी यह बात मानी गयी है कि असली सोम का मिलना बहुत कठिन है और उसके स्थान मे अन्य वस्तु काम मे लायी जा सकती है । जब वह मिल सकती थी तब जगली लोग उसे उत्तराखड से लाया करते थे ।

दामोदर सातवलेकर लिखते हैं कि "जो सोम मौजावत पर्वत के ऊपर बारह हजार फुट की ऊँचाई पर होता है, वही सबसे अच्छा समझा जाता

था। इतनी ऊँचाई पर यह होता है, इसलिए इस सोम को स्वर्ग से, द्यु-लोक से लाया गया, ऐसे वर्णन वेदमन्त्रो मे हम देखते है (ऋ० ६।६१।१०)।

सोम द्यु-लोक मे अर्थात् स्वर्ग मे उत्पन्न हुआ है। लोग वहाँ से उसको लाते है और अतीव उग्र बल, सुख और यश प्राप्त करते हैं। स्पष्ट कहा गया है कि 'उच्चा दिविचजाम्नम्' उच्च स्थान अर्थात् द्यु-लोक में यह सोम रूप अन्न हुआ है और वहाँ से वह 'भूम्याददे' पृथ्वी पर लाया गया है। हिमालय के उच्च शिखर का नाम ही स्वर्ग है।"

इप्रिजल (अवेस्ता, जिन्द २, पृ० ६८) मे लिखता है कि 'दोनो जातियो, आर्यों और जोराष्ट्रीयनो का विचार है कि यह पौधा पर्वतो पर उगता था जिसे दोनो जातियाँ व्यवहार मे लाती थी।' एक बार मन् १८८१ मे सोम के सम्बन्ध मे यूरोप के विद्वानो मे बडा वाद-विवाद छिड गया था, जिससे प्रभावित होकर तत्कालीन भारत सरकार ने भी जाँच-पडताल आरम्भ की थी, परन्तु उसका भी कोई निश्चित निष्कर्ष नही निकला और समस्या विवादास्पद ही रह गयी।

आर्यावर्त्त मे आर्यो के इस लोकप्रिय पेय पदार्थ का मर्वथा लोप हो जाना आश्चर्यजनक है। आधुनिक कुछ अन्वेषको का अनुमान है कि भाँग ही मोम है। 'शतपथ ब्राह्मण' मे किरातो की भाषा मे मोम को असना-उसना कहा है। विद्वानो का कथन है कि अ और उ किरातो के स्थानीय प्रयोग है। वस्तुत यह शब्द शण हैं। शण के अनुरूप अर्थवाचक यूनानी शब्द कन्न (KANNA) है। इन दोनो शब्दो का प्राचीन अर्थ 'भाँग' हैं। वैदिक भाषा के अतिरिक्त अन्यान्य भाषाओ मे भी सोम (भाँग) 'सिद्धि' के अर्थ मे व्यवहृत होती रही है। 'सिद्धि' के अभिलाषी आर्य, असुरो पर विजय-प्राप्त करने के लिए, उसका यज्ञो मे प्रयोग करते रहे थे। तागतो की भाषा मे भाँग का नाम सोम (DSCHOME) है।

सोम का जिस प्रकार वर्णन ऋग्वेद मे है, उसमे अधिकाश विशेषण भाँग पर भी लागू होते है। सोम मदकर होता था, यह निर्विवाद है। सोम को कूटने और रस चुवाने मे पत्थरो का प्रयोग होता था (ऋ० १।२८।१)। सोम पर्वत-प्रान्त मे पाया जाता था। आर्य हस्त द्वारा सोम लता का दोहन करते थे और प्रस्तर द्वारा धारा-रूप मधुर सोमरस का शोधन करते थे (ऋ० ३।३६।७)। सोम शीघ्र मदकारी, बलवर्द्धक, लाल, हरित और पीले रग का होता था (ऋ० ६।११।४)। वह पत्थर मे कूटा जाता था। दसो अँगुलियो से मथकर (ऋ० ६।६१।७,६०।८०।५।) हाथ से निचोडा जाता था (ऋ० ६।७०।८-६।८०।४,५,६७।४५)। मेष-लोममय छलनी से छाना जाता था (ऋ०६।६२।१)। वह मदकर, स्वादुत्तम, रसात्मक और अरुण वर्ण भी होता था (ऋ० ६।७८।४)।

ऋग्वेद के 'सोम शीर्षक' नवम मडल मे सोम का विस्तारपूर्वक वर्णन है। सोम एक-एक द्रोण के कलसो मे रखा जाता था (ऋ० ९।१।२८,९।३।१)। यह कलसे काष्ठ के बने होते थे (ऋ० ९।१०७।१०)। वे एक-एक द्रोण के कठौते आज भी गढवाल मे उसी प्रकार घी-दूध के लिए प्रयुक्त होते हैं। सोम पर्वतवासी इन्द्र को अत्यन्त प्रिय था (ऋ० ९।९६।५।९।८।१,२,७,९)। सोम स्वर्ग (गढवाल) मे होता था। उसे इन्द्र का जनक भी कहा गया है (ऋ० ९।९६।५)।

श्री नारायण पावगी लिखते हैं कि "आर्य जातियाँ उच्च पर्वत-शिखरो या गहरी पर्वत-उपत्यकाओ मे निवास करती थी। वैदिक ऋचाओ के अनुसार सोम-पूजा का सर्व प्रथम स्थान यही प्रतीत होता है। सोम का पौधा अत्यन्त निम्न तथा अत्यन्त उष्ण प्रदेश मे नही उगता था। प्रवासी आर्य उसे पर्वत-प्रदेशो से ही प्राप्त करते रहे है। वैदिक काल मे हिमालय पर्वत, सिन्धु नदी और शर्पणावत का तटवर्ती क्षेत्र ही सोम के उत्पत्ति स्थल हैं।"

सोम का मूल उत्पत्ति-स्थान हिमालय था। सायण लिखते हैं कि मुजावत पर्वत पर सर्वोत्तम सोम उगता है। और वह मुजावत पर्वत, हिमालय के पृष्ठ पर अवस्थित है। भाँग के पौधे, गढवाल के वनो मे भी पाये जाते हैं और गाँवो मे अपने खेतो मे भी लोग भाँग बोते है।

उत्तर गढवाल के राष्ट्र (राठ) अचल मे भाँग की खेती बहुत होती है। वहाँ वनो मे भी भाँग घास की भाँति उगती है। उसका वर्ण हरित, स्वर्णिम और पीला होता है। वह इतना उपयोगी पौधा है कि उसका अशमात्र भी व्यर्थ नही जाता। भॉग राष्ट्र प्रदेश का मुख्य व्यवसाय है। उसकी छाल निकाल कर जो वरकल वस्त्र बनाया जाता है उसको 'भँगेला' कहते है, जो (**गढ़वाल गजेटियर्स, पृष्ठ ४१**) के अनुसार राष्ट्र निवासियो का मुख्य पहिनावा है। लोग रात को उसकी लकडी की मशाल बनाते है। भाँग कूट कर, पीस कर और भून कर खायी जाती है। शौकीन लोग उसके पत्तो को दूध के साथ घोट कर छलनी से छान कर पीते है। उसके बीज भी अत्यन्त स्वादिष्ट होते है और कच्चे तथा भून कर खाये जाते है। उसका पौधा लता की भाँति लचीला होता है। इसीलिए उसको वेदो मे पौधा और आयुर्वेद मे लता भी कहा जाता है। वस्तुत उसे पौधा भी और लता भी कह सकते हैं। वह शीघ्र मदकारी होते हुए भी शराब की भाँति उत्तेजक और अनर्थकारी नही होता। आज भी अनेक हिन्दुओ द्वारा उनके धर्मोत्सवो मे अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक उसका रस जल, दूध और दही मे मिला कर सेवन किया जाता है। उसको चिलम पर भी पीते है। उसको ऋग्वेद के अनुसार दशो उँगलियो से मथकर प्राय 'सुलफे' (चरस) के रूप मे निकाला जाता है (ऋ० ९।१।६)। सूर्यपुत्री (यमुना) द्वारा उसका रस विस्तृत एवं पवित्र करने का उल्लेख है

(ऋ० ६।११३।६)। सूर्यपुत्री द्वारा, सोम को स्वर्ग से पृथ्वी पर लाने का उल्लेख भी है (ऋ० ६।१०२।४)। सोम को मातृरूप गगा आदि सप्त सरिताएँ प्रशसित करती हैं। आर्य-ऋषियो की सोम के प्रति जो असीम श्रद्धा-भक्ति थी, उनके बीच सोम का प्रयोग जिस प्रकार प्रचलित था, उस परम्परा के अनुसार आज भी आर्य-ऋषियो, साधु-महात्माओ मे सोम-याग-सदृश, सिद्धि-लाभ के लिए दुर्गापूजा एव शिवरात्रि-पर्व पर तथा अन्य हिन्दू धर्म उत्सवो मे भँग का प्रयोग प्रचलित है। यदि आर्यों का वह लोकप्रिय पेय सचमुच भाँग ही है, तो इसमे कोई सन्देह नही कि उत्तराखण्ड के इस राष्ट्र क्षेत्र मे आज भी उसका सर्वाधिक प्रयोग पूर्ववत् प्रचलित है।

इस प्रकार सोम के सर्वव्यापी महत्व को और राष्ट्र (राठ) क्षेत्र मे प्रचलित उसकी प्रचुरता को दृष्टि मे रखकर प्रतीत होता है कि मध्य हिमालय का यह सम-शीतोष्ण भू-खण्ड आर्यो के निवास के लिए सर्वथा उपयुक्त था। आर्य ऋषियो ने यही बैठकर संहिताओ का विभाजन किया और यहो की परिस्थितियो को दृष्टि मे रखकर सहिताओ मे सोम तथा सोमरस का बार-बार उल्लेख हुआ है।



कैलास मेरु . सुमेरु और गन्धमादन पर्वत

कैलास, मेरु और सुमेरु पर्वतो के सम्बन्ध मे इतिहासलेखको ने अनेक निराधार कल्पनाएँ की है। वस्तुत ये सब नाम उस पर्वत-प्रदेश के लिए प्रयुक्त हुए है, जो गगा नदी का उद्गमस्थल है। 'महाभारत' (वन पर्व के १६३ और १६४ अध्यायो) मे अर्जुन की जिस मेरु यात्रा का वर्णन है वह सुमेरु पर्वत, बदरीनाथ के निकट सतोपथ है। इसी गन्धमादन क्षेत्र से अर्जुन ने मेरु पर्वत मे प्रवेश किया था। 'महाभारत' के इन अध्यायो मे लिखा है कि मन्दराचल पर इन्द्र और कुबेर का तथा मेरु पर भगवान् नारायण का आश्रम है। अलकापुरी, मेरु, सुमेरु, कैलास और गन्धमादन पर्वत-प्रदेश आर्य-ऋषियो का तपस्थल रहा है। कविवर कालिदास के देवतास्वरूप नगाधिराज हिमालय का यही पावन प्रदेश, 'कुमार-सम्भवम' मे कार्तिकेय की क्रीडास्थली भी है। इस क्षेत्र मे फैले हुए अनेक नन्दन वनो के वन-वैभवो से चमत्कृत होकर वेद और पुराणो मे आर्य-मनीषियो ने जो प्रससात्मक काव्य-रचनाए की है उनकी कुछ काव्यगत कल्पनाओ को, अक्षरश ऐतिहासिक तथ्यो के पैमाने पर सही-सही नाप कर आज साहित्य के डाक्टर अर्थ का अनर्थ कर रहे हैं।

सुमेरु को 'महाभारत' मे गिरिराज, नगोत्तम और महौषधि नाम तथा प्रभावान् कहा गया है। जो लोग इस मेरु और सुमेरु को मध्य एशिया एव उसमे वर्णित छ महीने का दिन और छ महीने की रात की कवि-कल्पना के कारण उसको उत्तरी ध्रुव मे सिद्ध करने का प्रयास करते है, उनको उत्तरी ध्रुव मे गिरिराज, नगराज एव अनेक ऐसे पर्वत-शिखर भी प्रमाणित करने चाहिएँ। वस्तुत उसमे छ-छ महीने के दिन-रात के अलकारिक वर्णन का सामान्य अर्थ यह है कि छ महीने तक वहाँ हिमाच्छादित सदनो मे सूर्य-दर्शन नही होता है। श्री बदरीनाथ की पूजा छ महीने देवता और छ महीने मनुष्य करते है। इस जनश्रुति का भी यही अर्थ है कि शीतकाल मे अत्यधिक हिमपात के कारण केदारनाथ और बदरीनाथ के पट छ महीने बन्द रहते है। अत छ महीने के लिए वहाँ के निवासी नीचे, उष्ण उपत्यकाओ मे उतर आते है।

'महाभारत' के अनुसार मेरु पर कुबेर का निवास है, उसके उत्तर भाग से गगा निकलती है (भीष्म पर्व ६।१०।३३)। व्यास ने शिष्यो सहित मेरु पर निवास किया था (शाति पर्व ३४१।२६)। हम इससे पूर्व बदरीक्षेत्र मे, नर-नारायण आश्रम और व्यास आश्रम का उल्लेख कर चुके है। मेरु पर्वत पर, प्रकृति की इसी

रगस्थली मे फैला हुआ ससार का आश्चर्यजनक प्राकृतिक पुष्पोद्यान कुबेर का नन्दन-कानन वह प्रसिद्ध फूलो की घाटी भी है। इस उपत्यका को आज भी भीम के नाम पर म्यूंधार (भीमधार) घाटी कहते है, जहाँ द्रौपदी के आग्रह पर भीमसेन पुष्प-चयन करने गये थे। **'महाभारत'** (वन पर्व) के अनुसार मेरु पर्वत मे, नन्दन वन के आस-पास ही आर्य-द्विजो की उत्पत्ति की घोषणा भी की गयी है। **'महाभारत'** मे मेरु पर्वत पर उस नन्दन वन का वर्णन है।

अटकिन्सन साहब भी **'हिमालय गजेटियर्स'** (पृ० २८४-८५) मे लिखते हैं कि यह निर्विवाद है कि भारतीय देवताओ की क्रीडाभूमि मेरु पर्वत हिमालय के इसी सर्वोच्च हिमाच्छादित शिखर के सम्मुख अवस्थित है। **'केदारखण्ड'** के गगास्त वन (३८।१४०) मे गगा नदी को इसी सुमेरु पर्वत से निकली हुई कहा गया है

राहुल जी भी **'हिमालय परिचय'** ।१। (पृ० १२) मे लिखते है कि सुमेरु सतोपथ का ही नाम है, जा उत्तर गढवाल के पल्ला पनखडा मे अवस्थित है। उसकी चार चोटियाँ २१६६१ फुट और २३२४६ फुट ऊँची है। गगा का स्रोत जिस मेरु पर हो उसको मध्य एशिया एव ध्रुव देशो मे खोजना हास्यास्पद है। शेयरिंग साहब भी अपनी पुस्तक-सीमान्त क्षेत्र तिब्बत (Tibetan Border Land) मे मेरु की इन विवादास्पद भौगोलिक स्थितियो को, गन्धमादन के पवत मे जहाँ अलकनदा (गगा) नदी बहती ह, स्वीकार करते है। **'महाभारत'** मे लिखा है कि मेर पर्वत से निकल कर भागीरथी गगा चन्द्रहृद मे गिरती है। भगवान् शकर इस पर्वत पर उमा सहित बिहार करते है (भीष्म ६। २५।३१)। इसी मेरु के पार्श्व मे वशिष्ठ जी का आश्रम है (आदि० ६६।६)। यहाँ ब्रह्मा के मानसपुत्र सप्तर्षियो का निवास है। दैत्यो सहित शुक्राचार्य यहाँ रहते है। यह माल्यवान् और गन्धमादन—दोनो पर्वतो के बीच मे स्थित है।

कैलास—वस्तुत मेरु ही कैलास पर्वत का नाम भी है। यही हिन्दुओ की स्वगभूमि है। **'महाभारत'** वन पर्व मे लिखा है कि कैलास पर देवताओ का वास है और उसी पर विशाल (बदरीकाश्रम) नाम का तीर्थ स्थान है। राजा सगर और भगीरथ ने कैलास पर भी तपस्या की थी। **'महाभारत'** (सभा १०।३२ तथा वन पर्व ३७।४२) के अनुसार कैलास पर्वत बदरीनाथ के निकट, गगाक्षेत्र मे गन्धमादन-पर्वत-श्रेणी के आस-पास फैला हुआ है। कैलास पर्वत पर नर-नारायण आश्रम और गन्धमादन पर्वत से उसकी भौगोलिक स्थिति का स्पष्टीकरण हो जाता है। **'केदारखण्ड'** (६०।३४, ७८।३८) मे भी कैलास पर्वत की स्थिति गगा के निकट गन्धमादन क्षेत्र मे स्पष्ट है।

गन्धमादन—बदरीकाश्रम के चारो ओर, कैलास क्षेत्रान्तर्गत गन्धमादन पर्वत

का भी 'महाभारत' और पुराणो मे अनेक स्थानो पर अत्यन्त गौरवपूर्ण उल्लेख है। गन्धमादन मे कश्यप ऋषि और शेष भगवान् ने तपस्या की थी (आदि पर्व ३०। १०।३६।२)। यहाँ पाडुकेश्वर मे राजा पाँडु ने पत्नियो सहित तप किया। यही पाँचो पाडवो का जन्म हुआ और यही पाँडु की मृत्यु एव माद्री सहित उनके चितारोहण की भी घटना घटी (आदि० ११८-१२४)। गन्धमादन पर कुबेर उपासना करते रहे (सभा० १०।३२)। यही भगवान् कृष्ण ने सायगृह मुनि होकर १० हजार वर्ष तक निवास किया (वन पर्व १२।११)। यही विशाल बदरी और भगवान् नारायण का आश्रम है (वन० १४१।२२)। गन्धमादन मे पाडवो का प्रवेश वहाँ का अद्वितीय प्रकृति-सौंदर्य, पाँडवो का घटोत्कच की सहायता (नर-वाहन) कमल-पुष्पो के लिए भीमसेन का कुबेर के नन्दन-वन मे प्रवेश, कुबेर के सखा मणिमान राक्षस का वध और अर्जुन की इन्द्रलोक से वापसी का वन पर्व मे (१४० से १६४ तक) सर्वत्र अत्यन्त गौरवपूर्ण वर्णन है।

प्राचीनकाल मे इस गन्धमादन-पर्वत-प्रदेश का इतना अत्यधिक महत्व था कि यदुवश की समाप्ति पर भगवान् कृष्ण उद्धव से, उसे पृथ्वी पर एकमात्र पावन स्थल बतला कर, यदुवश के नष्ट होने के बाद वहाँ प्रस्थान करने को कहते है (विष्णुपुराण ५।३७।३४)।

'महाभारत' के अनुसार इसी बदरीकाश्रम के गन्धमादन क्षेत्र के निकट कैलास और मैनाक पर्वत है

अवेक्षमाण कैलास मैनाक चैव पर्वतम्।
गन्धमादनपादाश्च श्वेत चापिशिलोच्चयम् ।।

श्री रामगोविन्द त्रिवेदी 'वैदिक साहित्य' (पृ० २८४ मे) लिखते हैं कि "ऋग्वेद मे हिमालय शब्द नही है परन्तु हिमवन्त है। ऋग्वेद (१०।३४।१) मे मुजावत पर्वत का नाम है, जिसे सायण ने सोम का विशेषण बतलाया है। अथर्ववेद (५।२२) और 'तैत्तिरीय सहिता' (१।८।६२) से ज्ञात होता है कि मुजवान पवत गान्धार देश या वाह्लीक प्रदेश की तरफ, उत्तराखड मे था। कुछ लोग मुजवान पर्वत को कैलास भी कहते है। 'महाभारत' (१४।८।१) मे उसको (गिरे हिमवत पृष्ठे) हिमालय की पीठ पर बतलाया है। हिमालय के उत्तर प्रदेशस्थ पर्वत मुजवान पर्वत था। 'तैत्तिरीय आरण्यक' (१।३१) मे इन तीनो पर्वतो के नाम आये है सुदर्शन, क्रौच और मैनाक। मेरु को ही कुछ लोग सुदर्शन मानते हैं। क्रौच और मैनाक नाम पुराणो में आये हैं। उक्त आरण्यक मे कहा है कि इन तीनो पर्वतो मे कुबेर और कुबेर के पुत्रो का नगर है, जो स्पष्टत अलकापुरी का क्षेत्र है।"

त्रिवेदी जी ने जिस हिमवन्त, मुजवान, कैलास, क्रौच, मैनाक, मेरु, एव

उत्तरखड का नाम दिया है, उसी पर्वत-प्रदेश का वर्तमान नाम गढवाल है। यहाँ कुबेर की अलकापुरी है। यह यक्ष, गन्धर्व और किन्नरो का देश है। इस आधार देश से अभिप्राय काबुल कन्दहार के निकट प्रदेश से नही, वरन् गन्धर्व-किन्नरो के उस पर्वत-प्रदेश से है, जो उत्तर प्रदेश के उत्तरी भाग मे है **'महाभारत'** (सभा० ३।६।११, वन पर्व १३६।१, १४५।४४)। जिसका प्राचीन नाम उत्तराखड और वर्तमान नाम गढवाल है। महाराज हिमालय की पत्नी मेनका से मैनाक और क्रौच दो पुत्र-रत्न (दो पर्वत-शिखर) उत्पन्न हुए थे। मैनाक कैलास क्षेत्रान्तर्गत है (भीष्म पर्व ६।४२)। इस पर्वत पर भगीरथ ने गगावतरण के लिए तप किया था (सभा पर्व ३०।६,११)। केदारनाथ के पूर्वोत्तर भाग मे एक पवत-शिखर क्रौच नाम से आज भी विख्यात है।

ऋग्वेद की नदियाँ

ऋग्वेद मे निम्नलिखित नदियो का उल्लेख है

सप्तसिन्धु—१।३२।१२, १०।३६।६

सप्तसरिताएँ—६।७।६, १।१०२।२१, १।१६१।१४, २।१२।१२, ३।१।४,
६, ६।६।४ ६ = ७ बार

आचार्य सायण ने जिनको गगा आदि सात नदियाँ कहा है | ५।४२।१२,६।६१।१२,८।८५।१,६।६।४, १०।४३।३, १०।१०४।८

२१—**शाखा नदियाँ**—१०।६४।८,६, १०।७५।१

६०—**नदियाँ**— १।३२।१४, १।१६१।१३

६६—**नदियाँ**— १।३२।१४ १।१६१।१३

१—**सरस्वती**—१।३।१०,१२, ३।२३।४, ५।४२।१२,६।५२।६, ६।६१।१
से १४,७।३६।६, ७।६५।१ से ६,७।६६।१ से ३,८।२१।
१७।१८, बालखिल्य सूक्त ६।४, १०।१६।७ मे ३ बार,
१०।१६।८,६, १०।६४।८ ६ १०।७५।५ = ४० बार

२—**सिन्धु**—१।३४।८, २।१५।६, ३।३३।३, ५।५३।६, ७।३६।६, ८।२०।२५
१०।६४।८,६, १०।४५।२ ५,६,७ १०।७५।१६ से ६ = २५ बार

३—**सरयू**— ४।३०।१८, ५।५३।६, १०।१४।८,६ = ४ बार

४—**पहष्णी**— २।१५।५ ५।५२।६, ८।६३।१५, १०।७५।५ = ४ बार

५—**यमुना**— ५।५२।१७, ७।१८।१६, १०।७५।५ = ३ बार

६—**गगा**— ३।५८।६, ६।४५।३७, १०।७५।५ = ३ बार

७—**गोमती**— ५।६१।१६, ८।२४।३०, १०।७५।६ = ३ बार

८—**अशमती**—८।४५।१३, १४,१५ = ३ बार

९—विपाशा—(व्यास) ३।३३।१ और ३,४।३०।११ = ३ बार
१०—शतुद्री—(सतलज) ३।३३।१७, १०।७४।५ = २ बार
११—असिक्नी (चिनाव) ८।१०।२५,७५।५ = २ बार
१२—वितस्ता (झेलम) १०।७५।५ = १ बार
१३—आर्जीकीया—८।५३।११, १०।७५।५ = २ बार
१४—कुभा (काबुल नदी) । ५।५३।९, १०।७५।५ = २ बार
१५—श्वेतयावरी—८।२६।१८, १९ = २ बार
१६—सुषोमा—८।५३।११, १०।७५।५ = २ बार
१७—हरियूपीया—६।२७।५,६ = २ बार
१८—रसा— ५।५३।९, १०।७५।५ = २ बार
१९—अनितभा— ५।५३।९ = १ ,,
२०—क्रमुव (कुरम)—१०।७५।६ = १ ,,
२१—मन्दाकिनी— ८।११३।८ = १ ,,
२२—तृष्टामा— १०।७५।६ = १ ,,
२३—श्वेत्या— ,, = १ ,
२४—स्मर्तु ,, = १ ,,
२५—महेल— ,, = १ ,,
२६—मरुद्वृद्धा— ,, = १ ,,
२७—सुवास्तु— ८।१९।७ = १ ,,
२८—सीरा— १।१३४।६ = १ ,,
२९—इरावती— २।१५।६ = १ ,,
३०—दृषद्वती— ३।२३।४ = १ ,
३१—उर्वशी— ५।४१।१९ = १ ,,
३२—आपया— ३।२३।४ = १ ,,
३३—अश्मवती— १०।५३।८ = १ ,,
३४—शिफा— १।१०४।३ = १ ,,
३५—यव्यावती— ६।२७६ = १ ,,

सप्तसिन्धु और उसकी नदियाँ

आर्यों के आदि देश सप्तसिन्धु मे सात प्रमुख नदियो के अतिरिक्त त्रिसप्त सरिताएँ एव ६० और ६६ नदियाँ भी बहती थी। 'सिन्धु' शब्द का निर्वचन 'निरुक्त' खड २६ के अनुसार (सिन्धु स्यन्दनात्) तीव्रगामी से है। यह नदी जाति के लिए अत्यन्त प्राचीन योगरूढ शब्द है। निरुक्तकाल मे सिन्धु शब्द तीव्र प्रवाह के कारण पर्वत-प्रदेशो मे प्रवाहित प्रत्येक नदी के लिए प्रयुक्त होता था। सिन्धु नदी और समुद्र मे अनेक नदियाँ सधि करती है। इस कारण सिन्धु नदी और समुद्र सिन्धु के पर्याय है। सप्तसिन्धु से भी स्पष्टत सात नदियो का बोध होना है, किसी सिन्धु नाम की विशेष नदी का नही। इसी प्रकार जहाँ सात सरिताओ की जलराशि एकत्र हो, उस देश का नाम सप्तसिन्धव है। पजाब पँचनद अर्थात् पाँच नदियो का देश है। वहाँ सिन्धु के अतिरिक्त रावी, चिनाव, झेलम, व्यास और सतलज बहती है, परन्तु आज वहाँ सिन्धु के अतिरिक्त इन नदियो मे से किसी का वैदिक नाम प्रचलित नही है। जब सप्तसिन्धु की अन्य छ नदियाँ, परुष्णी, शतुद्री, विपासा, असिक्नी और वितस्ता पजाब मे अपने वैदिक नाम से प्रचलित नही है तो वहाँ केवल सिन्धु का ही नाम अपरिवर्तित रहा है, यह धारणा युक्तियुक्त नही है। आज नही, ईसा से ३,४ सौ वर्ष पूर्व सम्राट् चन्द्रगुप्त के युग मे भी उनका वैदिक नाम प्रचलित नही था। यूनानियो ने रावी को हाइड्राटीज और व्यास को हिफानिस लिखा है। स्वय लोकमान्य तिलक को भी पजाब के सप्तसिन्धु होने मे सन्देह है। वे **'आर्कटिक होम इन दि वेदाज'** (पृ० २३०) मे लिखते है

"पजाब पाँच नदियो का देश है, सात का नही। इन सरिताओ मे कोई समान गुणो और नामवाली दो सहायक नदियो को अपनी इच्छानुसार जोड लेने से हम इनका सख्या यद्यपि सात सरिताओ तक बढा कर ले जा सकेंगे।" बल-पूर्वक दो और नदियो का नाम जोड कर पजाब को सात नदियो का देश बनाने का यह प्रयास ऐतिहासिक सत्यता की कहाँ तक पुष्टि करता है, यह विचारणीय बात है। इस प्रकार पजाब मे सिन्धु नदी का ऋग्वैदिक नाम प्रचलित होने के कारण, पचनद पजाब म ही जिसकी प्राचीन और अर्वाचीन परिस्थितियाँ ऋग्वेद के सप्तसिन्धु मे वर्णित प्राय सभी सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एव भौगोलिक तथ्यो से सर्वथा प्रतिकूल है, आर्यों के आदिदेश सप्त सिन्धु की स्थापना तर्कसगत नही। वस्तुत पजाब मे इस एक 'सिन्धु नदी' के नाम से एक नदी सरलतापूर्वक

प्राप्त हो जाने के कारण, इतिहासकार ऋग्वैदिक आर्यों के मूलस्थान से सम्बन्ध मे अनेक निराधार कल्पनाओ के चक्कर में पड गये।

पजाब सप्तसिन्धु के समर्थक इतिहासकार स्वय पजाब मे, सप्त सरिताओं के अतिरिक्त, वहाँ २१ सहायक सरिताएँ, ६० तथा ६६ अन्य नदियो के भौगोलिक अस्तित्व का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने मे असमर्थ रहे हैं। सिन्धु नदी के कारण पजाब प्रान्त पर ही केन्द्रित रहने के कारण उन्होने ऋग्वेद मे वर्णित अन्य सब तथ्यो की तलाश मे पजाब से बाहर अन्यत्र जाने का प्रयास नही किया। इससे यह भी स्पष्ट है कि उन्होने केवल अनुमानो के आधार पर, कुछ-कुछ मिलते-जुलते नामो को काट-छाट कर, पजाब मे ही सप्तसिन्धु की कल्पना कर डाली है। 'हिन्दी-ऋग्वेद' की भूमिका मे श्री रामगोविन्द त्रिवेदी लिखते है

"ऋग्वेद (१।१२१।१३) मे लिखा है कि इन्द्र नौका द्वारा ६० नदियो के पार गये थे तथा (१।१६१।१३) मे ६६ नदियो के नाम का कीर्तन किया गया है, परन्तु ऋग्वेद मे तो ६० या ६६ नदियो के नाम अलभ्य है। क्या मन्त्रो के समान इन नदिया के नाम भी लुप्त हो गये ?"

ऋग्वेद मे यह स्पष्ट है कि उक्त सब सरिताएँ हिमाच्छादित पर्वत प्रदेश मे बहती थी और वे सब विशेषकर सप्तसरिताएँ वही सन्धु नदी में सधि करती थी, अर्थात् इन सबके सधिस्थल पजाब की भाँति समभूमि मे नही थे, वरन् पर्वत-प्रदेश मे थे, जिसका नाम सप्तसिन्धु था। गढवाल का यह हिमाच्छादित पर्वत-प्रदेश नदियो का देश है। इतिहासकारो द्वारा जिन्हे आर्यावर्त्त मे ६६ ऋग्वैदिक नदियाँ प्राप्त नही हुई वे अलकनन्दा (सिन्धु) मे सन्धि करने वाली, सप्तसिन्धु की उन सात देवनदियो के अतिरिक्त यत्र-तत्र प्रवाहित शेष ६० एव ६६ ऋग्वैदिक नदियो का यहाँ आकर प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते है। आर्यों की इन्ही देवनदियो के पवित्र सगमस्थलो पर प्राचीन काल से अनेक वेदमत्र पाँच प्रयागो की स्थापना की पुष्टि करते है। पजाब की नदियो के सगमो पर, वेद प्रतिपादित आर्य-जाति के ऐसे तीर्थस्थानो का सर्वथा अभाव, उनकी ऐतिहासिक प्राचीनता को अप्रमाणित कर देता है।

ऋग्वेद में सप्तसिन्धु की समस्त नदियो के, लगभग ३५ नदियो के, नामो का ही उल्लेख है। सप्तसिन्धु का दो बार, सप्तसरिताओ का बारह बार, २१ शाखा नदियो का तीन, ६० और ६६ नदियो का दो-दो बार, अलग-अलग वर्णन आया है। सरस्वती नदी का ४० बार, सिन्धु का २५, गगा का स्वतत्र रूप से तीन बार तथा 'हिन्दी-ऋग्वेद' के अनुसार आचार्य सायण ने सात नदियो के साथ गगा का और भी छ बार उल्लेख किया है। इस प्रकार गगा का कुल नौ बार, सरयू का

चार बार, परुष्णी का चार, यमुना, गोमती, अशुमती और विपाशा का तीन-तीन बार, आर्जीकीया, शतुद्री, असिक्नी, कुभा, सुषोमा, हरियूपीया, श्वेतयावरी और रसा का दो-दो बार तथा अन्य नदियों का ऋग्वेद में केवल एक-एक बार उल्लेख है।

किसी बात का बार-बार वर्णन उसकी लोकप्रियता का परिचायक है। ऋग्वेद में सबसे अधिक बार जिस नदी का वर्णन आया है, वह सरस्वती है। परन्तु पजाब में उसका भी भौगोलिक अस्तित्व आज विद्यमान नही है। इतिहासकारो द्वारा उसकी प्राचीन भौगोलिक स्थिति की कल्पना, पजाब मे सप्तसिन्धु की स्थापना के समर्थन मे केवल अनुमान मात्र है। सरस्वती के पश्चात्, क्रमानुसार सिन्धु गगा (सायण की गणनानुसार), सरयू (कुमाऊँ की नदी जो गढवाल के तटवर्ती क्षेत्र से निकलती है), परुष्णी, यमुना, गोमती, अशुमती और विपाशा है। इन नौ नदियो मे सिन्धु, परुष्णी (रावी) और विपाशा (व्यास) पजाब में बतलायी जाती हैं। यदि पजाब सप्तसिन्धु होता तो ऋग्वेद पजाब की, आर्जीकीया, शतुद्री (सतलज), असिक्नी का सरस्वती, गगा, सरयू, यमुना, गोमती और अशुमती आदि से प्रथम एव अधिक बार उल्लेख हुआ होता। यदि केवल परुष्णी और विपाशा भी जिनका ऋग्वेद मे (सरस्वती, गगा और सरयू से कम होते हुए भी) क्रमश चार बार और तीन बार उल्लेख हुआ है, अपने वैदिक नाम से पजाब मे प्रसिद्ध होती तो वहाँ की सिन्धु नदी को भी, वैदिक सिन्धु घोषित करने मे कोई आपत्ति नही थी। शतुद्री (सतलज) और असिक्नी (चिनाव) का दो बार और वितस्ता (झेलम) का तो केवल एक बार ही नाम आया है। आर्यों ने जिस देश की नदियो का इतना कम वर्णन किया हो, उसको आर्यों का आदि देश घोषित करना युक्तियुक्त नही है।

ऋग्वेद (५।५३।९) मे मरुतो के देश मे रसा, अनितभा, कुभा, क्रमु, सिन्धु और जलमयी सरयू का उल्लेख है पजाब की सिन्धु के साथ इन नदियो का ऐतिहासिक अस्तित्व नही है। जो सरयू नदी जलमयी विशेषण से प्रतिष्ठित की गयी है, वह साधारण नदी नही है, जिसका पजाब प्रान्त मे भौगोलिक अस्तित्व न हो। फारसी धर्मग्रन्थो मे भी सिन्धु के साथ सरस्वती (हरह्वती) और सरयू (हरैयू) का उल्लेख है। शतुद्री, असिक्नी और वितस्ता का नही। ऋग्वेद (१०।४४।७) मे भी सिन्धु से पूर्व सरस्वती के साथ घृत और बृहद् सहित त्वरा-पूर्वक बहती हुई, देवी और मातृरूपिणी बडी नदियो के साथ जिस सरयू का उल्लेख हुआ है उस महत्वपूर्ण नदी सरयू का भी पजाब मे सर्वथा अभाव है।

ऋग्वेद (३।३३।१,२,३,५) से प्रमाणित होता है कि विश्वामित्र सरस्वती नदी से आगे सिन्धु के देश को गये। वे विपाशा और शतुद्री (ऋ० ३।३३।१)

के संगम पर पहुँचे और उनको पार कर उन्होंने सिन्धु को पार करने का प्रयत्न किया। यदि शतुद्री पंजाब की सतलज और विपाशा व्यास है तो सिन्धु तक पहुँचने से पूर्व, उसमे रावी, चिनाव और झेलम आदि नदियों को पार करने का वर्णन होता। इसीलिए सायण ने यहाँ पर सिन्धु का अर्थ पंजाब की सिन्धु नदी नहीं किया है। सप्तसिन्धु में, सिन्धु, सरस्वती और रसा के साथ सरयू का भी नाम है। इस नाम की नदियाँ इतिहासकारों को पंजाब-प्रान्त में नहीं मिलती। डॉ० सूर के मतानुसार अनितभा, रसा और श्वेती सिन्धु की नदियाँ हैं। इस प्रकार पंजाब मे सिन्धु के अतिरिक्त सरस्वती, सरयू और गोमती का अस्तित्व भी अप्रामाणिक है। इसीलिए तिलक पाँच नदियों के देश पंजाब को सप्तसिन्धु देश बनाने के लिए, उसमें दो और नदियों का नाम जोडने की युक्ति को कृत्रिम युक्ति कहते है। इतना ही नहीं, तिलक सप्तसिन्धु की सरिताओं को स्वर्ग की नदियाँ मानते हैं, जिसका सारांश यह है कि सप्तसिन्धु की सप्त सरिताओं के प्रति आर्यों का इतना भक्तिभाव था, जिसका पंजाब की पाँच सरिताओं में अभाव है।

ऋग्वेद (३।३३।१) के अनुसार शतुद्री सिन्धु का ही नाम है। इन्ही मंत्रों से प्रकट है कि शतुद्री और विपाशा एक साथ, वेग से समुद्र की ओर जाती हैं। परन्तु पंजाब की शतुद्री (सतलज) और विपाशा (व्यास) समुद्र मे नहीं गिरती, वरन् पंजाब में ही सिन्धु में मिल जाती हैं। इसमें प्रमाणित है कि पंजाब की सतलज और व्यास, ऋग्वैदिक शतुद्री और विपाशा नहीं है। विपाशा व्यास का नहीं, वरन् किसी अन्य नदी का नाम है, क्योंकि ऋग्वेद के प्रसिद्ध '**नदी सूक्त**' में भी उसका नाम नहीं है।

ऋग्वैदिक सिन्धु ही अलकनंदा एवं गंगा है

आर्यों के आदि देश सप्तसिन्धु की सप्त सरिताओं में, उनकी परम आराध्या देवनदी गंगा, सम्मिलित न हो, यह बात आर्य-साहित्य द्वारा प्रतिपादित परम्पराओं के प्रतिकूल है। ऋग्वेद में सिन्धु को स्पष्टतः त्रिपथगा (गंगा) भी कहा है। '**नदी सूक्त**' के प्रारम्भ में लिखा है कि नदियाँ सात-सात करके, तीन प्रकार तीन पथों से—पृथ्वी, आकाश और द्यु-लोक में हो कर चली। इन सबसे अधिक बहने वाली सिन्धु ही है। आचार्य सायण ने सप्तसिन्धु में जो अन्य किसी नदी का, सिन्धु नदी तक का, भी नाम न देकर केवल गंगा आदि सात नदियाँ (गंगाद्यासु नदीषु) ही लिखा है, वह अकारण और निराधार नहीं है। भाष्यकार महीधर ने भी (ऋ० ८।६।२८) गंगा के संगमस्थलों पर मेधावी आर्य-विप्रों की उत्पत्ति बतलायी है। वेद भाष्यकारों में आचार्य सायण का '**ऋग्वेद भाष्य**' सर्वोत्तम माना जाता है।

ऋग्वेद में जिन बारह स्थानो पर सात सरिताओ का वर्णन आता है, उन सब मे (हिन्दी ऋग्वेद, पृष्ठ ५६७, ७५५, १०५५, १०७७, १२७७ और १३८७ के अनुसार) सायण ने केवल गगा आदि सात नदियाँ लिख कर गगा के अतिरिक्त किसी अन्य नदी का नाम नही दिया है। ऋग्वेद (६।६१।१२) मे सरस्वती को गगा आदि सप्त सरिताओ से युक्ता कहा है। सरस्वती नदी के साथ केवल गंगा आदि सात नदियाँ लिखा है (ऋ० ५।४२।१२)। कही गगा के सिवाय अन्य नदी का उल्लेख नही है। सायण ने मातृ रूप गगा आदि सात नदियाँ लिख कर, उसको अन्य नदियो से अधिक आदर प्रदान किया है (ऋ० ८।८५।१)। बालखिल्य सूक्त (६।४) मे सरस्वती और गगा आदि सात नदियो का ही उल्लेख है। अन्य किसी नदी का, सिन्धु तक का भी, उल्लेख नकया गया है। ऋग्वेद का (१०।४३।३) मे गगा आदि सात नदियो को कृषि की वृद्धि करने वाली कहा गया है। वहाँ (ऋ० १०।१०४।८) स्पष्ट लिखा है कि 'हे इन्द्र! रमणीय और अमित गति वाली गगा आदि सात नदियो के द्वारा तुमने शत्रुपुरियो को नष्ट करके सिन्धु को बढाया। तुमने मनुष्यो के उपकार के लिये ९९ नदियो का भी मार्ग प्रशस्त किया।' इस सूक्त मे भी गगा के अतिरिक्त सायण ने अन्य नदियो का उल्लेख न करके गगा को ही प्रमुखता दी है। यही तक नही, इस मत्र मे गगा आदि सात नदियो के द्वारा, सिन्धु के बढाये जाने के उल्लेख से यह भी प्रमाणित होता है कि गगा आदि सात सरिताएँ सिन्धु मे ही सघि करती थी। इस दृष्टि से भी वह सिन्धु पजाब की सिन्धु नदी नही, वरन् गगा-क्षेत्र की यही अलकनदा है। इसी क्षेत्र मे जो अन्य ९९ नदियो का वर्णन है, उससे भी स्पष्ट है कि आर्यो का आदि देश नदियो का देश था। इसमे गगा आदि सात प्रमुख नदियो के साथ ९९ नदियाँ भी बहती थी। और यह भौगोलिक तथ्य पजाब पर नही, वरन् शत-प्रतिशत गढवाल पर ही लागू होता है।

ऋग्वेद के 'नदी सूक्त' (१०।७५।५) मे सिन्धु के स्तवन के तुरन्त बाद सरस्वती, शतुद्री, परुष्णी, असिक्नी, मरुद्वृद्धा, वितस्ता, सुषोमा और आर्जिकीया से पूर्व सरस्वती से भी प्रथम, गगा और यमुना का नाम आता है और यह कदापि अकारण नही है। यदि शतुद्री, परुष्णी, असिक्नी, वितस्ता और आर्जिकीया पजाब की रावी, चिनाव, व्यास आदि वर्तमान नदियाँ है, तो गगा, यमुना और सरस्वती के मत्र ५ मे उनका उल्लेख न होकर, मत्र १, २, ३, ४, ६, ७, ८ और ९ मे सिन्धु के साथ कही भी उनका उल्लेख किया जाता, क्योकि वे वर्तमान पजाब और उसकी सिन्धु की एकमात्र सहायक नदियाँ है। गगा, यमुना के साथ जिन उक्त नदियो का 'नदीसूक्त' मे वर्णन है, उनका आज किसी प्रकार भौगोलिक सम्बन्ध नही है। क्योकि 'नदी सूक्त' मे शतुद्री, परुष्णी, असिक्नी, मरुद्वृद्धा,

बितस्ता, सुषमा और आर्जिकीया का सिन्धु के साथ नही, वरन् गगा और यमुना के साथ उल्लेख किया गया है। अत उनका भौगोलिक अस्तित्व भी सिन्धु नदी के साथ नही, वरन् गगा-यमुना के क्षेत्र मे ही खोजना युक्तियुक्त है।

'महाभारत' (आदि पर्व १७५।१७६) मे लिखा है कि विश्वामित्र से पीडित होकर वशिष्ठ जब आत्महत्या करने के लिये, मेरु-शिखर से गिरे तो शिलाखड उनके सामने रुई के ढेर के समान हो गये। उसके बाद वे एक महानदी मे कूद पडे परन्तु वह भी उन्हे विपाशा (बधनमुक्त) कर गयी। पुन उन्होने हिमालय से निकलने वाली एक भयकर नदी मे छलाग दे दी, परन्तु वह भी शत-शत धाराओ मे बिखर गयी। उन्होने प्रथम का नाम विपाशा और दूसरी का शतुद्री रख दिया। ऋषि वशिष्ठ का आश्रम भागीरथी और अलकनदा के तटवर्ती क्षेत्र टिहरी की 'हिमदाउ पट्टी' मे था। **केदारखड** मे गगा को 'सुमेरु शिखरावासा सुमेरु-गृह-पूजिता' कहा है, उसी को 'शतुद्री सरयू तथा सरस्वती नदानाद्रि निवासिनी' भी कहा। अत उससे भी प्रमाणित होता है कि विपाशा और शतुद्री पजाब की नदियाँ नही, वरन् अलकनदा या उसकी सहायक नदियाँ है। **'महाभारत'** (आदि० ६६।६) मे मेरु और कैलास-क्षेत्र के पार्श्व मे ही वशिष्ठ का निवास-स्थान बतलाया गया है। उससे भी गढवाल के इसी क्षेत्र मे विपाशा और शतुद्री के भौगोलिक अस्तित्व की पुष्टि होती है।

सप्तसिन्धु और गढवाल

गढवाल नदियो का देश है। गढवाल के उत्तरी सीमान्त पर सबसे प्रथम सप्तस्वसासु जेष्टा 'सरस्वती' है, जो केशवप्रयाग मे अलकनदा से मिल जाती है। सरस्वती के बाद अलकनदा है। अलकनदा कुबेर की अलकापुरी से निकलने वाली जल और लम्बाई के परिमाण मे गढवाल की सबसे बडी नदी है। वेद और पुराणो मे इसको ही देवनदी गगा कहा गया है। **'महाभारत'** (आदि-पर्व १६६।२२) के कथनानुसार जिसको स्वर्ग लोक (गढवाल) मे अलकनदा कहते है, वही मृत्युलोक (मैदानी क्षेत्र) मे गगा नाम धारण करती है। गढवाल मे यह गगा नाम से विख्यात है। इसमे सबसे प्रथम केशवप्रयाग मे सरस्वती, द्वितीय विष्णुप्रयाग मे धौली (श्वेतया), तृतीय नन्दप्रयाग मे नंदाकिनी, चतुर्थ (कर्णप्रयाग) मे पिंडर, पचम (रुद्रप्रयाग मे) मन्दाकिनी, (भागीरथी) देवप्रयाग मे आर्यों के आदि देश सप्तसिन्धु मे सम्भवत नही थी। वह बाद को, राजा भगीरथ द्वारा हिमालय को चीर कर लायी गयी है। और षष्ठ (व्यासघाट मे) नयार। इस प्रकार अलकनन्दा सहित सात प्रमुख नदियाँ एव ऋषिगंगा गणेशगगा, रूद्रगंगा, पातालगगा लक्ष्मणगगा, गरुडगगा,

कचनगगा क्षीरगगा और विष्णुगगा आदि हिमालय मे निकलने वाली अन्य अनेक नदियाँ भी सधि करती है । इसलिए अलकनदा का सिन्धु नाम सर्वथा उपयुक्त है ।

गगोत्री से निकलने वाली भागीरथी, वेद और पुराणो मे वर्णित गगा नहीं है । राजा भगीरथ से कई पीढियो पूर्व, ऋग्वेद मे गगा का अस्तित्व विद्यमान है । भागीरथी अलकनदा गगा की सहायक नदी नही वरन् राजा भगीरथ द्वारा लायी गया नहर है, जो गढवाल मे ही देवप्रयाग स्थान पर अलकनन्दा मे विलीन हो जाती है । पुराणो मे इसके उद्घाटन की तिथि वैशाख शुक्ला सप्तमी भी निश्चित है ।

देवनदी अलकनदा (सिन्धु) की लम्बाई, प्रवाह, सार्वजनिक उपयोगिता, जल का परिमाण, भागीरथी और यमुना से कई गुना अधिक है । आर्य जाति के हृदय म अलकनदा, उसके उद्गमस्थल एव तटवर्ती क्षेत्र के प्रति यमुना, भागीरथी एव पजाब की सिन्धु से आज भी असीम भक्तिभाव सुरक्षित हैं । अलकनदा के तटवर्ती क्षेत्र म बदरीनाथ, केदारनाथ और पच-प्रयागो के अतिरिक्त अनेक तीर्थस्थान है, जो प्राचीन काल से आज तक समस्त आर्य जाति द्वारा पूजित एव प्रतिष्ठित हैं । देवनदी गगा के दोनो पार्श्वों मे फैले हुए, प्राचीन आर्य मनीषियो द्वारा सेवित, गन्धमादन, नर-नारायण, सुमेरु और कैलास पर्वत हैं ।

भागीरथी की इस भौगोलिक एव ऐतिहासिक वास्तविकता से दो उल्लेखनीय तथ्यो पर भी प्रकाश पडता है :

१ कपिल ऋषि का आश्रम, जहाँ पर ६० हजार सगर-पुत्र भस्म हुए थे, और जिनकी स्वर्ग-प्राप्ति के लिए भगीरथ, भागीरथी को लाए थे, देवप्रयाग से ऊपर गगोत्री तक भागीरथी के तटवर्ती किसी क्षेत्र में अवस्थित है, क्योकि देवप्रयाग से नीचे भागीरथी का स्वतत्र अस्तित्व नही है । यह क्षेत्र आर्य-ऋषियो का तप-भूमि थी । अत कपिलाश्रम की इसी क्षेत्र मे अधिक सम्भावना है ।

२ राजा भगीरथ का राज्य, हरिद्वार से ऊपर टिहरी से गगोत्री तक भागीरथी के तटवर्ती क्षेत्र मे था । यह भी असम्भव है कि राजा भगीरथ सप्त-सिन्धु मे आर्यावर्त्त मे बसने से पूर्व उन आर्य-नरेशो की परम्परा मे से थे, जो तराई भाबर के समुद्र से ऊपर सप्तसिन्धु (गढवाल) मे रहते थे । अपने राज्य की आर्थिक-सुख-समृद्धि के लिये ही उन्हे अत्यन्त परिश्रमपूर्वक इस नहर का निर्माण करना पडा ।

यह स्पष्ट है कि अलकनदा (गगा) जल के परिमाण, लम्बाई एव उसके तटवर्ती तीर्थस्थलो की प्राचीनता की दृष्टि से भागीरथी से अधिक प्राचीन एव आर्य जाति द्वारा अधिक आदरणीय रही है । यदि देवप्रयाग से नीचे कपिलाश्रम

होता तो वहाँ से आगे बगाल की खाडी तक अलकनदा (गगा) का प्राचीन काल से अविच्छिन्न अस्तित्व प्रमाणित होता। परम मुक्ति-प्रदायिनी देवनदी अलकनदा (गगा) का जब देवप्रयाग से नीचे इस युग मे भी प्रकृत-प्रवाह ज्यो-का-त्यो था, तो भगीरथ द्वारा केवल देवप्रयाग से ऊपर तक, गगोत्री से इतने परिश्रम-पूर्वक भागीरथी की नहर को निकालने से सगर-पुत्रो को क्या लाभ हुआ ? वस्तुत भागीरथी राजा भगीरथ द्वारा बाद को लायी गयी एक नहर है। आर्यों के सप्त सिन्धुओ मे इसीलिए भागीरथी नही थी।

पजाब की सिन्धुनदी के तट पर तो किसी उल्लेखनीय आर्य सस्कृति के प्राचीन स्मारको का सर्वथा अभाव है ही, परन्तु अलकनदा का यह क्षेत्र, गगोत्री-यमुनोत्री से भी अधिक आर्य-तीर्थो से परिपूर्ण है। 'महाभारत' (वनपर्व) मे धौम्य और लामश ऋषि द्वारा बदरीनाथ की तीर्थ यात्रा मे, यमनोत्री-गगोत्री का कोई उल्लेख नही है। आर्य जाति के समस्त सदियो से भागीरथी से अधिक अलकनदा का सामाजिक, धार्मिक आर्थिक एव आध्यात्मिक महत्व सर्व विदित है। और इसका कारण केवल यही है कि अलकनदा ही, ऋग्वैदिक आर्यों के आदि देश सप्तसिन्धु एव आर्यावर्त्त को श्री-सम्पन्न करने वाली सिन्धु है।

'देवीभागवत' (सप्तम स्कन्ध अ० ६) मे लिखा है कि गगा और सरस्वती दोनो सौत है। श्री हरि ने दानो झगडती हुई गगा और सरस्वती का हाथ पकड कर प्रेमपूर्वक अपने समीप बैठा दिया। केशवप्रयाग मे प्रखर प्रवाहिनी सरस्वती और गगा का यह गर्जन-तर्जन स्वन प्रमाणित है। 'देवीभागवत' (६।१२) मे भी अलकनदा नदी को ही, स्पष्टत गगा नाम से कहा गया है।

ऋग्वद के 'नदी सूक्त' मे सिन्धु को भी त्रिपथगा कहा गया है। ऋग्वेद (६।६१।१७) के मे सायण ने सरस्वती को भी त्रिलोकव्यापिनी गगा आदि सात नदियो से युक्ता कहा है। इस त्रिलोकव्यापिनी का अर्थ भी त्रिपथगा ही है। वहाँ भी मातृरूप गगा आदि सात सरिताओ को सर्वत्र व्यापक कहा गया है। ऋग्वेद (८।८५।१) के इस सर्वत्र व्यापक शब्द म भी वही त्रिपथगा, पृथ्वी, आकाश और द्यु-लोक का भाव निहित है।

'महाभारत' (वनपर्व) म लिखा ह कि—'हे सौम्य ! यह शीतल और पावन जल वाली अलकनदा बह रही है। यह बदरीकाश्रम से हो निकलती है। देवर्षिगण इसका सेवन करते हैं। आकाशचारी वालखिल्य और गन्धर्वगण इसके तट पर आते हैं। यहाँ मरीचि, पुलह, भृगु और अगिरा आदि मुनिगण शुद्ध स्वर से सामगान किया करते है। गगाद्वार मे भगवान् शकर ने इसी नदी का जल अपनी जटाओ मे धारण किया है। तुम सब विशुद्ध भाव से इस भगवती भागीरथी के

पास जाकर प्रणाम करो।' इससे स्पष्ट है कि अलकनन्दा को ही 'महाभारत' और पुराणो में गगा एव भागीरथी भी कहा गया है। वस्तुत गगोत्री से प्रवाहित भागीरथी भद्रा सीता, अलकनन्दा, चक्षुष्मती नामक चार धाराओ मे गगा की एक धारा है परन्तु वेद और पुराणो द्वारा पूजित और प्रतिष्ठित गगा की वही प्रमुख धारा गगा के नाम से प्रसिद्ध है, जो सुमेरु पर्वत से नन्दनकानन के निकट, कैलास एवं अलकापुरी से निकलती है। 'केदारखड' (३५।१२-१५) के अनुसार महादेव जी कहते हैं कि अलका से निकलने वाली अलकनन्दा नाम की गगा की यही धारा त्रैलोक्य-पापघ्नी गगा की प्रमुख धारा है।

'जो शिर के ऊपर अवस्थित है वह अलकनन्दा मे प्रकट हुई है। हे राजा भगीरथ! विश्व को पवित्र करने के लिए तू उसी उत्तम गगा नदी को ग्रहण कर।'

अलकनन्दा को केवल गगा ही नही 'महाभारत' और पुराणो मे कई स्थलो पर भागीरथी भी कहा गया है। 'महाभारत' (वनपर्व १४५।३९) मे लिखा है कि नर-नारायण आश्रम देवताओ और देवर्षियो द्वारा पूजित तथा भागीरथी गगा से सुशोभित था। पाडवो ने विशाला बदरी के समीप उत्तम तीर्थो से सुशोभित शीतल जलवाली भागीरथी के पावन जल से पितरो का तर्पण किया।

ऋग्वेद के 'नदी सूक्त' के सब मत्रो मे सिन्धु का स्तवन है परन्तु मत्र ५ मे गगा का उल्लेख हो जाने के कारण मालूम होता है सिन्धु के पुन उल्लेख की आवश्यकता नही रह गयी थी, क्योकि इस मत्र मे वर्णित समस्त सरिताएँ सिन्धु मे ही सन्धि करती है। इसलिए इस मत्र मे वर्णित गगा नदी मे ही सिन्धु नदी का भाव भी निहित है। इस क्षेत्र मे गगा का सर्व प्रथम पजाब की पाँच नदियो से भी प्रथम उल्लेख होने से स्पष्ट है कि ऋग्वेद काल मे भी गगा अन्य समस्त नदियो से अधिक पूजनीय थी।

ऋग्वेद (१०।७५।५) के अतिरिक्त (३।५८।६ और ६।४५।३१) मे स्पष्टत गगा का वर्णन है। इस प्रकार ऋग्वेद मे वर्णित लगभग ३५ नदियो के उपर्युक्त उल्लेख से स्पष्ट है कि उन नदियो मे आज केवल सरस्वती, सिन्धु, गगा, यमुना, मदाकिनी, सरयू और गोमती ऋग्वैदिक नामो से प्रसिद्ध है। अन्य नदियो का नाम आज भारत के वर्तमान भूगोल मे विवादास्पद है, और सिन्धु के अतिरिक्त ऋग्वेद मे वर्णित पाँचो नदियाँ उन्ही नामो से गढवाल मे और सरयू एव गोमती अल्मोडे मे उन्ही नामो से पुकारी जाती हैं।

ऋग्वेद (१०।४४।७) मे जो सिन्धु से पूर्व सरस्वती और सरयू (जिसका पजाब मे कही अस्तित्व नही है) आह्वान किया गया है। क्या उससे सप्तसिन्धु मे सरस्वती और सरयू का प्रमुख स्थान प्रकट नही होता? सरयू का तो महती

और तरंगशालिनी प्रमुख नदियो मे चार बार उल्लेख है। सरस्वती और सरयू को सिन्धु से भी प्रथम स्थान देकर उन्हें देवनदियाँ बताकर मातृवत् सम्मान देकर, घृत और मधु के समान जल प्रदान करने वाली बताया गया है।

ऋग्वैदिक सरयू और गोमती

ऋग्वेद (१०।६४।६) मे भी २१ महती और तरगशालिनी नदियों में केवल सरस्वती, सरयू और सिन्धु का ही, साथ-साथ नाम आया है और उन्हे ही यज्ञ मे रक्षार्थ आमन्त्रित किया गया है। आरम्भ की दोनो नदियाँ पजाब मे नही हैं, वरन् वे अलकनन्दा की पडोसिने हैं। इन तीनो मे तीसरी सिन्धु को अलकनन्दा न मानकर, इतने प्रान्त और नदियो को लाँघ कर, पजाब मे उसकी खोज करने जाना, युक्ति-युक्त नही है। ऋग्वेद में वर्णित सरस्वती नदी भी अत्यन्त प्रखर प्रवाहिनी, असामान्य नदी है। ऐसी पर्वतो को खड-खड करने वाली, आर्य जाति की परमपूज्या असाधारण नदी का पजाब प्रान्त मे जैसा कि इतिहासकार कहते हैं—नाम और अस्तित्व, आर्यजाति के जीवित रहते हुए, पूर्णत लोप हो जाना आश्चर्यजनक है। फारसी धर्मग्रन्थो मे भी सरस्वती और सरयू (हरह्वती और हरॅयू) का उल्लेख है और यह स्पष्ट है कि उक्त दोनो सरिताएँ गढवाल और उसके निकटवर्ती क्षेत्र दानपुर से निकलने वाली अल्मोडे की नदियाँ हैं, जिन्हे आज भी क्रमश सरस्वती और सरयू कहते है। 'महाभारत' (आदि पर्व १६६।२०) मे सरयू गगा की सात धाराओ मे मे एक है। श्री हरिराम धस्माना तो अलकनन्दा को ही सरयू कहते है। राजा भगीरथ ने भी 'केदारखड' (३८।३८) मे गगा को ही शतुद्री, सरयू तथा सरस्वती कहा है। सरस्वती और सरयू दोनो सरिताओ का उद्गम एव तटवर्ती क्षेत्र शीत-प्रधान-प्रदेश है। जहाँ सदैव ध्रुव कक्षीय वातावरण रहता है। राहुल जी 'कुमाऊँ' (पृ० ११) मे लिखते हैं

जोहार, दरमा और मल्ला दानपुर के परगने १३,००० फुट से अधिक ऊँचाई पर है। वहाँ का जल-वायु ध्रुवकक्षीय है। १३,००० फुट से ऊपर जाडा लम्बा और गरमी छोटी होती है, जिसके कारण अभी बर्फ पूरी तौर से पिघलने भी नही पाती कि नयी बर्फ पड जाती है।

गोमती को कुछ इतिहासकार गोमल कहते है, जो नितान्त अशुद्ध है। ऋग्वेद मे तीन बार गोमती नदी का स्पष्टत उल्लेख है। गोमती हिमवान् पर्वत से बहती थी। स्पष्ट है कि रथवीति का घर हिमवान् पर्वत में है और वह गोमती के तीर निवास करता है (ऋ० ५।६१।१,६)। 'महाभारत' (आदि पर्व १६६।२०) में लिखा है कि गोमती और सरयू गगा की सात धाराओ मे से एक है। पुन (अनु० पर्व ३०।१८) में लिखा है कि आर्यनरेश दिवोदास की नगरी का एक छोर

गगा के उत्तर तट पर था और दूसरा गोमती के दक्षिण किनारे तक फैला हुआ था। अर्थात् गढवाल और कुमाऊँ दोनो प्रदेश आर्यनरेश दिवोदास के राज्यान्तर्गत थे। गोमती नदी आज भी 'कुमाऊँ' से बहती है। वह बागेश्वर (अल्मोडे) मे सरयू नदी मे मिल जाती है। उसके तट पर बैजनाथ का प्रसिद्ध मन्दिर तथा पुरातात्त्विक महत्व के अनेक मठ स्थापित है। सर्व साधारण म उसका आज भी ऋग्वैदिक नाम 'गोमती' प्रचलित ह।

महापण्डित राहुल 'कुमाऊँ' (पृष्ठ ३३६) मे लिखते है —"गोमती और सरयू के सगम पर हरे-भरे पहाडो से घिरे, बड रमणीय स्थान मे बागेश्वर बसा हुआ है। गोमती और सरयू दोनो पर लोहे क सुदृढ झूला पुल बने हुए हे। सरयू हिमानी से निकल कर आती ह, इसलिए सम्मान और आकार मे, उसे बडा होना ही चाहिए।"

गोमती और सरयू क्षेत्र मे पुरातात्त्विक महत्त्व के हजारो प्राचीन मठ और मन्दिर बिखरे पडे ह। राहुल जी (पृ० ३२७) मे लिखते हैं—"कत्यूर के मन्दिरो और मन्दिर विशेषो का वर्णन इतने मे समाप्त नही हो सकता। वे पाँच-छ मील के भीतर, (सदानीरा) गोमती क दोनो ओर की उपत्यका मे बिखरे हुए है। बैजनाथ (वैद्यनाथ) का पुराना नाम कार्तिकपुर (कार्तिकेयपुर) था, जिसका अपभ्रंश 'कत्यूर' आज सारी गोमती-उपत्यका का नाम ह।"

यह अत्यन्त आश्चर्यजनक बात ह कि इतिहासकार ऋग्वेद की ३५ नदियो मे केवल एक सिन्धु नाम की नदी के कारण, अनेक प्रतिकूलताओ के बावजूद पजाब को ही सप्तसिन्धु घोषित करते है। वे सरस्वती, गगा, यमुना, मदाकिनी, सरयू और गोमती आदि छ-सात नदियो के ऋग्वैदिक नामो की उपेक्षा कर, उनके क्षेत्र का क्यो सप्तसिन्धु घोषित नही करते?

डॉ० सम्पूर्णानन्द 'आर्यों का आदि देश' (पृष्ठ २५६) मे लिखते है कि "गगा, यमुना सप्तसिन्धव की ही कोई छोटी नदिया होगी। उस सूची मे गोमती का नाम भी है। पर यह नाम उस गोमती का नही हो सकता ह, जो आज लखनऊ-जौनपुर होते हुए काशी के पास गगा मे गिरती ह। सरस्वती क सम्बन्ध मे भी डाक्टर साहब ने लिखा है कि अब सरस्वती नाम तक का लोप हो गया है। घग्घर नाम रह गया ह।"

ऋग्वेद मे सरस्वती का सबसे अधिक चालीस बार, गोमती का तीन बार (५।६१।१९, ८।२४।३०, १०।७५।६), सरयू का चार बार, (४।३०।१८, ५।५३।६, १०।६४।८,९), मदाकिनी का एक बार (८।११३।८) गगा का तीन बार (३।५८।६, ६।४५।३१, १०।७५।५), यमुना का तीन बार (५।५२।१७, ७।१८।१९, १०।७५।६) नाम आया है। यदि 'नदी-सूक्त' का दशवाँ मण्डल नवीन रचना है, तो भी

ऋग्वेद मे गगा, यमुना, सरस्वती, सरयू, गोमती और मदाकिनी का दशवें मडल से पहिले दो-तीन बार अर्थात् पजाब की नदियो मे अधिक बार जो नाम आयें है, क्या उससे भी वे पजाब की नदियो से अधिक उपेक्षणीय प्रमाणित होती है ? यदि गोमती काबुल की गमाल नदी है, तो वहाँ सरयू कौन है ? मदाकिनी कहाँ है ? स्वय डाक्टर साहब ने (पृष्ठ २३६) गगा के ऊचे कछारो की भाँति लिख कर सिन्धु और सरस्वती से अधिक जिस गगा के कछारो का ऋग्वैदिक महत्व स्वीकार किया है क्या वह सप्तसिन्धु की नगण्य नदी रही होगी ?

सिन्धु के अतिरिक्त जिस पजाब मे ऋग्वेद मे वर्णित नाम की एक भी नदी नही है उसको बलपूर्वक आर्यो का आदि देश घोषित करना, तथा जिस प्रदेश मे सरस्वती, गगा, यमुना, गोमती, सरयू और मदाकिनी आदि नदियाँ अपने मूल ऋग्वैदिक नाम से पूर्ववत प्रवाहित हैं, उसे आर्यो का मूलस्थान न कहना हठ और दुराग्रह नही तो क्या है ? पच-नद (पजाब) को, आर्यो का आदि देश प्रमाणित करने के लिए गगा, यमुना, सरस्वती गोमती, सरयू और मदाकिनी आदि वास्तविक ऋग्वैदिक नदियो को नगण्य एव प्रक्षिप्त बता कर उनका ऋग्वैदिक महत्व कम करने का प्रयास करना, भूगोल और इतिहास की वास्तविकता के प्रति, जान-बूझकर आँख बन्द करना नही तो क्या है ?

ऋग्वेद (३।५८।६) मे उल्लिखित 'जह्नाव्याम' शब्द का सम्बन्ध भ श्री रामदास गौड के कथनानुसार जाह्नवी गगा से है, जो उत्तरकाशी (टिहरी गढ वाल) मे आज भी उसी नाम से प्रचलित है। श्री राहुल साकृत्यायन '**हिमालय-परिचय गढवाल** (पृ० १३) मे तथा 'कुमाऊँ' (पृ० १२६) मे लिखते हैं

"सारा गढवाल गगा का पनढर है। यहाँ से प्राय सभी स्थानो की वर्षा का जल भिन्न-भिन्न नालो, गाडो या शाखा-नदियो से होकर गगा मे जाता है। गढवाली अपनी नदियो का किसी-किसी गगा का नाम देते हैं। गगा की मुख्य धारा यद्यपि गगा (भागीरथी) को माना जाता है, किन्तु जल की मात्रा एव लम्बाई को देखने से अलकनदा और उसकी ऊपरी धारा 'सरस्वती' जो माना जोत से निकलती है, गगा जानना होगा। भारत की सबसे पुनीत नदी का उद्गम स्थल होने से केदारखड की महिमा अधिक होनी ही चाहिए।"

राहुल जी के उद्धरण से अलकनदा के सम्बन्ध मे हमारे कथन की अधिकाश पुष्टि हो जाती है। हम पाठको का ध्यान राहुल जी की एक और बात की ओर अर्थात् 'अलकनदा और उसकी भी ऊपरी धारा सरस्वती को जो माना जोत से निकलती हैं' आकर्षित करना चाहते है। अलकनदा 'सिन्धु' की यही ऊपरी धारा ऋग्वैदिक आर्यों की सप्तसिन्धुओ मे सबसे प्रथम, जेष्ठ (सप्त स्वसा सुज्येष्ठा) सरस्वती है। यह अलकनदा (सिन्धु) की सबसे ऊपरी धारा है। अत वह सिन्धु

के जल की उत्पादक सिन्धुमाता (सरस्वती) सप्तथी सिन्धुमाता (ऋ० ७।३६।६) है। इसका हम पुन प्रसगानुकूल वर्णन करेंगे। यह भी उल्लेखनीय है कि गगा की सबसे ऊपरी धारा होने के कारण राहुल जी भी सरस्वती को गगा घोषित करते है। इस प्रकार ऋग्वैदिक सरस्वती और सिन्धु के प्रति जिनका राहुल जी के कथनानुसार वर्तमान नाम गगा है ऋग्वैदिक आर्यों का जो पूज्यभाव था वह आज भी उसी प्रकार गगा के प्रति सुरक्षित है।

यदि ऋग्वेद (३।५८।६) मे 'जह्नाव्याम' से जाह्नवी एव जह्नु देश तथा ऋग्वेद (६।४५।३१) के गाग्य से गगा का बोध नही होता अथवा 'नदी सूक्त' जैसे कुछ विद्वान् कहते है—नयी रचना है, उसमे बाद का गंगा का नाम जोड दिया गया है तो 'नदी सूक्त' से पूर्व भी, यमुना का (ऋ० ५।५२।१७, ७।१८।१९ मे) जो दो-दो बार स्पष्ट नाम आया है, उसका सम्बन्ध पजाब प्रान्त के किस भाग से है ? वहाँ सरयू, गोमती और मदाकिनी कहाँ है (ऋ० ५।५३,९) ? रसा नितभा, कुभा, क्रम और सिन्धु के साथ सरयू का उल्लेख क्यो हुआ ? तथा (ऋ० १०।६४।६१, १०।७५।६ म) सिन्धु के साथ सरयू, गोमती और सरस्वती का मेल कैसे हुआ ?

अलकनन्दा

'केदारखड' (३८।४०) तथा 'महाभारत (आदिपर्व १६९।२२) क अनुसार देवलोक की देवनदी अलकनदा का नाम गगा हे क्योकि उसको सुमेरु (सतोपथ) मे निकली हुई कहा गया है। सतोपथ बदरीनाथ क्षेत्र के मल्ला पैनखडा मे २०,२४९ फुट ऊँचा पर्वत-शिखर ह (हिमालय परिचय, ।१।, पृष्ठ १३)। गगोत्री से निकलने वाली भागीरथी, प्राचीन गगा नही, वरन् राजा भगीरथ से कई पीढियो पव जिस गगा का अस्तित्व पाया जाता है, वह अलकनदा है। 'केदारखड' (गगास्तवन अध्याय ३८) मे गगा को स्पष्टत 'शतुद्री सरयू तथा सरस्वती शुभामोदा नन्दनाद्रिनिवासिनी' कहा गया है। अलकापुरी-नरेश-कुबेर के नन्दन कानन की भागीरथी गगा नही अलकनदा ही है। उनका वास केदार-शिखर पर है। (केदार० ३८।४०।) उसमे पुष्करो का बाहुल्य है (केदार० ३८।३८) 'पुष्करा पुष्करा वासा पुष्पप्रचय सुन्दरी' (केदार ३८।३४) वह 'वेदान्तिनी वेदगम्या वेदान्तप्रतिपादिनी वेदान्तनिलया वैदान्तिक जनप्रिया' है (केदार० ३८।१०४)। वह नन्दनारण्यवासिनी' है (केदार० ३८।१११) वह 'दुर्गा, दुर्गतमा, दुर्गवासिनी' गढवाल के गढो की रहनेवाली है (केदार० ३८।११८)। वह 'त्रिपथगा, अत्रिप्रिया च अनुसूया त्रिमालिनी' है (केदार ३८। १२४)। वह पाँचो पाँडवो की माता 'कुन्ती कुन्तधराकरा' है (केदार० ३८।१५५)।

इस प्रकार '**केदारखण्ड**' के मतानुसार अलकनन्दा को ही आर्यों की पुण्यतोया गंगा का गौरव प्राप्त है।

ऋग्वेद के उद्धरणों से भी स्पष्ट है कि सात नदियों में जिस नदी का नाम सिन्धु है वह पंजाब की वर्तमान सिन्धु कदापि नहीं। लोकमान्य तिलक भी पंजाब की पाँच नदियों को सप्तसिन्धु देशान्तर्गत नहीं मानते क्योंकि ऋग्वेद (१।३२।१२, १।१०२।२, १।१६१।१४, २।१२।१२, ६।७।६) में जहाँ-जहाँ सप्तसरिताओं का वर्णन है, वहाँ कहीं भी सिन्धु नदी का नाम नहीं आया है। केवल सात नदियों का ही उल्लेख है। ऋग्वेद (१।३२।१२) में सिन्धु शब्द अवश्य है परन्तु वह भी स्पष्टतः नदी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इन मन्त्रों के अतिरिक्त (ऋ० ६।६१।१२, ८।८१।१, ६।६।४, १०।४३।३, १०।१६४।८ में) जिन सातों सरिताओं का उल्लेख है, उन सबमें भी कहीं सिन्धु का नामोल्लेख नहीं है। वहाँ पर आचार्य सायण ने 'सिन्धु' शब्द की सर्वथा उपेक्षा कर, केवल गंगा का ही प्राचीन परम्परा प्राप्त अर्थ किया है। इसमें यह स्पष्ट है कि आचार्य सायण के समय (सन् १४०० ई० तक) पंजाब की सिन्धु, सप्तसिन्धु की सप्तसिन्धुओं में सम्मिलित नहीं थी, वरन् सायण और उसके पूर्वकालीन वेद-भाष्यकारों के मतानुसार, आर्यों का वह सप्तसिन्धु देश गंगा का वह क्षेत्र था जहाँ अलकनन्दा (गंगा) नदी के साथ, उसकी सात, इक्कीस, नब्बे तथा निन्यानवे सहायक सरिताएँ संधि करती हैं और यह निर्विवाद तथ्य है कि आचार्य सायण के पूर्व समस्त वेद-भाष्यकारों ने सिन्धु शब्द का अर्थ गंगा किया है, और सप्तसिंधु की सात सरिताओं में देव-नदी गंगा को ही प्रमुखता दी है, क्योंकि आचार्य सायण ने प्राचीन भाष्यकारों के अनुकूल परम्परा-प्राप्त ऋग्वेद के मन्त्रों का अर्थ किया है।

यह भी उल्लेखनीय तथ्य है कि ऋग्वेद के '**सरस्वती स्तवन**' (६।६१।१२।) में भी जहाँ सरस्वती को गंगा आदि सप्त सरिताओं से युक्त कहा गया है, सिन्धु का नाम नहीं आया है। (ऋ० ६।६।४ में) भी सरस्वती के बाद गंगा आदि सात नदियों का ही उल्लेख है। सिन्धु नदी का नाम-निर्देश नहीं। गंगा और सरस्वती देवनदी कहलाती हैं परन्तु पंजाब की सिन्धु को कोई देवनदी नहीं कहता। वस्तुतः पुराणों में अलकनन्दा को स्वर्ग से गिरनेवाली सप्तधाराओं से युक्त कहा गया है। अतः उसका नाम सप्तसिन्धु उचित ही है।

ऋग्वेद के प्रसिद्ध '**नदी सूक्त**' के प्रथम मन्त्र के अनुसार सिन्धु त्रिपथगा है, परन्तु पंजाब की सिन्धु को आज कोई 'त्रिपथगा' नहीं कहता, वरन् त्रिपथगा गंगा का नाम है।

'**नदी सूक्त**' के मन्त्र २ के अनुसार अलकनन्दा (गंगा) भारत की सबसे बड़ी, सर्वाधिक पूज्य, और सब सरिताओं के ऊपर, जैसा मन्त्र में कहा गया है, विराजमान

है। मंत्र ३ अनुसार उसके घोर गर्जन-तर्जन से ऐसा विदित होता है कि आकाश से घोर वृष्टि हो रही है, क्योंकि सप्तसिन्धु पर्वत प्रदेश था। वहाँ अलकनंदा के समान बड़ी नदी का गर्जन-तर्जन की प्रचंडता निर्विवाद है। मंत्र ४,५,६, के अनुसार वह सप्त, त्रिसप्त, ९० और ९९ नदी-नालों से संधि करती हुई आगे बढ़ती है। मंत्र ७ के अनुसार वह नदियों में सबसे अधिक वेगवती है। मंत्र ८ के अनुसार वह हिरण्यगर्भा (स्वर्ण जिस नदी में निकलता है), नित्य तरुणी, मधुवर्द्धक एवं सदैव भाँति-भाँति के पुष्प-समूहों से आच्छादित रहती है। इसी के तट पर अलकापुरी का प्रसिद्ध नन्दन कानन प्राकृतिक पुष्पोद्यान है।

ऋग्वेद के प्रकांड पंडित श्री हरिराम धस्माना ने अलकनंदा को ऋग्वैदिक सिन्धु घोषित करके, जिस ऐतिहासिक अस्पष्टता का निराकरण किया है, वह सर्वथा युक्तियुक्त है। उनके कथनानुसार अलकनंदा का नाम सरयू भी है। उसी को अलावता और शतुद्री भी कहते हैं। उनके कथनानुसार अलकनंदा में सप्त सरिताओं में सबसे प्रथम सरस्वती, जिसका भौगोलिक अस्तित्व एवं ऋग्वैदिक नामपवकत्व आज भी सुरक्षित है, सर्व प्रथम साथ करती है। उसके बाद नीति घाटी से निकलने वाली नितभा, जिसको पियमेध ने (ऋ० १०।७५।६) श्वेतया (धवली) कहा है और जिसका (ऋ० ८।२६।१८, १९) में श्वेतयावरी एवं **'केदारखंड'** में श्वेत गंगा कहा है अलकनंदा में साथ करती है। रसा (ऋ० ५। ५३।९, १०।७५।६) ही मंदाकिनी है, जो रुद्रप्रयाग में गंगा से मिलती है। क्रमु 'कूर्मांचल' से निकलने वाला पिंडर नदी है जो कर्णप्रयाग में गंगा से मिलती है। कुभा का नाम मंदाकिनी भी है, उसके तट पर वादक ऋषि कुम्भज (अगस्त्य-मुनि) का आश्रम था, जो आज भी अगस्त्यमुनि के नाम से प्रसिद्ध है। यह कुभा रुद्रप्रयाग में गंगा में संधि करती है। भागीरथी देवप्रयाग में अलकनंदा (गंगा) से मिलती है। पुरिष्णी और छमा पूर्वी और पश्चिमी नयार है, जो व्यासघाट में गंगा से मिलती है।

• •

ऋग्वैदिक सरस्वती

वैदिक साहित्य मे सरस्वती नदी का सप्तसिन्धु मे सबसे अधिक आदरणीय स्थान है। ऋग्वेद मे लगभग ४० बार इसका नामोल्लेख है। ऋग्वेद के कई सूक्तो मे बृहद्देवता के रूप मे भी सरस्वती का स्तवन हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि सरस्वती का तटवर्ती प्रदेश ऋग्वैदिक आर्यों का क्रीडास्थल था। यह सर्व सम्मत तथ्य है कि वैदिक आर्यों की दृष्टि मे सरस्वती के प्रति वही श्रद्धा-भक्ति थी, जो उत्तर वैदिक युग मे गगा जी को प्राप्त हुई। मैक्समूलर लिखते है कि इसमे सन्देह नही कि आर्य लोग गगा से भी अधिक सरस्वती को मानते थे। डाक्टर सम्पूर्णानन्द 'आर्यों का आदि देश' मे लिखते है

"आजकल हिन्दुओ मे गगा और यमुना का महत्व है। गगा का माहात्म्य अन्य सभी नदियो से बढा-चढा है। गगा इस लोक मे अभ्युदय और मृत्यु के उपरान्त मोक्ष देती है। 'गगा, गगा' ऐसा पुकारने से ही सद्गति प्राप्त होती है। गगा-तट से सौ योजन (चार सौ कोस) पर पडा हुआ व्यक्ति भी गगा को पुकारने से विष्णुलोक को जाता है। वैदिक काल मे यह बात नही थी। उन दिनो सिन्धु नदी और सरस्वती का ही यशोगान होता था। उन्ही के तट पर आर्यो की बस्तियाँ थी और ऋषियो के तपोवन थे। सरस्वती, जो किसी समय महानदी थी, आज एक छोटी-सी नदी रह गयी है। वह राजपूताने की रेत मे जाकर समाप्त हो जाती है। अब सरस्वती नाम तक का लोप हो गया है। घग्घर नाम रह गया है, जो दृषद्वती के लिए भी आता है। हिन्दू लोग अपने चित्त को यो सनाथ करते है कि सरस्वती की गुप्तधारा प्रयाग मे त्रिवेणी-सगम पर विद्यमान है।"

'हिन्दी-ऋग्वेद' की भूमिका (पृ० ५१) मे प० रामगोविन्द त्रिवेदी लिखते हैं—'सरस्वती का उत्पत्ति-स्थान सीरपुर पर्वत माना गया है। अनेको के मत से कुरुक्षेत्र के पास सरस्वती बहती थी और वह पटियाला राज्य मे विलुप्त हो चुकी है। बहुतो की राय मे सरस्वती बीकानेर की मरुभूमि मे लुप्त हुई है। परन्तु पुराणो के अनुसार सरस्वती पृथ्वी के भीतर-ही-भीतर आकर प्रयाग मे गगा और यमुना के साथ मिल गयी है। इन्ही तीनो का नाम त्रिवेणी है।" हिमालय से निकलने वाली सदानीरा सरस्वती को पृथ्वी से लोप हो जाने की कल्पना, उपहासास्पद है।

जिस देवनदी सरस्वती का ऋग्वैदिक सप्तसिन्धुओ मे सर्वाधिक महत्व है।

ऋग्वेद में जिस नदी का लगभग ४० बार उल्लेख है। जो आर्यों के सप्तसिन्धु की, सप्तस्वसाओं में सबसे ज्येष्ठ, पर्वतों को खड-खड करनेवाली, प्रखर प्रवाहिणी और परम पूज्य देवनदी है। उसी के सम्बन्ध में जब प्राय इतिहासकारों का मत इस प्रकार विवादास्पद है। जब अभी तक उस सरस्वती के भौगोलिक अस्तित्व के सम्बन्ध में, उनका ज्ञान और अन्वेषण इतना अनिश्चित और अस्पष्ट है, तो ऋग्वैदिक सिन्धु और आर्यों के सप्तसिन्धु देश के सम्बन्ध में, उनके निष्कर्ष तथ्य-पूर्ण एवं अविवादास्पद है, इसमें सन्देह है।

वैदिक सिन्धु यदि पजाब की सिन्धु है तो वैदिक सस्कृति की अनुयायी आर्य-सन्तति द्वारा वह आज क्यों उपेक्षित हो गयी ? उसके तट पर, उसके तटवर्ती क्षेत्र में, वैदिक शास्त्रानुमोदित आर्यों के प्राचीन तीर्थ स्थान, तपोवन तथा अन्य आध्यात्मिक स्मारक डाक्टर सम्पूर्णानन्द के उपर्युक्त कथनानुसार क्यों नहीं है ? वैदिक सिन्धु और सरस्वती के स्थान पर गगा नदी कब और क्यों प्रतिष्ठित हुई ? आर्य-सन्तति द्वारा, पजाब की सिन्धु और सरस्वती क्यों इतनी उपेक्षित और विस्मृत हो गयी ? इसके सम्बन्ध में इतिहासकार मौन है। वस्तुत पजाब में इतिहासकारों को सिन्धु नाम की एक बडी नदी प्राप्त हो गयी। इस सिन्धु नदी ने उनका ध्यान एक बार जिस दिशा की ओर केन्द्रित कर दिया था, वे वहाँ से इधर-उधर नहीं जा सके और उसी के आस-पास अपने आर्यावर्त्त में ही ब्रह्मावर्त्त की सप्तसिन्धु और ऋग्वैदिक सरस्वती का भी अन्वेषण करते रहे है, तथा वहाँ सरस्वती, सरयू, गोमती आदि अन्य ऋग्वैदिक नदियों के अभाव में उनके अस्तित्व की स्थापना के लिए भी अनेक निराधार कल्पनाएँ करते रहे है।

ऋग्वेद (७।३६।६) में सरस्वती को सिन्धु की भी माता कहा गया है। उसको अवितमा (माताओं में श्रेष्ठ) तथा सप्तसिन्धु की सरिताओं में शीर्ष स्थान पर बहने वाली, सबसे जेष्ठ कहा (नदीतम) गया है (ऋग्वेद, २।४१।१६, ६।६१।१०)। प्रथम मडल के तीसरे सूक्त के मत्र १०, ११ और १२ के अनुसार नदियों द्वारा सप्तसिन्धु में जो जल-राशि है उसकी उत्पादक स्पष्टत सरस्वती बतायी गयी है। उसको (गगा और सिन्धु की भाँति) त्रिलोकव्यापिनी (त्रिपथगा) अर्थात् पृथ्वी, आकाश और द्यु-लोक में बहने वाली कहा गया है (ऋ० ६।६१।१२)।

उत्तराखड में बदरी क्षेत्र से निकलने वाली सरस्वती नदी अलकनन्दा (गगा) और उससे मिलने वाली धौली, नदाकिनी, पिंडर, मदाकिनी, भागीरथी और नयार आदि अन्य सप्तसरिताओं में सबसे ऊपरी धारा, सबके शीर्षस्थान पर है। इन सप्त सिन्धुओं की सबसे ऊपरी धारा होने के कारण, वह अवितमा, नदीतमा और स्पष्टत सप्तस्वसा सुजुष्ठा ही नहीं, वरन् सबकी जननी भी है, सिन्धु

(ग्रलकनदा) की भी माता है । इस प्रकार ग्रलकनंदा (गगा) मे मिलने वाली इन सब सप्त सरिताग्रो में जो जलराशि है, सरस्वती उसकी उत्पादक, जननी स्वय सिद्ध है । ग्रलकनन्दा सरस्वती का विशाल रूप है । जल के परिमाण से वह सबसे बडी नदी है, । उसमे सरस्वती के बाद, इस क्षेत्र की ग्रन्य ग्रनेक नदियाँ, जिनको यहाँ सर्वत्र गगा ही कहा जाता है, सधि करती है । ग्रत उसका ऋग्वैदिक नाम सिन्धु ग्रौर सरस्वती तथा पौराणिक नाम गगा सर्वथा उपयुक्त है ।

सरस्वती इन सप्तसिन्धुग्रो की सबसे ऊपरी धारा होने के कारण सबसे प्रथम है । गगा ग्रौर भागीरथी तथा गढवाल की ग्रन्य ग्रनेक गगाग्रो का जल भी सम्पूर्णत उसमे विलीन है । ग्रत ऋग्वेद काल मे सिन्धु ग्रौर सरस्वती का जल जिस प्रकार पूजित ग्रौर प्रतिष्ठित था, उसी प्रकार ग्रपने उद्गम स्थल से ग्रागे गगा के नाम से, उसका पावन जल ग्राज भी ग्रार्य-सतति द्वारा यदि पूजित ग्रौर प्रतिष्ठित है, तो इसमे ग्राश्चर्य ही क्या है । ऋग्वेद मे सरस्वती, सिन्धु ग्रौर गगा को जो त्रिपथगा कहा गया है, उसमे हमारे मत की पूर्णत पुष्टि हो जाती है । ग्राज तक इन तीनो देवनदियो का जल, स्थान ग्रौर ग्रध्यात्मिक महत्व ग्रपरिवर्तित है । वस्तुत जब ग्रार्य सप्तसिन्धु (गढवाल) मे थे तो सिन्धु (ग्रलकनन्दा) की सहायक नदियो को पृथक्-पृथक् देखते ग्रौर उन्हे पृथक्-पृथक् नाम से पुकारते थे । जलप्लावन मे विष्णुप्रयाग से नीचे ग्रार्यो के सप्तसिन्धु की समस्त नदियो के सधिस्थल प्रलय-जल मे विलीन हो गये थे केवल उनके सबसे ऊपर शीर्ष स्थान पर बहने वाली सरस्वती ग्रौर उसका उन्नत तटवर्ती प्रदेश उनके सम्मुख था ग्रत वे वहाँ ग्रपने समस्त निवास काल मे, सप्तसिन्धु के स्थान पर सरस्वती ग्रौर उसके तटवर्ती प्रदेश ब्रह्मावर्त्त को ही सब कुछ समझने लगे थे । परन्तु देवासुर सग्राम के बाद, जलप्लावन के ग्रवतरण पर, जब वे ब्रह्मावर्त्त मे बाहर, ग्रार्यावर्त्त मे ग्राकर बस गये तो उन्होने वहाँ सरस्वती, सिन्धु ग्रौर गगा तीनो को एक सम्मिलित रूप मे पाकर उसको देवनदी गगा या गगाजल के रूप मे स्मरण किया । ब्रह्मावर्त्त से जाने के बाद, गगा के मैदान में बसने वाले नय-नये ग्रार्य ग्रथकार सरस्वती के भौगोलिक ग्रस्तित्व के सम्बन्ध मे ग्रनेक कल्पनाएँ करने लगे ।

पजाब एव कुरुक्षेत्र की सरस्वती ऋग्वेद के कथनानुसार सिन्धु-माता नही है । वह पजाब की सप्त सरिताग्रो के जल को उत्पादक नही है । वह पजाब की सप्त सरिताग्रो मे सबसे ऊपर शीर्षस्थान पर नही है । वह पर्वतो को खड-खड कर बहने वाली प्रखर प्रवाहिनी नही है । उसके जल की पवित्रता ग्रप्रामाणिक है । मनु कहते है कि सरस्वती नदी के दूसरी ग्रोर म्लेच्छो का देश है, परन्तु पजाब को सरस्वती के दूसरी ग्रोर म्लेच्छो का देश नही है (मनु २।२३) ।

ऋग्वेद (३।२३।४) मे ग्रग्निदेव का स्तवन करते हुए, उनसे दृषद्वती, ग्रापया

और सरस्वती के तटो पर रहने वाले मनुष्यो के घरो को दीप्त करने के लिये प्रार्थना की गयी है। श्री रामगोविन्द त्रिवेदी '**हिन्दी ऋग्वेद**' मे राजपूताने की सिकता मे विनष्ट घग्घर नदी को दृषद्वती, आपया को कुरुक्षेत्रस्थ नदी, और सरस्वती को कुरुक्षेत्रीय सरस्वती घोषित करते है। कुरुक्षेत्र तथा राजपूताने के उष्ण प्रदेशो मे विलीन नदी तटो पर रहने वालो के लिये भी, अग्नि का महत्व है, परन्तु हिमाच्छादित पर्वत प्रदेश के निवासियो को अग्नि बारहो महीने, रात और दिन, जितनी मगलमय, अभीष्ट फलदायक, पूजनीय और नमस्कार योग्य है, उतनी किसी को नही। इसीलिए दूसरे मण्डल के लगातार २६ सूक्तो मे नही, वरन् ऋग्वेद मे अग्निदेव की प्रार्थना के लिए सबसे अधिक सूक्तो की रचना हुई है। ऋग्वेदकाल मे कुरुक्षेत्रस्थ नदी-तटो पर आर्य-निवासो की सम्भावना भी नही थी। इससे स्पष्ट है कि मत्रो का उद्देश्य, हिमालय के शीत-प्रधान प्रदेशो मे प्रवाहित नदी-तटो पर रहने वालो से है। त्रिवेदी जी ने इस मत्र के प्रथम भाग मे लिखा है कि 'हे अग्नि! सुदिन की प्राप्ति के लिये पृथ्वी के उत्कृष्ट स्थान मे हम तुम्हे स्थापित करते है।' पृथ्वी का उत्कृष्ट स्थान, स्पष्ट है कि कुरुक्षेत्र नही, वरन् सर्वोच्च पर्वतीय प्रदेश मे ही है।

ऋग्वेद (७।६१।१२) के अनुसार गगा आदि सप्त सरिताओ मे युक्त-सरस्वती की पजाब की पाँच नदियो के साथ की कल्पना निराधार है। इससे यह प्रमाणित होता है कि सप्त भगिनियो से युक्त सरस्वती सिन्धु मे गिरती थी, समुद्र मे नही। सरस्वती को कुमारिका नदी भी कहते है, क्योकि वह अपने स्थान से निकल कर सीधे समुद्र मे नही गिरती। हिमालय मे नीचे निकृष्ट स्थानो मे उसका प्रवेश अप्रमाणित है (ऋ० ७।६१।१४), क्योकि सरस्वती ही गगा की सब भगिनियो मे जेष्ठ है, इस दृष्टि से इस भाव मे गगा के नाम से सरस्वती का समुद्र मे गिरने का अर्थ भी निहित है क्योकि गगा गढवाल मे सब प्रथम सरस्वती के नाम से, फिर अलकनन्दा के नाम से, और गढवाल से बाहर केवल गगा के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार गगा की सहायक नदियो मे सबसे जेष्ठ होने के कारण, उसी के पावन जल मे आगे चलकर सप्त सरिताएँ भी क्रमश सधि करती है। इसीलिए कुछ विद्वानो का यह अनुमान है कि सरस्वती को ऋग्वेद मे सिन्धु भी कहा गया है, सर्वथा युक्तिसगत है।

'**सरस्वती सूक्त**' (मण्डल ६, ६१ सूक्त के समस्त १४ मत्रो) मे १७ बार सरस्वती नाम आया है, परन्तु किसी भी मत्र मे सरस्वती के साथ सिन्धु का उल्लेख नही है, क्योकि आगे चलकर सप्त सरिताओ के सयोग से स्वय सरस्वती ही सिन्धु बन जाती है। इसी सूक्त के मन्त्र १२ मे आचार्य सायण ने उसको त्रिलोकव्यापिनी गगा आदि सप्त सरिताओ से युक्ता कह कर, उसके साथ गगा

का जो नाम दिया है वह अकारण नही है। उससे भी गगा (अलकनन्दा) के साथ सरस्वती की भौगोलिक स्थिति स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार प्राचीन आर्यों द्वारा सरस्वती जिस नैतिक एवं आध्यात्मिक स्थान पर प्रतिष्ठित थी, उनकी सन्तति द्वारा वह आज भी गंगा जी के नाम से अपने उसी मूलस्थान पर प्रतिष्ठित है।

सरस्वती नदी के इस पावन क्षेत्र का समस्त वेदज्ञ विप्रों को ज्ञान था। समय-समय पर वेदमाता सरस्वती के पावन तट पर, इसी बदरीनाथ और नर-नारायण आश्रम में आर्य-ऋषियों का आवागमन इस क्षेत्र की विशेष आध्यात्मिक महत्ता का सूचक है। इसी देवनदी के पावन तट पर (ऋग्वेद मण्डल ६, सूक्त ३५, ३६) ऋषि नर और ऋषि नारायण का आश्रम था। इस स्थल पर कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने वेद की चारो सहिताओ का सकलन कर, अपने चारो शिष्यो, पैल को ऋग्वेद, जैमिनी को साम, वैशम्पायन को यजु तथा सुमन्तु को अथर्व का अध्ययन कराया था। यही अरणीसुत शुक भी रहते थे। इसी के तट पर शाडिल्य ने नारद आदि को शाश्वत शास्त्र का उपदेश दिया था। इसके पावन क्षेत्र मे भगवान् कृष्ण ने सायगृह मुनि होकर दस हजार वर्ष तक निवास किया था। इसी क्षेत्र मे 'वेदिनी बुग्याल' नामक प्रसिद्ध चरागाह भी है, जिसके नाम के साथ प्राचीन काल से वेदो के सकलन की जनश्रुति जुडी हुई है। हो सकता है कि यह चरागाह ऋग्वैदिक आर्यों का भी चरागाह रहा हो। इस दृष्टि से विद्वानो का यह अनुमान कि सरस्वती के तटवर्ती क्षेत्र मे ही वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थो की रचना हुई है, असगत नही है।

ऋग्वेद के **'कौषीतकी ब्राह्मण'** (७।६। मे वर्णन है कि उत्तरी भू-भाग मे, वाणी की देवी सरस्वती का वास है। इसीलिए सरस्वती के अध्ययन के लिए जो लोग वहाँ जाते हैं उनका उपदेश लोग श्रद्धापूर्व सुनते है। सरस्वती नदी का यह तटवर्ती भू-भाग अष्ठ वसुओ, सप्त ऋषियो का तपस्थान और वैवस्वत मनु का भी शरणस्थल था। इसीलिए आर्यों ने इस भूमि को स्वर्ग भी कहा है। देवनदी सरस्वती का यह पावन क्षेत्र प्राचीन आर्यों के अनेक यज्ञ-यागों की देवभूमि है।

ऋग्वेद (६।६१।२) मे सरस्वती को अपनी प्रबल और वेगवाती तरगो से ऊँचे पर्वतो को तोडनेवाली तथा दोनो तटो का विनाश करनेवाली बताया गया है। 'नदी रूप मे प्रकट हो कर सरस्वती ने अपनी वेगवाती और विशाल तरगो से ऊँचे पर्वतो को इस प्रकार विदीर्ण कर दिया है, जिस प्रकार जडो को खोदने वाले मिट्टी की ढेरो और टीलों को तोड डालते है। आओ! हम अपनी रक्षा के लिए, स्तुति और यज्ञ द्वारा दोनो तटो का विनाश करने वाली इस सरस्वती

की परिचर्या करें।'

इसी सूक्त के मंत्र ७ में सरस्वती को ओघस, हिरण्यमय रथ पर आरूढ़ और शत्रुघातिनी कहा गया है। मंत्र ८ में उसको अपरिमित, अकुटिल, दीप्त और अप्रतिहत-गति, जलवर्षक-वेग एवं प्रचंड शब्द कर विचरने वाली बताया गया है। प्रचंड शब्द कर बहने वाली होने के कारण पुराणों में सरस्वती को गंगा की सौत कहा गया है।

ऐसी प्रखर प्रवाहवाली एवं प्रचंड शब्द कर बहनेवाली सरस्वती नदी का अस्तित्व समतल पंजाब-प्रांत में, राजपूताने एवं कुरुक्षेत्र में तथा प्रयागराज में स्थापित करना उपहासास्पद है।

ऋग्वैदिक सरस्वती के भौगोलिक अस्तित्व की पुष्टि में हम सरस्वती के अन्वेषकों का ध्यान महापंडित राहुल सांकृत्यायन-रचित 'हिमालय-परिचय' (१। पृष्ठ १३) की ओर भी आकर्षित करते हैं। वे स्वयं सरस्वती-तट पर उपस्थित होकर, लिखते हैं कि—"गंगा की मुख्य धारा यद्यपि गंगा को माना जाता है परन्तु जल की मात्रा एवं लम्बाई को देखने पर अलकनंदा और उसकी भी ऊपरी धारा सरस्वती को, जो माना जोत से निकलती है, गंगा जानना होगा। भारत की सबसे पुनीत नदी का उद्गम-स्थल होने से, केदारखंड की महिमा अधिक होनी ही चाहिए।" राहुल जी पुनः (पृष्ठ ४७६ में) लिखते है—"माना गाँव से आगे सरस्वती (अलकनंदा की सबसे बड़ी और सबसे ऊपरी शाखा) पर एक चट्टान पुल की तरह पड़ी हुई है। लोगो ने इसका नाम भीमसेन का पुल रख लिया है। एक ऐसा ही पुल कुछ दूर आगे भी है। तिब्बत का रास्ता सरस्वती के किनारे किनारे जाता है। सरस्वती के उस पार तिब्बत 'हूणदेश' है।" राहुल जी की इस घोषणा में जहाँ सरस्वती की प्रखरता एवं गंगा की सबसे ऊपरी धारा होने की पुष्टि होती है, वहाँ उनके इस कथन से मनु के उस कथन को कि सरस्वती के उस पार म्लेच्छों का देश है (म्लेच्छ देशस्तत परः) इस की भी पुष्टि हो जाती है, तथा इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वैदिक सरस्वती ही आज गंगा नाम से विख्यात है। राहुल जी ने कुमाऊँ' (पृ० २६) में भी शब्दशः अलकनंदा के प्रति यही उद्‌गार प्रकट किये हैं।

साराश यह है कि ऋग्वेद में चित्रित सरस्वती अपनी प्रखर-तरंगों से आज भी इसी प्रकार पर्वत-तटों को विदीर्ण कर, मिट्टी के ढेरों और चट्टानों को पूर्ववत् खंड-खंड करती हुई बह रही है। जिसके द्वारा प्रवाहित इतने विशाल प्रस्तरखंड उसके ऊपर पुल का काम दे रहे हो, उसका रौद्र रूप एवं प्रचंड प्रवाह स्पष्ट है। पर्यटकों को बधिर कर देने वाला उसका गर्जन-तर्जन वहाँ आज भी

ज्यों-का-त्यों है। इसीलिए पुराणों में लिखा है कि गंगा और सरस्वती दोनों सौत हैं। श्री हरि ने झगड़ती हुई गंगा और सरस्वती का हाथ पकड़ कर दोनों को प्रेमपूर्वक अपने समीप बैठा लिया (देवी भागवत, सप्तम स्कन्ध, अ० ६)। केशवप्रयाग अलकनंदा (गंगा) और सरस्वती के संगमस्थल पर, ऊपर से परस्पर झगड़ती हुई दोनों सरिताएँ शान्त हो जाती हैं, यह स्पष्ट है (केदार ५८।६६)।

'महाभारत' (शल्य पर्व) मे सात सरस्वतियों का उल्लेख है, जिनमे दो विशाला और विमलोदका हिमालय की उपत्यकाओं में बहती हैं। विशाला के निकट बहनेवाली यही सरस्वती है। 'महाभारत' मे अर्जुन ने बदरीकाश्रम मे सरस्वती के तट पर स्पष्टत भगवान् कृष्ण द्वारा, बारह वर्ष कठिन तपस्या करने का उल्लेख किया है।

'महाभारत' (वन पर्व १११।१०,११ तथा १६१।४३,४१) के अनुसार कैलास मे, गन्धमादन पर्वत पर सरस्वती का अभिषेक किया गया था। शल्य पर्व (२७।२८,३१) में स्पष्टत इसी सरस्वती नदी के तट पर कुबेर द्वारा कुबेरतीर्थ मे देवत्व प्राप्त करने का उल्लेख है। भीष्म पर्व (६।२८,५०), में लिखा हैं कि ब्रह्मलोक से उतर कर त्रिपथगामिनी गगा सात धाराओं सप्तसिन्धुओं मे विभक्त हुई। इन सातों में सिन्धु और अलकनंदा व सरस्वती सम्मिलित हैं। 'महाभारत' (आदि पर्व १६।१६,२१) और (भीष्म पर्व ६।४८) में लिखा है कि सरस्वती गगा की सात धाराओं मे एक है। उसके जल पीने से पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं। भीष्म पर्व (६।१४) के अनुसार सरस्वती उन पवित्र देवनदियों मे एक है, जिनका जल भारतवासी पीते हैं। यह स्पष्ट है कि भारतवासी गगा-जल पीते हैं, जो स्वय सरस्वती नदी भी है। प्रयागराज मे, कुरुक्षेत्र में तथा राजपूताने की मरुभूमि मे सरस्वती नदी का जल जो इतिहासकारों को अब तक दिखायी तक नही दिया, भारतवासी नही पीते। सरस्वती ब्रह्मसर मे प्रकट होती है, (शल्य पर्व ४२।२६)। सरस्वती और अलकनदा के सगम पर (केशवप्रयाग) में देवता भगवान् केशव की उपासना करते है (वन पर्व ८२।१२५,१२७)। ऋग्वैदिक सरस्वती की इस भौगोलिक स्थिति को पूर्णत स्पष्ट करने के लिए, भगवान् कृष्णद्वैपायन वेदव्यास का प्रमाण भी पर्याप्त है। वे प्रसिद्ध 'व्यासगुफा' मे बैठकर 'महाभारत' (जयकाव्य) का आरम्भ करते हुए, इस क्षेत्र के मुख्य-मुख्य अधिष्ठाताओं, ऋषि नर और नारायण, एव पास बहती हुई, इस पुण्यतोया सरस्वती नदी को सर्वप्रथम नमस्कार करते हुए लिखते है

नारायणं नमस्कृत्य नरचैव नरोत्तमम।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥

प्रयागराज, कुरुक्षेत्र, पजाब एव राजपूताने मे प्रवाहित अदृश्य सरस्वती के तट पर व्याससेवित नर और नारायण का आश्रम कहाँ है ?

१–गढवाल की सरस्वती अत्यन्त शीतप्रधान प्रदेश में बहती है। २—वह (सप्त स्वसा सुज्येष्ठा) सप्त सरिताओ मे सबसे शीर्ष स्थान पर है। ३—वह ब्रह्मावर्त्त की सीमान्त नदी है। ४–उसके दूसरी ओर म्लेच्छ देश है। ५—वह सप्त- सिन्धुओ के जल की उत्पादक, सिन्धु माता है। ६—वह प्रखर प्रवाहिनी है। ७—उसके तटवर्ती क्षेत्र केदारखड-बदरीकाश्रम का आज भी प्राचीन आध्यात्मिक महत्व पूर्ववत् सुरक्षित है। ८—वह त्रिपथगा है। गगाजल के नाम से आज भी उसका जल सर्वत्र आर्य-सतति द्वारा, उसी प्रकार पूजित और प्रतिष्ठित है।

सरस्वती और अलकनन्दा के सगम स्थल केशवप्रयाग तक, जल के परिमाण एव लम्बाई के अनुपात से सरस्वती अलकनन्दा से बडी नदी है। इस दृष्टि से सरस्वती अलकनन्दा से सधि नहो करती, वरन् अलकनन्दा सरस्वती मे सधि करती है। राहुल जी '**हिमालय परिचय**' (१) (पृ० ८६६) मे लिखते हैं—"यदि किसी नदी की मुख्य शाखा वही हो सकती है जो सबसे बडी लम्बी हो और जिसमे पानी अधिक आता हो तो इसमे सन्देह नही कि हमारी गगा की मुख्य धारा अलकनन्दा है, और माना के पास मिलने वाली दो धाराओ मे भी **अलकनन्दा (मुख्य धारा) नहीं, बल्कि सरस्वती को मुख्य धारा मानना पडेगा,** जो कि माना डाडे से आती है।"

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि सरस्वती मुख्य नदी है और अलकनन्दा (गगा) गौण है। इसीलिए ऋग्वद मे, सबसे अधिक ४० वार सरस्वती का उल्लेख किया गया है और गगा का गौण, क्योकि सबकी माता सरस्वती है और उसी मे अलकनन्दा-गगा आदि सप्त सरिताओ का जल विलीन हो जाता है।

सरस्वती नदी के भौगोलिक, ऐतिहासिक एव आध्यात्मिक महत्व के प्रतिपादन मे हम इससे पूर्व कई ग्रन्थो एव ग्रन्थकारो का मत उद्धत कर चुके है। भगवान् मनु ने '**मनुस्मृति**' मे सरस्वती के भौगोलिक अस्तित्व के सम्बन्ध मे जो कुछ लिखा है, उसका भी उल्लेख यहाँ अप्रासगिक नही होगा। मनु '**मनुस्मृति**' में लिखते हैं कि देवनदी सरस्वती और दृषद्वती के बीच ब्रह्मावर्त्त देश है। सरस्वती उसकी उत्तरी सीमा पर और दृषद्वती दक्षिण मे बहती है। दृषद्वती की भौगोलिक स्थिति, एव उसकी प्रामाणिकता अस्पष्ट एव विवादास्पद है। इतिहासकारो द्वारा सरस्वती की भाँति दृषद्वती की स्थापना केवल अनुमान पर आधारित है। यह अधिक सम्भव है कि वह दक्षिण गढ़वाल में, हरिद्वार के आस-पास बहने वाली कोई नदी हो। '**लाट्यायन श्रौतसूत्र**' के अनुसार इसका

उद्गम पर्वत पर है। यह वर्षावहा नदी थी और सरस्वती की सहायक। इससे स्पष्ट है कि वह हिमाच्छादित पर्वत से नहीं, वरन् दक्षिण गढ़वाल में हरिद्वार से ऊपर किसी पर्वत-शिखर से निकलती थी। उसका भी उद्गम स्थल देवनिर्मित देश में था, क्योंकि मनु ने उसको भी देवनदी कह कर सम्मानित किया है। मनु के कथनानुसार इन दोनों नदियों के बीच का देश-देव-निर्मित देश ब्रह्मावर्त्त था

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्तं प्रचक्षते ॥

मनु के कथनानुसार कुरुक्षेत्र से ऊपर देवनिर्मित देश ब्रह्मावर्त्त है, जिसकी उत्तरी सीमा पर देवनदी सरस्वती बहती है। उस देश की सीमा से बाहर म्लेच्छों का देश है। यह यज्ञदेश है। यहाँ का परम्परा से सदाचार प्रसिद्ध है। यहाँ से उत्पन्न ब्राह्मणों से पृथ्वी के सब मनुष्यों को सदाचार सीखना चाहिए

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ।

इस प्रकार यह ब्रह्मावर्त्त देश, जिसकी वेद और पुराणों द्वारा अद्वितीय आध्यात्मिकता आज तक सर्वमान्य है, जहाँ आर्यों की देवनदी गंगा और सरस्वती आदि सप्त सरिताएँ प्रवाहित होती हैं, आर्यजाति की स्वर्गभूमि एवं उनकी परम पूजनीय योनि देवकृत (ऋ०३।३३।४) देश स्पष्टतः गढ़वाल है। यही ब्रह्मावर्त्त देश ब्रह्मा द्वारा निर्मित परम पूजनीय यज्ञदेश तथा आदि देश है। 'केदारखंड' के कथनानुसार भी स्पष्ट है कि भगवान् ने ब्रह्ममूर्ति धारण कर सर्व प्रथम जिस देश की रचना की उसी का नाम ब्रह्मावर्त्त एवं केदारखंड है।

साराश यह है कि सरस्वती ऋग्वैदिक काल से आज तक ज्यों-की-त्यों अपने आदि स्थान पर अवस्थित है। उसका प्राचीन स्थान और आध्यात्मिक मूल्य एवं गुण-गरिमा अपरिवर्तित है। ऋग्वेद के अनुसार वह आज भी उसी प्रकार सप्तसिन्धु अलकनंदा की जलराशि की उत्पादक है, सिन्धु की माता है, प्रखर प्रवाहिनी है, सप्त स्वसाओं में सबसे प्रथम, सबसे ऊपर शीर्षस्थान पर है। वह आज भी इस देवनिर्मित देश, ब्रह्मावर्त्त की सीमान्त नदी देवनदी है, जिसके उस पार म्लेच्छ देश हूणदेश है। जिसके पावन तट पर भोजपत्र के वृक्षों का वन है, जिनकी छाल या पत्रों पर प्राचीन आर्य-ऋषियों ने सर्व प्रथम अपने आदि-ग्रन्थों को लिपिबद्ध करने का प्रयत्न किया था। 'केदारखंड' (४८।१) के अनुसार उस देवनदी के दर्शनमात्र से, उसकी एक-एक बूँद से पापियों के सब पाप नष्ट हो जाते हैं :—

अस्मिन्नेव महाक्षेत्रे सरस्वत्याश्च वैभवम् ।
यस्या दर्शनमात्रेण नर पापैः प्रमुच्यते ॥

● ●

ऋग्वैदिक ऋषि और गढ़वाल

ऋग्वेद मे लिखा है कि पर्वत-गह्वरो, पर्वत-उपत्यकाओ मे सरिताओ के सगम-स्थलो पर बुद्धिमान् ऋषियो का जन्म हुआ (ऋ० ८।६।२८)। महीधर ने 'ऋग्वेद-भाष्य' मे उसका अर्थ स्पष्टत पर्वतीय प्रदेश मे गगा तट पर किया है।

प्राचीन वैदिक आर्य-मनीषियो मे स्थितप्रज्ञ सप्तर्षियो का स्थान सर्वोपरि है। अब तक छ मन्वन्तर हो चुके है, सातवा चल रहा है और आठवा अब आरम्भ होगा। इन आठो मन्वन्तरो में सब मे सप्तर्षियो के नामो का उल्लेख है। ये प्रात स्मरणीय ऋषि आर्य-जाति के पूर्वज, संरक्षक और अधिष्ठाता थे। समस्त वैदिक वाड्मय उनके उच्चतम मौलिक चिन्तनो से ओत प्रोत है। वेद उनकी तेजस्विनी वाणी है। उनके द्वारा पर्वत-उपत्यकाओ मे सरिता-सगमो पर स्थापित अनेक आश्रम, उनकी विशेष विचार-धाराओ के प्रमुख शिक्षा-केन्द्र थे।

आदि स्वायभुव मनवन्तर के सप्तर्षियो मे मरीचि, अत्रि, अगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ थे। 'महाभारत' और पुराणो मे लिखा है कि ये सातों ऋषि सदैव उत्तर दिशा मे निवास करते थे (केदार० ६।७।)। हरिद्वार से चार मील दूर ऋषिकेश-मार्ग मे सप्तर्षियो के आश्रम है। सप्तम वैवस्वत मन्वन्तर मे अत्रि, वशिष्ठ, गौतम, कश्यप, विश्वामित्र, भरद्वाज और यमदग्नि ऋषि के नामो का उल्लेख है। इनमे से भी प्राय सब वेदो के मत्रद्रष्टा ऋषि है।

इसमे कोई सन्देह नही कि उत्तर वैदिक काल मे सहस्रो वर्षों की दीर्घकालीन अवधि के पश्चात् भी, इन ऋषि नामो म अनेक आचार्यों का पुराण 'महाभारत' और 'रामायण' मे अस्तित्व पाया जाता है, जो काल-क्रमानुसार असम्भव है। परन्तु यह एक निर्विवाद तथ्य है कि आश्रमो में प्राचीन ऋषि-कुल परम्परानुसार, आदि गुरु एवं प्रथम आचार्य के नाम से ही शिष्य-परम्परा प्रचलित है। कुलपति एव प्रधानाचार्य के पद पर प्रतिष्ठित होने पर सारी शिष्य-परम्परा अपने आदि प्रवर्तक के नाम से ही (जो बाद को आश्रम की एक उपाधि बन गयी थी) सम्बोधित होती रही है। वस्तुत प्रत्येक ऋषि कण्व, अत्रि, भृगु, वशिष्ठ अंगिरा, अगस्त्य, कश्यप, विश्वामित्र, भारद्वाज, इन्द्र और शिव एव व्यास आदि आचार्यों की एक स्वतत्र ऋषि-कुल-परम्परा स्थापित हो गयी थी, जिसमें दस हजार से अधिक तक ऋषि-पुत्र, पौत्र-प्रपौत्र एव सैकडो शिष्य-प्रशिष्य सम्मिलित

होकर ज्ञानार्जन करते थे और उनका प्रधानाचार्य 'कुलपति' कहलाता था, जिस पर सारे ऋषि-कुल के भरण-पोषण और शिक्षा-दीक्षा का उत्तरदायित्व रहता था।

यह ऋषि-कुल-परम्परा वैदिक काल से लेकर पौराणिक काल तक, कई हजार वर्ष तक प्रचलित रही है।

प्राचीन भारत मे उत्तराखड भारत की तपोभूमि के नाम से भी प्रसिद्ध था। अनेक ऋषि-मुनियो ने इस भू-भाग में समय-समय पर तपस्या की है। इन ऋषि-मुनियो में कुछ ऐसे भी थे जो विशिष्ट विचारधाराओ के प्रवर्तक रहे हैं। इस प्रकार इनके द्वारा स्थापित आश्रम विविध शिक्षा-केन्द्र थे, जिनमें प्रत्येक अपनी विशेषता के लिए प्रसिद्ध था। इन आश्रमो में जीवन की विविध समस्याओ पर चिन्तन एव मनन करते हुए यह ऋषि-मुनि उनके समाधान के सरल एव सुगम मार्गो की खोज मे व्यस्त रहते थे।

इन महत्वपूर्ण आश्रमो मे लगभग प्रत्येक आश्रम में एक गद्दी की स्थापना भी की गयी थी, जिससे आश्रम का जीवन निरन्तर प्रवाहित होता रहे और आश्रम के सस्थापक ने जो ज्ञान अर्जित किया था उसका प्रसार निरन्तर होता रहे। यह गद्दी आश्रम के सस्थापक के नाम पर ही स्थापित की जाती थी। इस गद्दी को स्थायी रखने के लिए गुरु-शिष्य-सिद्धान्त का अनुसरण किया जाता था।

हिमालय के इस क्षेत्र मे, हरिद्वार से ऊपर, यत्र-तत्र पर्वत-उपत्यकाओ, गिरि-कन्दराओ एव सरिता-सगमो पर उन प्राचीन आर्य-ऋषियो के अनेक स्मारक सुरक्षित हैं। सप्त सरिताओ के अतिरिक्त अनेक देव-नदियाँ जिस अलकनन्दा में सन्धि करती है, उन सधि-स्थलो पर वेद-वाणी प्रकट करने के लिये आर्य मनीषियो ने ऋषि-आश्रमो के अतिरिक्त अनेक पच-तीर्थो (विष्णु प्रयाग, नद प्रयाग, कर्ण प्रयाग, रुद्र प्रयाग और देव प्रयाग आदि पाँच प्रयागो) का सृजन किया। यद्यपि सन् १८०३ के भयकर भूचाल एव प्राचीन काल मे समय-समय पर हिमालय के अनेक भौतिक विप्लवो के कारण, गढवाल के वे प्राचीन ऐतिहासिक अवशेष अधिकाश समाप्त हो गये है, किन्तु वैदिक-विद्वानों, पुरातत्वान्वेषियो को खोज करने पर आज भी वेद और पुराणो द्वारा प्रतिपादित अनेक ऋषि-आश्रम, यज्ञ-वेदियाँ एव अन्य ऐतिहासिक स्मारक सर्वत्र उपलब्ध हो सकते हैं। 'महाभारत' (वन पर्व) मे लिखा है 'कि हे सौम्य! यह शीतल और पावन जल वाली अलकनन्दा बह रही है। यह बदरीकाश्रम से ही निकलती है। देवर्षि-गण इसका सेवन करते हैं। आकाशचारी बालखिल्य और गधर्व-गण इसके तट पर आते हैं। यहाँ मरीचि, पुलह, भृगु और अगिरा आदि मुनि गण शुद्ध स्वर से सामगान किया करते हैं।' नन्दकारण्यवासिनी अलकनन्दा के तट पर ऋषियो द्वारा वेदवाणी प्रकटित हुई। इसीलिए गगा को वेद माता

(केदार० ३८।३४) वेदान्तिनी, वेदगम्या, वेदान्तप्रतिपादिनी, वेदांतनिलया, वेदत्रयी वेदवदान्या (केदार० ३८१११) और वेदान्तिक जनप्रिया कहा गया है।

अंगिरा—ऋग्वेद के प्रसिद्ध ऋषि अंगिरा ब्रह्मा के मानसपुत्रों में से एक थे। वे अथर्वा अंगिरा के नाम से भी प्रसिद्ध है। इनके पुत्र वृहस्पति देवताओं के पुरोहित थे। इनका आश्रम अलकनन्दा गंगा के तट पर था (महा०, वन पर्व १४२।६)। ये छन्दवेद के गायक थे। अंगिराओं के लिए इन्द्र ने जिस क्षेत्र में गायों को खोज निकाला था, वह सुदृढ पर्वत-प्रदेश था (ऋ० ३।३१।५,६,७)। ऋषि अंगिरा ने सरस्वती नदी के इसी तटवर्ती शीतप्रधान प्रदेश में सर्व प्रथम अग्नि को प्रज्ज्वलित कर उत्पन्न किया था (ऋ० १।३१।१)।

कश्यप—मरीचि ऋषि के पुत्र और आर्य-नरेश दक्ष की, (जिनकी राजधानी कनखल थी) अदिति, दिति, कद्रू और विनता आदि तेरह कन्याओं के पति थे। ये उत्तर दिशा का आश्रय लेकर रहते थे (महा० १५०।३८।३६)। वहाँ इनसे देव और असुर एव नागो की उत्पत्ति हुई। ये हरिद्वार में रहते थे इसीलिए अलकनन्दा क्षेत्र का (केदार० ३८।३५) स्तवन किया गया है। गालव को हिमालय की तराई में इनका आश्रम मिला था (महा० उद्योग १०७।३।१५)। ये गन्धमादन पर्वत पर भी तप करते थे (महा० आदि० ३०।१०) और बहुशास्त्रविद थे।

पुलह—ब्रह्मा के मानसपुत्रों में से एक थे, जो अलकनन्दा के तट पर तपस्या करते थे (महा० वन० १४२।६)।

यमदग्नि—भृगुपुत्र यमदग्नि ने गोवश की रक्षा पर ऋग्वेद (म० ८ सूक्त ६०) में १५, १६ मंत्रो की रचना की है। म० ६ सू० ६२, ६५ मे सोम पर भी उनके मंत्र हैं। ये आयुर्वेद के कर्त्ता और चिकित्साशास्त्र के भी पंडित थे और टिहरी गढवाल में उत्तरकाशी के निकट, नकुरी नामक स्थान में रेणुका सहित तपस्या करते थे। नकुरी में अपने पिता के आदेशानुसार परशुराम ने अपनी माता रेणुका का वध किया था और इस कठिन कार्य के फलस्वरूप जब यमदग्नि ने उन्हें वर माँगने के लिये कहा तो परशुराम ने इसी स्थान पर पुन अपनी माता को जीवित करने की प्रार्थना की थी। इस क्षेत्र के दर्शनमात्र से सात जन्मो के पाप नष्ट हो जाते हैं (केदार० ६०।१५)। यहाँ पर रेणुका देवी का मन्दिर है। परशुराम जी का मन्दिर भी उत्तरकाशी और फराशू (श्रीनगर के निकट) है। पृथ्वी को इक्कीस बार क्षत्रियहीन करने के बाद परशुराम तपस्या करने यहाँ चले आये थे (यमदग्नि सुतो यत्र तपस्तेपे सुदुष्करम्—केदार० ६३।१५)।

वशिष्ठ—ऋग्वेद मं० ७ के मंत्रद्रष्टा ऋषि आर्य-पुरोहित वशिष्ठ ब्रह्मा के मानस-पुत्र और सप्तर्षियो मे एक थे। वे अरुन्धती सहित टिहरी की 'हिमदाव' पट्टी में स्थित प्रसिद्ध वशिष्ठाश्रम मे रहते थे। विसोन पर्वत की एक खोह में 'वशिष्ठ गुफा' और 'वशिष्ठ कुड' के नाम से उनका स्मारक विद्यमान है। ऋषिकेश और देवप्रयाग मे वशिष्ठाश्रम है (केदार० ४७।१७-१८)।

हिमदावाश्रम में वशिष्ठ जी का अपनी पत्नी अरुन्धती सहित कई बरसो रहने का उल्लेख है। जब श्रीराम रावण को मार कर लका से लौटे तो उन्होने लक्ष्मण जी को इस कैलास-क्षेत्र मे जहाँ भी वशिष्ठ जी मिलें उन्हे खोज लाने के लिये भेजा था। हिमालय के इस अगम्य पर्वत-प्रदेश को कैलास अथवा मेरु भी कहा गया है। 'महाभारत' (आदि ६६।६,७) के अनुसार गिरिराज मेरु के पार्श्व-भाग मे वशिष्ठ ऋषि का आश्रम था। महाकवि कालिदास ने भी 'रघुवश' मे हिमालय मे गगा तट पर एक गुफा मे महर्षि वशिष्ठ के रहने का उल्लेख किया है। राजा दिलीप अपनी रानी सहित पुत्र-प्राप्ति की आशा से हिमालय के इस भाग मे जहाँ कुलपति वशिष्ठ अरुन्धती सहित निवास करते थे, पहुँचे थे।

अत्रि—हिम से सताए हुए ऋषि अत्रि का आश्रम परगना नागपुर (अहिर्बुध्न) मे है। सप्तर्पियो मे अत्रि ब्रह्मा के मानसपुत्रो में से एक है। ये ऋग्वेद के पाचवें मडल के अधिकाश सूक्तो के ऋषि है। ये चन्द्रवंश (जो उस युग मे चान्दपुर क्षेत्र मे रहता था) के प्रवर्त्तक भी हैं। इनका वश-वृत्त इस प्रकार है—अत्रि-प्रजापति-चन्द्र-बुध-पुरूरवा और ऐल।

अत्रि आयुर्वेद के भी आचार्य थे। इनका आश्रम, मडल-चट्टी मे ३ मील तथा उनकी पत्नी अनुसूया देवी के मन्दिर से एक मील की दूरी पर एक असाधारण स्थान पर अवस्थित है। यह परम रमणीक स्थान भारी शिला-खडो से आच्छादित अमृतगंगा के लगभग ३०० फुट ऊँचे जल-प्रपात के भीतर सघन-लता कुजो से आवृत है। उसके नीचे निर्मल जल से परिपूर्ण एक अमृतकुड है। आश्रम सुदृढ दुर्ग की तरह है, जिस पर ऐसी प्राकृतिक छत बनी है कि प्रचड तूफान के समय भी जल की फुहार उसके भीतर प्रवेश नही कर सकती। अत्रि को ऋग्वेद मे सप्तवध्री (सात हिजडा) कहा है (ऋ० ५।७८।५,६) इसीलिए अत्रि ऋषि अपनी पत्नी से दूर रहते थे। 'महाभारत' (अनु० १४।६५ ६८) मे लिखा है कि अनुसूया अपने पति से रुष्ट होकर उनसे अलग रह कर तप करती थी। अत्रि उन्हे नवयौवन प्रदान करने और शत्रुओ के बन्दीगृह से मुक्त करने के लिए अश्विद्वयों का स्तवन करते हैं (ऋ० १०।१३३।१,२)। किसी दैत्य ने उन्हे एक अगम्य स्थान मे, अग्निकुड मे डाल दिया था, जहाँ वे निम्नाभिमुख होकर

लम्बी अवधि तक फँसे रहें ।

अत्रिपुत्र पुनर्वसु । इस अगम्य स्थल से उन्हें मुक्त करने के लिए (ऋ० ५।७३। ६,७ ५।७८।४,५,६) अश्विनीकुमारो के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं । ऋग्वेद (१।११६।८) के अनुसार अत्रि को अश्विनीकुमारो ने हिम या जल द्वारा इसी सौ द्वार वाले पीडा-यन्त्र-गृह से मुक्त किया था । 'महाभारत' (अनु० १६५।४४) और 'पद्मपुराण' (११८।६१।७६) मे उत्तर दिशा में हिमालय पर अत्रि-ऋषि के आश्रम का उल्लेख है ।

अत्रिपुत्री आपाला द्वारा ऋग्वेद के ऋ०८।६० सूक्त की रचना हुई । आपाला भी शारीरिक रोग के कारण पति-परित्यक्ता थी । अत्रिपुत्र पुनर्वसु (आग्नेय) भी आयुर्वेद-शास्त्र के असामान्य आचार्य हुए है । इसी अत्रि-आश्रम के निकट अत्रिपत्नी अनुसूया देवी का प्राचीन मन्दिर भी सात हजार फुट ऊँचे एक परम रमणीक पर्वत-शिखर पर अवस्थित है । देवी अनुसूया ने जिस प्रकार पुत्र-प्राप्ति के लिए यहाँ पर कठोर तपस्या की थी, उसी प्रकार आज भी प्रति वर्ष कई निस्सतान स्त्रियाँ पुत्र-प्राप्ति की कामना से हाथो मे जलता हुआ दीपक लेकर इस स्थान पर तपस्या करती हैं ।

नर और नारायण—ऋग्वेद मडल ६, सूक्त ३५,३६ के ऋषि नर और मडल १० के प्रसिद्ध 'पुरुष सूक्त' ६० के ऋषि नारायण बदरीनाथ क्षेत्र के अधिष्टाता है । ये ऋषिद्वय धर्म और मातामूर्ति देवी के पुत्र रत्न है, जिनकी स्मृति मे आज भी प्रतिवर्ष वहाँ मेला लगता है ।

बदरीक्षेत्र मे नर-नारायण-आश्रम एव नर और नारायण नामक क्रमश १०२१० और १०७५० फुट ऊचे पर्वत-शिखर, जहाँ प्राचीनकाल मे नर और नारायण ऋषि तप करते थे, उनके अमर स्मारक के रूप मे सुरक्षित है । पुराणो मे कई स्थलो पर इस प्राचीन आश्रम का अत्यन्त श्रद्धापूर्वक वर्णन है । 'देवी भागवत' (अध्याय ६) मे भी इसका विस्तारपूर्वक विवरण है । 'केदारखड' (५७।२०,५८।१०३,१०४) मे भी उसका वर्णन है ।

प्राचीन काल मे बदरीकाश्रम विद्या और सदाचार का प्रमुख शिक्षा-केन्द्र था । वेदान्त ज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए, ऋषि नारायण ने एक विशाल बदरी वृक्ष के नीचे इस आश्रम की स्थापना की थी । इसी आश्रम के निकट, कैलास क्षेत्र मे शिव के आचार्यत्व मे एक महत्वपूर्ण विद्या-केन्द्र भी स्थापित था, परन्तु वेदान्त-विषयक विशेष विचार धारा के प्रचार-प्रसार मे इस आश्रम का योग-दान, शिवाश्रय से कम महत्वपूर्ण नही था ।

नर और नारायण दोनो भागवत धर्म एवं नारायण धर्म के मूल प्रवर्तक थे । 'महाभारत' (वन पर्व १४५।२२।२४ तथा २७२।२६) मे लिखा है कि

गन्धमादन विशाला (बदरीकाश्रम) में नर और नारायण का आश्रम है। शान्ति पर्व (३३४।६,१०) में भी इस आश्रम का उल्लेख है। 'महाभारत' में भगवान् शंकर अर्जुन से कहते हैं :

नरस्त्वं पूर्वदेहे वै नारायण सहायवान।
बदर्यातप्तवानुग्रं तपोवर्षायुतान् बहून्॥

हे अर्जुन! तुम पूर्व जन्म में नर थे। उस समय तुमने अपने बड़े भाई नारायण के साथ कई हजार बरसों तक बदरीकाश्रम में तपस्या की थी। नर-नारायण लोक-कल्याणार्थ सदैव बदरीकाश्रम में निवास करते हैं। इसीलिए पुराणों में बदरीकाश्रम को नर-नारायणाश्रम भी कहा गया है :

तत्रापि भारते खंडे बदर्याश्रमसंज्ञके।
नृनारायणरूपेण तिष्ठति परमेश्वर॥

बदरीनाथ के इस क्षेत्र को नारदीय क्षेत्र भी कहा जाता है। नारद मुनि 'पांचरात्र मत' के संस्थापक थे, जिनके अधिष्ठाता भी नारायण ही थे। इस क्षेत्र में नारद पांचरात्र-पद्धति-द्वारा अपने उपास्य भगवान् नर-नारायण की पूजा करते थे। इस नर-नारायण-आश्रम के निकट देवनदी सरस्वती बहती है, जिसके पावन तट पर जय (महाभारत) महाकाव्य का आरम्भ करते हुए महर्षि वेदव्यास ने सर्व प्रथम इस क्षेत्र के मुख्याधिष्ठाताओं, नर और नारायण एवं देवनदी सरस्वती को नमस्कार करते हुए लिखा है

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥

पराशर—ऋग्वेद प्रथम मंडल ६५ से ७४ सूक्त तक के ऋषि वशिष्ठ के पुत्र शक्ति से उत्पन्न व्यास पिता पराशर कहे जाते हैं। इस पावन क्षेत्र में पिता और पुत्र के द्वारा वेद-शास्त्रों का प्रणयन स्पष्ट है।

भरद्वाज—ऋग्वेद षष्ठ मंडल के ऋषि गुरुदेव बृहस्पति के पुत्र भरद्वाज अनेक दिव्य शास्त्रों के आचार्य थे। हाल ही में उनका एक 'यंत्र-सर्वस्व' नामक प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है, जिसमें विमानों के निर्माण, प्रयोग एवं उनके सफल संचालन के सम्बन्ध में अनेक रहस्यों का विस्तारपूर्वक वर्णन है। 'महाभारत' (आदि० १२६।६) के अनुसार हरिद्वार में इनका आश्रम था। ये आयुर्वेद के भी आचार्य थे। परम आयुर्वेदज्ञ ऋषि धन्वन्तरी इनके शिष्य थे। इन्हीं के नेतृत्व में ५२ आयुर्वेदज्ञ ऋषियों ने हिमालय के इस क्षेत्र में एकत्र होकर आयुर्वेद-विशेषज्ञ स्वर्गाधिपति इन्द्र से आयुर्वेद का त्रिस्कन्धात्मक ज्ञान प्राप्त किया था।

विश्वामित्र—ऋग्वेद तृतीय मंडल के क्रान्तिदर्शी ऋषि विश्वामित्र का

आश्रम भी **'महाभारत'** (शान्ति० ३०८।३३,३५) एव वाल्मीकि **'रामायण'** बालकाड) के अनुसार हिमालय के इसी भाग मे अवस्थित था। विश्वामित्र को वेदमत्र का सर्व प्रथम द्रष्टा कहा जाता है। इनके पश्चात् इनके शिष्य वामदेव द्वारा अन्य ऋषियो को वेद-मत्र द्रष्ट हुए। आयुर्वेदाचार्य सुश्रुत इनके पुत्र कहे जाते है। **'केदारखड'** (१६४।३३) के अनुसार केदार और मदाकिनी के मध्य मे सूर्यप्रयाग से एकबाण की दूरी पर इनका तपस्थल था।

गौतम—सप्तर्षियो मे महर्षि गौतम का आश्रम भी हिमालय मे मन्दाकिनी के तट पर था। **'महाभारत'** (शान्ति० २०८।३३) मे भी लिखा है कि उत्तर-दिशा मे इनका आश्रम था। गौतम न्याय, धमशास्त्र और आयुर्वेद के प्रकाड पडित थे।

अगस्त्य—ऋग्वेद प्रथम मडल १६५ सूक्त मे १६१ सूक्त के मत्रद्रष्टा ऋषि है। उनका अपनी पत्नी लोपामुद्रा के साथ भी सूक्त १७६ मे कथोपकथन है। रुद्रप्रयाग से १२ मील दूरी पर मन्दाकिनी नदी के तट पर, 'अगस्तमुनि' नामक स्थान मे उनके आश्रम की स्मृति आजतक सुरक्षित ह। **'महाभारत'** (वन० ८७।२०, ६६।१) से भी इस आश्रम की पुष्टि होती है। **'केदारखड'** (४७।२०, १६७।८) मे लिखा है

मन्दाकिन्यास्तटे रम्ये नानामुनिजनाश्रमे।
अगस्त्यादिन्महाभागास्त्वा विप्रोक्लाश्रमे॥

ऋषि अगस्त्य ने बदरीकाश्रम मे भी तपस्या की थी (केदार० ५८।७१) यहाँ अलकापुरी-नरेश और मणिमान नामक राक्षस को इन्होंने शाप दिया था (महा० वन० १६१।६०)। इसी क्षेत्र मे इन्द्र मे स्वर्ग का राज्य हस्तगत करने पर नागराज नहुष ने जब इन्हे अपने रथ मे जोता था, तो अगस्त्य के शाप से नहुष का स्वर्ग से पतन हुआ। **'महाभारत'** (अनु० ९९।१००, शान्ति० ३४२।५१, महा० (वन० ९७।११) के अनुसार इन्होने अपनी पत्नी लोपामुद्रा सहित हरिद्वार मे भी तप किया था। जलप्लावन के अवतरण पर जब किसी भौगर्भिक परिवर्तन के कारण, तराई-भावर का समुद्र सूख गया तो ऋषि अगस्त्य के नेतृत्व मे उत्तर-गिरि प्रदेश से, आर्यों का पुन दक्षिण की ओर अभियान, तराई-भावर को पार कर आर्यावर्त्त से होता हुआ विन्ध्याचल पर्वत स उतर कर दक्षिण भारत तक चला गया।

'महाभारत' (वन० पर्व १०४, १०५) अगस्त्य द्वारा समुद्र के शोषण करने और विन्ध्याचल पर्वत को बढने से रोकने का जो उल्लेख है उसमे यही भाव है। भारत के सुदूर दक्षिण मे पहुँच कर अगस्त्य ने उत्तर गिरि प्रदेश के आर्य-धर्म

एवं आर्य-संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए वहाँ की स्थानीय भाषा का अध्ययन किया और तमिल-भाषा मे सर्व प्रथम व्याकरण की रचना की। उत्तर भारत और दक्षिण भारत के धार्मिक एव सास्कृतिक साम्य का यही प्रमुख कारण है। मैत्रावरुणि वशिष्ठ भी अगस्त्य के सहोदर कहे जाते हैं।

भृगु—ब्रह्मा के मानसपुत्र और ऋग्वेद के ऋषि है। इनकी दो पत्नियो मे एक हिरण्यकशिपु की पुत्री दिव्या थी। इनका पुत्र उशना कवि जिसको 'ब्रह्मांडपुराण' (३।१।७६) मे असुरो का गुरु आचार्य शुक्र भी कहा जाता है, ऋग्वेद के मन्त्रद्रष्टा ऋषि थे। उत्तर गढवाल 'भृगुपन्त' स्थान मे इनका आश्रम था। इन्होने हिमालय के उत्तर-पार्श्व में स्थित उक्त उत्कृष्ट लोक की विलक्षणता का 'महाभारत' (शान्ति० १९२) मे प्रतिपादन किया है। ये दोनो पिता-पुत्र सर्व-विद्या-विशारद थे (महा० वन० ९०।३०३)।

इन्द्र—ऋग्वेद के देवताओ और मन्त्रद्रष्टाओ मे इन्द्र का महत्वपूर्ण स्थान है। ऋग्वेद मडल १० के सूक्त ४९, ८९, ११९ के ऋषि इन्द्र हैं। ऋग्वेद इनकी पूजा एव प्रशसाओ से ओत प्रोत है। चारो ओर नाग और असुर राज्यो से घिरी हुई इनकी राजधानी अमरावती हिमालय के गन्धमादन-पर्वत-प्रदेश में थी। इसी को सुमेरु एव सतोपथ भी कहते थे। स्वर्ग के तीन विभागो (त्रिविष्टप) मे इन्द्र स्वर्ग के जिस विभाग के अधिपति थे, वह वेद और पुराणो के कथनानुसार उत्तर-गढवाल का वह भू-भाग है, जहाँ बदरीकाश्रम और गन्धमादन पर्वत अवस्थित है। ऋग्वेद (१०।१०४।८, ३।१०६।८, ८।८५।१,२, और ८।६।२८) के अनुसार इन्द्र उस पर्वत का निवासी था, जहाँ २१ पवत थे और जहाँ सप्त सिन्धुओ के अतिरिक्त ९९ नदियाँ बहती थी। आचार्य सायण ने इसे स्पष्टत गगा का क्षेत्र घोषित किया है। पाडवो के वनवास-काल मे अर्जुन ने गन्धमादन पर्वत-प्रदेश मे ही इन्द्र के स्वर्ग-राज्य मे प्रवेश किया था। चारो ओर शत्रु-राज्यो से घिरा होने के कारण इन्द्र सदैव भयभीत रहता था और इन क्षेत्रो मे किसी भी शक्तिशाली असुर अथवा देव का प्रवेश तथा उनकी शक्ति-सम्पन्नता उसे असह्य हो उठती थी। इन्द्र आयुर्वेद आदि कई विद्याओ के भी आचार्य थे। उनके आश्रम मे कई स्नातक विद्याध्ययन के लिए आते थे। 'चरकसहिता' (सूत्रस्थान १।११।१४ के अनुसार रोग-शमन का सर्वांगपूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक बार हिमालय के इस पवित्र धाम मे स्वर्गाधिपति इन्द्र के घर पर महर्षि भरद्वाज के नेतृत्व मे ५२ आयुर्वेदज्ञो का एक बृहद् ऋषि-सम्मेलन हुआ था।

पुराणो में कई इन्द्रो का उल्लेख है। मालूम होता है कि इन्द्र स्वर्गाधिपति की उपाधिमात्र थी और स्वय राज्य का प्रत्येक उत्तराधिकारी इन्द्र कहकर सम्बोधित किया जाता था।

शची—ऋग्वेद (१०।१४५।१,२,३,४,५) के मंत्रों की द्रष्टा हैं। यह पुलोमा असुर की पुत्री और देवराज इन्द्र की पत्नी थी।

पुरूरवा और उर्वशी—ऋग्वेद म० १० सूक्त ६५ के ऋषि पुरूरवा और उर्वशी का स्वर्ग मन्दाकिनी और अलकनन्दा का यही तटवर्ती प्रदेश है। इसी सूक्त के मंत्र ४२ मे स्पष्ट लिखा है कि जहाँ मन्दाकिनी आदि नदियाँ बहती हैं वही स्वर्गभूमि है। ऋग्वेद (१।३१।४) से भी विदित होता है कि जिस स्वर्गभूमि में अग्नि ने मनु और पुरूरवा को अनुगृहीत किया था, वह शीत-प्रधान प्रदेश था। चन्द्रवशी सम्राट् पुरूरवा मनु पुत्री इला के गर्भ से उत्पन्न महर्षि बुध के पुत्र थे, जिनका आश्रम बधान (बुध-अयन) मे था। बुध चन्द्रवंश के मूल प्रवर्तक चन्द्र (सोम) के पुत्र और महर्षि अत्रि के पौत्र थे। पुरूरवा की राजधानी जोशीमठ (प्राग्ज्योतिषपुर) थी। पुरुरवा के बाद चन्द्रवश की राजधानी चन्द्रपुर (वर्तमान चान्दपुर) चली आयी। प्रयागराज के निकट प्रतिष्ठानपुर (झूसी) का जिसको पुरूरवा की राजधानी कहा जाता है, ऋग्वेद-काल मे अस्तित्व भी नहीं था।

उर्वशी को ऋग्वेद के मंत्रद्रष्टा ऋषि नारायण ने, जिनका आश्रम गन्धमादन पर्वत पर बदरी-क्षेत्र मे ही है, अपने उरू भाग को ताडन कर उत्पन्न किया था (**देवी भागवत**, च० स्क० अ० ६)। ऋषि नारायण ने उसको इसी स्वर्ग क्षेत्र के अधिपति इन्द्र की सेवा के लिए समर्पित कर दिया था (**देवी भागवत** चतुर्थ स्क० अ० ५, ६)। अत पुरूरवा और उर्वशी का क्रीडाक्षेत्र वह स्वर्ग भूमि, मन्दाकिनी और अलकनन्दा का तटवर्ती यही पर्वत प्रदेश है। '**मत्स्य पुराण**' (अध्याय ११६ से १२० तक) में हिमालय के इस क्षेत्र मे—प्रकृति श्री से सम्पन्न इस क्रीडास्थली का विस्तारपूर्वक वर्णन है। '**केदारखड**' (५८।१३६–१३७) मे भी लिखा है

पश्चिमे क्रोशखडार्द्धे बदरीनाथधामत ।
उर्व्वशीकुडमाख्यात सर्वसौंदर्यदायकम् ॥
पुरा पुरूरवा यत्र रेमे वत्सरपञ्चमे ।
उर्व्वश्या सह कामार्त्तोजनयामास वै सुतान् ॥

अर्थात् बदरीनाथ धाम से पश्चिम, आध कोस की दूरी पर सम्पूर्ण सुन्दरता प्रदान करने वाला 'उर्वशी कुड' विद्यमान है। इसी कुड के निकट पुरूरवा ने पाँच वर्ष तक तिरछी चितवन वाली उर्वशी से रमण कर पुत्र उत्पन्न किये थे। महाकवि कालिदास के '**विक्रमोर्वशीयम्**' का क्रीडाक्षेत्र, पुरूरवा और उर्वशी की वह स्वर्ग भूमि, भी अलकनन्दा-मंदाकिनी का यही तटवर्ती प्रदेश है।

बालखिल्य—नागपुर गढवाल मे अवस्थित 'बालखिल्य तीर्थ' बालखिल्य

नदी और बारखम्बा पर्वत ऋग्वेद के 'बालखिल्य' नामक ११ सूक्तों के ऋषि बालखिल्य का स्मरण दिलाते हैं (यत्र वै बालखिल्यास्ते तपस्तेपु सुदुष्करम् केदारखंड ६६।३)। 'महाभारत' (आदि० ३०।१८) से भी इसकी पुष्टि स्पष्ट है।

देवल—ऋग्वेद मंडल ६ सूक्त ५ से लेकर २४ तक के मंत्रद्रष्टा ऋषि देवल हैं। गढ़वाल में 'देवल' नाम के अनेक गाँव प्रसिद्ध है। पुराने श्रीनगर से वर्तमान 'शंकरमठ' के निकट 'देवल' ऋषि का तपस्थान था (केदारखंड १८४।२)।

मान्धाता—ऋग्वेद मं० १० के सूक्त १३४ के ऋषि मान्धाता हैं। बदरीकाश्रम में अवस्थित मुचकुंद-आश्रम और मुचकुंड-गुफा में मान्धाता और उसके पुत्र मुचकुंद की स्मृति सुरक्षित है (केदारखंड ६९।६,६, ५८।१६४)।

कण्व—ऋग्वेद आठवें मंडल के ऋषि कण्व का आश्रम प्राचीन हस्तिनापुर से लगभग ५० मील की दूरी पर चौकी घाटा (कोटद्वार) के निकट गढ़वाल की अजमेर पट्टी से निकलने वाली मालिनी नदी के तट पर है। 'महाभारत' (आदि० ६६) के अनुसार मेनका द्वारा त्यागी गयी भरत-जननी शकुन्तला महर्षि कण्व को हिमालय पर्वत मे मालिनी नदी के तट पर प्राप्त हुई थी (प्रस्थे हिमवते रम्ये मालिनीमभितो नदीम्, महा० ७२।१०)। कण्वाश्रम हस्तिनापुर से पर्याप्त दूर, बेर, आक, खैर, कपित्थ एव धव के वृक्षो से आच्छादित एक रमणीक वन में था। उसकी भूमि ऊँची-नीची थी और इसमे पर्वत से लुढके हुए प्रस्तर खंड इधर-उधर पडे थे। वह निर्जन वन-प्रदेश कई योजन तक फैला हुआ था (महा० आदि ६६।१७,१८)। उस वन मे मलिनी नदी से लगा हुआ काश्यप गोत्रीय कुलपति कण्व ऋषि का आश्रम है।

महाकवि कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' मे मालिनी नदी के तट पर पर्वत और समभूमि के सन्धि-स्थल पर अवस्थित इस कण्वाश्रम की पुष्टि की है। जो लोग पर्वत प्रदेश से दूर बिजनौर जिले की समभूमि मे कण्वाश्रम की पुष्टि करते हैं वे यह भूल जाते है कि दुष्यन्त समभूमि मे नही, वरन् पर्वत-प्रदेश मे आखेट कर रहे थे। उन्हे उनके सेनापति ने इसीलिए 'गिरिचर इव नागः' कहकर सम्बोधित किया है। आखेट-स्थल गिरि और समतल भूमिभाग के निकट था जहाँ हिरणो के साथ भालू आदि वनपशु गिरि-नदी मालिनी में जल पीने आते थे (गिरिनदी जलानि पीयन्ते, २।१)। नदियाँ पर्वतो से निकलती हैं परन्तु पर्वत प्रान्त से दूर किसी समभूमि मे बहने वाली नदी को कोई 'गिरिनदी' के विशेषण से सम्बोधित नही करता। वहाँ वह केवल नदी कहलाती है। उस स्थान पर गिरि-नदी मालिनी के पर्वतीय प्रवाह की प्रखरता मे भी कमी नही आयी थी, क्योकि नदी के वेग से बहने के कारण वहाँ पर लताएँ टेढ़ी-मेढ़ी हो गयी थी (नदी-वेगस्य तत्र कारणम्)।

कुलपति कण्व का आश्रम पर्वत और समभूमि के संधि स्थल पर मालिनी नदी के तट पर था (१।१३)। पर्वत-प्रदेश के अत्यन्त पास होने के कारण इस स्थल की भूमि भी ऊँची-नीची थी जिसके कारण सारथी ने रास खींचकर रथ का वेग कम कर दिया था। उसके तुरन्त बाद, कण्वाश्रम की भूमि दिखायी देती है। यदि पर्वत-प्रदेश नितान्त निकट न होता तो कालिदास को समदेश कहने की आवश्यकता नही पडती।

यह सर्व विदित तथ्य है कि पर्वत और समदेश के सधिस्थल पर गिरि—नदी की प्रखरता मे न्यूनता आ जाने के कारण भारी वस्तुएँ धीरे-धीरे छूटने लगती हैं। आश्रम मे यत्र-तत्र पडे हुए चिकने प्रस्तर-खडो मे भी उक्त स्थल, पर्वत-प्रान्त से निकटतम विदित होता है। वहाँ पानी की गूलो से वृक्षो की सफेद जडें धुली हुई प्रतीत हो रही थी। यह स्पष्ट है कि समदेश मे प्रवाहित मालिनी से गूल निकालने की कल्पना नही की जा सकती। इसका अर्थ यह है कि आश्रम के निकट मालिनी नदी इतने ऊँचे स्थान से उतरती थी कि उससे गूलें निकाली गयी थी।

'**अभिज्ञान शाकुन्तलम्**' मे वर्णित ऋषियो का अन्न नीवार और श्यामाक (कोदा और झगोरा) गढवाल का आज भी प्रमुख खाद्यान्न है। शकुन्तला का अपने कधे पर गाठ देकर, वल्कल वस्त्रो (भ्यूंल और भाँग की छाल से बने हुए त्यूखो) के पहनने का ढग एव उसके इधर-उधर नगे पैरो विचरने से भी गढवाली परम्परा का परिचय मिलता है।

कण्वाश्रम हिमालय के ऐसे निम्नतम छोर पर अवस्थित था जिसके एक ही ओर नही, वरन् दोनो ओर हिमालय की तलहटी थी। इस क्षेत्र को मुगल इतिहासकारो ने 'दामनेकोह' कहा है। इसका वर्तमान नाम 'तराई-भावर' है। षष्ट अक म शकुन्तला के विरह मे व्याकुल दुष्यन्त और कण्वाश्रम मे शकुन्तला की क्रीडास्थलो का मनोरम चित्र अकित किया गया है

'अभी मालिनी नदी बनानी है, जिसकी रेती मे हस के जोडे बैठे हो। उसके दोनो ओर हिमालय की वह तलहटी भी दिखानी है, जहाँ हरिण बैठे हुए हो।' पुन दुष्यन्त को कण्व के शिष्य अपना परिचय प्रस्तुत करते हुये स्पष्ट कहते हैं कि वे हिमालय की उपत्यका मे रहने वाले वनवासी महर्षि कण्व का आदेश लेकर स्त्रियो सहित उपस्थित है। बिजनौर जिले के निवासियो को 'हिमगिरि-रुपत्यकारण्यवासिन' नही कहा जा सकता है।

'**केदारखड**' (५७।१०) मे कण्वाश्रम से लेकर नन्दागिरि पर्वत पर्यन्त केदार क्षेत्र की सीमा कही गयी है, उससे भी कण्वाश्रम गढ़वाल के दक्षिणी सीमान्त पर विदित होता है।

क्योंकि तराई-भावर ग्रीष्मकाल में असह्य तापमान के कारण अवयस्कों, छात्रों के लिए अस्वास्थ्यकर हो जाता है। अतः नन्दप्रयाग में कुलपति कण्व का सम्भवतः ग्रीष्मकालीन तथा कोटद्वार के निकट मालिनी नदी के तट पर शीतकालीन आश्रम था।

कुलपति कण्व के पुत्र-प्रपौत्र एवं शिष्य-प्रशिष्य भी ऋग्वेद के अनेक मंत्रों के ऋषि हैं। कण्वाश्रम के कुलपति-पद पर प्रतिष्ठित समस्त आचार्यों को कण्व कहा गया है। ऋग्वेद म० ३ में ३६ से ४३ सूक्त तक के ऋषि घोर के पुत्र कण्व हैं। प्रथम मंडल १२ से २३ तक के ऋषि कण्व के पुत्र मेधातिथि तथा प्रथम मंडल ४४ से ५० सूक्त तक के ऋषि कण्व के द्वितीय पुत्र प्रस्कण्व हैं। कण्व के लगभग २७ शिष्यों-प्रशिष्यों (काण्वों) द्वारा भी वेद-मंत्रों का विस्तार हुआ है। स्मरण रहे कि इन आश्रमों के उत्तराधिकारी आचार्य, जहाँ मूल आचार्य की पदवी से सम्बोधित होते रहे हैं, वहाँ उनका कभी-कभी, कहीं अपने निजी नाम से भी उल्लेख होता रहा है।

रुद्र—ऋग्वैदिक देवताओं में रुद्र का महत्वपूर्ण स्थान है। रुद्र कुटिलगति, अभीष्ट फलदायक, क्रोधी और मेधावी थे (ऋ० १।११४।४)। वे जटाधारी, वीरों के विनाशक, आयुर्वेद के आचार्य थे। मनु को उन्होंने कई रोगों और भयों से मुक्त किया था (ऋ० १।११४।२)। देवतागण उनसे स्वास्थ्य-लाभ की कामना करते हैं (ऋ० १।११४।१)। वे अनेक ओषधियों के ज्ञाता थे (ऋ० १।४३।४६ १।११४।५)। वे कई विनाशकारी अस्त्र-शस्त्रों में भी पारंगत थे (ऋ० १।११४। १०)। ऋग्वेद प्रथम मंडल, सूक्त ११४ के सम्पूर्ण ११ मंत्रों में उनका स्तवन है। देवताओं और असुरों दोनों पर उनकी समान कृपा-दृष्टि थी। दोनों के लिए उनकी दया का द्वार सदैव उन्मुक्त रहता था, परन्तु उनके कट्टर उपासकों में असुरों की संख्या देवताओं से अधिक थी। इसलिए देवता बार-बार उनसे अपनी और अपने कुटुम्बियों की प्राण-भिक्षा माँगते हैं (ऋ० १।११४।७,८)। उनकी स्तुति कर कहते हैं, कि हमारे पक्ष में कहो, हमें सुख दो (ऋ० १।११४। १०)। कैलाश क्षेत्र में स्थापित इनका आश्रम सुर और असुर-स्नातकों से परिपूर्ण अनेक विद्याओं का प्रमुख शिक्षा-केन्द्र था।

रुद्र प्रकृति से उग्र रूप के देवता थे। उनका निवासस्थान पृथ्वी और अन्तरिक्ष (कैलास) पर था। वे पृथ्वी और कैलास के अधिपति बताये गये हैं (ऋ० ६।११४।१०, १०।६४।१)। सुरभि और प्रजापति कश्यप से जिन एकादश रुद्रों की उत्पत्ति हुई थी उनमें रुद्र (शिव) सबसे तेजस्वी थे। नागपुर परगने में कोलपर्वत से जहाँ मंदाकिनी और गंगा का संगम होता है, रुद्र का क्षेत्र है (केदारखण्ड १६४।१०)।

'गढ़वाल में जितने कंकर हैं, उतने शंकर हैं' की कहावत प्रचलित है, परन्तु केदारनाथ, तुगनाथ, रुद्रनाथ, रुद्रप्रयाग नामक तीर्थों द्वारा गढवाल में अभी तक ऋग्वैदिक रुद्र की स्मृति सुरक्षित है।

गोपेश्वर से आगे ऋग्वैदिक ऋषि अत्रि और उनकी पत्नी अनुसूया देवी के मन्दिरो से जो मार्ग जाता है, उससे लगभग १० मील की चढाई के उपरान्त ११५०० फुट की ऊँचाई पर रुद्रनाथ का प्राचीन तीर्थ स्थान है।

विष्णु—अदिति के बारह पुत्रो मे इन्द्र सबसे बडे और विष्णु सबसे छोटे थे। ऋग्वेद में कई स्थानो पर श्रद्धापूर्वक उनका स्मरण किया गया है। वे ऋग्वेद (१।२२।१६) के अनुसार देवताओ के लोक, सुरलोक (स्वर्ग अर्थात् गन्धमादन पर्वत क्षेत्रान्तर्गत) विष्णुप्रयाग में रहते थे। उत्तर गिरि प्रदेश मे सरस्वती नदी के तट पर मनु (ऋ० ८।३१।१०), नदी के सुख, पर्वत के सुख और देवताओ के साथ विष्णु के सुख की भी कामना करते हैं। इससे स्पष्ट है कि मनु का निवास स्थान पर्वत-प्रदेश मे प्रवाहित सरस्वती नदी के तट पर था, जहाँ विष्णु का निवास स्थान भी था। यह स्थान विष्णुप्रयाग या केशवप्रयाग है। ऋग्वेद (१०।६५।१) मे इन्द्र, विष्णु, रुद्र, सोम और सरस्वती का स्थान स्पष्टत स्वर्ग एवं अंतरिक्ष मे बताया गया है। विष्णुप्रयाग के निकट जोशीमठ मे भी विष्णु भगवान् का एक भव्य मन्दिर है, जिसमे सात स्त्री-मूर्तियो पर टिकी हुई एक सात फुट ऊँची काले पत्थर की उच्च कलात्मक विशाल विष्णु-मूर्ति स्थापित है (गढ़वाल गजेटियर्स, पृ० १६६)। जलप्लावन के समय, हरिद्वार से समुद्रजल अलकनन्दा उपात्यका से होता हुआ विष्णुप्रयाग के निकट तक पहुँच चुका था।

दक्ष प्रजापति—ऋग्वेद (१।८६।३, ३।२७।१०, १०।७२।५) मे दक्ष के नाम का उल्लेख है। उन्हें ब्रह्मा की अमैथुनी सृष्टि से उत्पन्न कहा गया है। दक्ष की कन्याओ से देव, दानव नाग और आदित्यो का प्रादुर्भाव हुआ। इससे पूर्व मानसी सृष्टि थी, जिसकी उत्पत्ति श्रवण और दर्शन से हुई (केदार ७६।४०, ४१)। दक्ष ने सर्व प्रथम सृष्टि-उत्पन्न करने के निमित्त सहस्त्र पुत्र उत्पन्न किये (केदार ८।२)। दक्षकन्या अदिति से आदित्य (सूर्य), से वैवस्वत मनु और मनु से इक्ष्वाकु (ऋ० १०।६०।४) आदि पुत्रों और चन्द्रवश की वृद्धि करने वाली इला उत्पन्न हुई (केदार ११।१०)।

दक्ष ब्रह्मा जी के दाहिने अगूठे से और उनकी पत्नी बाँये अँगूठे से उत्पन्न हुई थी। इनसे समस्त प्रजाएँ उत्पन्न हुई है। इसी से ये सम्पूर्ण लोक के पितामह हैं। इनकी दस कन्याएँ धर्म को, तेरह कश्यप को और सताईस चन्द्रमा को ब्याही गयी थी (आदि ७५।७)। इनकी आठ कन्याएँ ब्रह्मर्षियों को ब्याही गयी थीं, जिनसे अनेक प्रकार के जीव-जन्तु तथा देवता-मनुष्य आदि उत्पन्न हुए

(शांति० १६६,१७)। इनकी साठ कन्याओं में जो अंतिम वसु थी वे मनु को ब्याही गयी थीं (शांति ३४२,४७)। इन्होंने सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ किया और उस स्थान के लिए वर दिया कि यहाँ मरने वालों को स्वर्ग मिलेगा (वन० १३०।२)। गंगा द्वार में इनके आवाहन करने पर सरस्वती वहाँ आयी और सुरेणु नाम से विख्यात हुई (शल्य ३८, ३९)। कनखल में शिवजी द्वारा इनके यज्ञ का विध्वंस हुआ (शांति २८३,३२)।

दक्ष सर्व प्रथम आर्य-नरेश थे और उनकी राजधानी हरिद्वार से ढाई मील दूर दक्षिण गढ़वाल में ऋषिकेश के निकट 'कनखल' थी, जहाँ गंगातट पर दक्ष-प्रजापति का प्राचीन मन्दिर है। इस प्रकार वेद और पुराणों तथा वर्तमान भू-गर्भशास्त्रियों के कथनानुसार भी इस क्षेत्र से सर्व प्रथम मनुष्य एवं जीवधारियों की उत्पत्ति हुई। जब आदि सृष्टि में अविद्यमान से विद्यमान उत्पन्न हुआ तो सर्व प्रथम दक्षपुत्री अदिति से देवो (मित्र, वरुण, धाता, आर्यमा, अंश, भग, विवस्वान् और सूर्य) की उत्पत्ति हुई।

महर्षि जह्नु—ऋग्वेद (१।११६।१९) में महर्षि जह्नु का नाम आया है। जह्नु का आश्रम टिहरी गढ़वाल मे जाह्नवी के तट पर है। जब राजा भगीरथ गंगा जी को, स्वर्गभूमि, जिस नाम से प्राचीन युग में गढ़वाल प्रसिद्ध था, में ले गये तो जह्नु आश्रम मे, गंगा जी को महर्षि ने उदरस्थ कर दिया (केदार० ३७।१०)। भगीरथ ने पुन: कठिन तपस्या कर महर्षि जह्नु को प्रसन्न कर जाह्नु-प्रदेश से पुन गगा जी को प्राप्त किया। तब से गगा जी का नाम जाह्नवी (ऋ० ३।५८।६) भी हो गया।

वैवस्वत मनु—ऋग्वेद के १०।१५ एव आठवे मडल के २७, २८, २९, ३० और ३१ सूक्तो के रचयिता हैं। उनका राज्य आज से भारतीय काल-गणना-नुसार बारह करोड पाँच लाख तैंतीस हजार वर्ष पूर्व था। हरिद्वार से ऊपर समस्त सप्तसिन्धु उनके शासनान्तर्गत था। सप्तसिन्धु के दक्षिण में जलप्लावन से पूर्व उनकी राजधानी कनखल के आस-पास कही थी। जलप्लावन के समय सप्तर्षियो सहित वे नाव मे बैठकर दक्षिण गिरि-प्रदेश से उत्तर गिरि-प्रदेश की ओर भागे। समुद्रजल से आप्लावित अलकनन्दा उपत्यका से होती हुई उनकी नाव बदरीनाथ के निकट सरस्वती के तटवर्ती क्षेत्र में जा लगी। उन्होने वहाँ पहुँच कर निकटवर्ती किसी पर्वत शिखर पर अपनी नाव बाँध दी। चालीस वर्ष से अधिक समय तक ब्रह्मक्षेत्र में उनका निवास स्थान रहा। ऋग्वेद (९।११३।९) के अनुसार स्वर्ग में, उत्तम लोक में, जहाँ मन्दाकिनी आदि नदियाँ बहती हैं, मनु का आश्रम था। मनुपुत्री इला (ऋ० २।०४।५, १०।९५—१०) जो मनुपुत्र सुद्युम्न के नाम से अलकनन्दा के उत्तरी क्षेत्र में रहती थी (केदार० १२।७९)।

उससे बधाण (बुध-अयन) में, चन्द्रमा के पुत्र बुध ने चन्द्रवंश के प्रवर्तक राजा पुरूरवा को जन्म दिया। स्वयं पुरूरवा अपनी पत्नी उर्वशी सहित इसी चान्दपुर क्षेत्र मे रहते थे।

दक्ष की दस कन्याएँ वैवस्वत मनु को व्याही गयी थीं (शांति पर्व ३४२।५७)। मनु के दस पुत्रो में राजा बेन बडा अत्याचारी प्रमाणित हुआ। उसकी राजधानी हरिद्वार में थी। कनिंघम (ए० ज्यौ, पृ० २६५, २६६, २६७) के अनुसार आज भी वहाँ गगा नहर के तट पर राजा वेन के दुर्ग के खंडहर है, जो ७५० फीट लम्बी और इतनी ही चौडी भूमि पर फैला हुआ था। आज से डेढ सौ वर्ष पूर्व तक इस क्षेत्र मे टूटी-फूटी ईटो के ढेरो से ढके हुए अनेके ऊँचे टीलो के रूप मे अनेक प्राचीन महत्वपूर्ण ऐतिहासिक अवशेष सुरक्षित थे। वेन अत्याचारी होने के कारण राज्यच्युत किये गये थे। उनके स्थान पर उनके पुत्र पृथु प्रजा द्वारा गद्दी पर बैठाये गये, जो आर्य साहित्य मे प्रथम नरेश के नाम से विख्यात हैं।

वेदव्यास—भगवान् वेदव्यास महर्षि पराशर के औरस और दासराज-कन्या सरस्वती के गर्भ से उत्पन्न वेदो के प्रथम संहिताकार होने के कारण आर्य-ग्रन्थो मे उनका स्थान वैदिक ऋषियो से किसी प्रकार कम नही है। पुराणो के अनुसार कृष्ण द्वैपायन से पूर्व अट्ठाईस व्यास हो चुके थे, परन्तु जिन्होने वेदो का चार संहिताओ मे व्यास (विभाजन) किया था, जिनका वर्ण काला था, जो द्वीप मे जन्मे थे, वे ही प्राचीन भारतीय वाङ्मय मे कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास के नाम से प्रसिद्ध हुए-(महाभारत, आदि ६३।८४)।

क्रांतिदर्शी व्यास सर्वविद्याविशारद थे। उनकी असाधारण दार्शनिकता, आध्यात्मिकता और विद्वता से 'महाभारत' अष्टादश पुराण 'ब्रह्मसूत्र' आदि ग्रन्थ-रत्न ओत प्रोत हैं। उनकी प्रत्येक कृति आकार और प्रकार, भाव और भाषा की दृष्टि से विश्व-साहित्य मे अद्वितीय है। जीवन का कौन ऐसा क्षेत्र है, जिस पर उन्होंने अधिकृत रूप मे सर्वांगपूर्ण शब्द-चित्र प्रस्तुत न किये हो। उनका एक ही ग्रन्थ 'महाभारत' विश्व-साहित्य मे अतुलनीय है, ज्ञान का अगाध भडार है। उन्ही के शब्दो में

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित् ॥

भारत का समस्त प्राचीन और अर्वाचीन वाङ्मय व्यास की अमर रचनाओं से गौरवान्वित है। उनके एक-एक कथानक, एक-एक परिच्छेद को लेकर एकाकी, अनेकाकी, दृश्य और श्रव्य अनेक महाकाव्यो और खडकाव्यो की रचना हो चुकी है। कई हजार बरसो से भारतवासियो का सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक क्षेत्र भारत की नगर और ग्रामीण सभ्यता, संस्कृति एवं साहित्य व्यास की

रचनाओं से अनुप्राणित हैं।

गढ़वाल में चार स्थान व्यास-आश्रम के नाम से प्रसिद्ध हैं। दो बदरीकाश्रम के निकट बदरीनाथपुरी से दो मील उत्तर की ओर माणा गाँव के पास सरस्वती नदी के तट पर अवस्थित व्यास-आश्रम और व्यास-गुफा, तृतीय मैखंडा (महिषखंड) पर्वत की एक गुफा में तथा चौथा देवप्रयाग के निकट नयार और अलकनन्दा के संगमस्थल व्यासघाट में।

बदरीनाथ क्षेत्र में व्यासगुफा के सामने, नर-नारायण-पर्वत शिखर हैं, जिनके सामने ऋग्वैदिक आर्यों की पुण्यतोया सरस्वती नदी प्रचंड वेग से बह रही है। यहाँ पर इसी व्यासगुफा मे बैठकर (महाभारत आदि० १।२८) तथा इसी पावन-क्षेत्र के मुख्य अधिष्ठाताओ नर-नारायण एव देवनदी सरस्वती को सर्व प्रथम नमस्कार कर भगवान् व्यास ने जय-काव्य (महाभारत) के प्रथम पद का आरम्भ करते हुए लिखा था

नारायणं नमस्कृत्य नर चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत्॥

'केदारखण्ड' (६१।३४-३६) में लिखा है कि कैलास में गन्धमादन पर्वत पर श्री बदरीनाथ का आश्रम है। पराशर-पुत्र व्यास अपने शिष्यो और ब्राह्मणो को साथ लेकर वहाँ गये। वहाँ पर उन्होने तीन वर्ष मे (आदि पर्व ६२।७१,७२) 'महाभारत' के साठ लाख श्लोकों की रचना की। व्यास-रचित वह पुस्तक अभी तक वहाँ विद्यमान है। 'श्रीमद्भागवत' (७।२।३) के अनुसार भी ब्रह्मनदी सरस्वती के पश्चिम तट पर बदरीकाश्रम मे महर्षि व्यास का आश्रम है।

पर्वतो मे श्रेष्ठ, सिद्ध और चारणो से सेवित मेरु-पर्वत पर, जो हिमालय की उपत्यका मे है, व्यास का आश्रम था। अन्यत्र इसको ही बदरीकाश्रम या बदर्य्याश्रम कहा है। इस बदरीकाश्रम मे निवास करते हुए शाडिल्य ने मृकड नारद आदि को सात्वत शास्त्र का उपदेश दिया था। इसी बदर्य्याश्रम में व्यास के चारो शिष्य और अरणी-सुत-पुत्र शुक रहते थे। चारो शिष्यो के नाम सुमन्तु, जैमिनी, वैशम्पायन और पैल था। उन दिनो वेदव्यास अपने चारों शिष्यो को वेदाध्ययन कराया करते थे (आदि पर्व ६३।८९,९०)।

वेदव्यास आवश्यकता पड़ने पर इन्द्रप्रस्थ आदि स्थानो मे भी भ्रमण करते थे, परन्तु उनके साहित्यिक जीवन का अधिकाश भाग हिमालय क्षेत्रान्तर्गत गढवाल की इन्हीं उपत्यकाओ में व्यतीत हुआ, इसमें सन्देह नही हैं। 'महाभारत' (आदि० ११४।२४) मे भी लिखा है कि गान्धारी के पुत्रो की रक्षा-व्यवस्था करके व्यास जी तपस्या करने के लिए हिमालय पर चले गये थे। व्यास का शरीरान्त भी इसी क्षेत्र मे हुआ। 'महाभारत' (सभा० ५६।१९) मे राज्यारोहण पर धर्मराज

युधिष्ठिर को उपदेश देने के पश्चात् उनका पुन कैलास की ओर प्रस्थान करने का उल्लेख है ।

बदरीकाश्रम मे 'व्यासगुफा' के पास 'गणेशगुफा' भी है । व्यास 'महाभारत' के काव्यकार और गणेश उसके लेखक थे । दोनो महापुरुष असाधारण क्षमताशाली थे । व्यास आशु कवि और गणेश आशु लेखक थे । तत्कालीन ऋषि-महर्षियो की प्रार्थनानुसार भगवान् व्यास ने जब 'महाभारत' को लिपिबद्ध करने के लिए उनसे एक आशु लेखक की माँग की तो, इसके लिए गणेश जी का नाम प्रस्तुत किया गया (आदि० १।५५।७४) । गणेश जी ने इस शर्त पर कि यदि व्यास जी द्वारा छन्द-रचना मे किंचित् भी विलम्ब हुआ और उनकी लेखनी कुछ क्षण के लिए भी निरर्थक रुकी रह गयी तो वे कलम-दावात छोड कर तुरन्त चले जायेंगे । गणेश जी को भी उनका एक अनुरोध स्वीकार करना पड़ा कि यदि किसी पद्य का अर्थ उनकी समझ मे न आये तो वे व्यास जी से बिना उसका स्पष्टीकरण कराये उसको लिपिबद्ध न करें (आदि० १।७५।८३) । इस प्रकार आशु कवि और आशु लेखक द्वारा जय-भारत की काव्य-रचना तथा उसको लिपिबद्ध करने का श्रीगणेश हुआ । व्यास छन्द-रचना करते जाते थे और गणेश जी उसको तुरन्त लिपिबद्ध कर देते थे । कहते हैं कि छन्द-रचना में किंचित् विलम्ब की सम्भावना होती तो व्यास जी उससे पूर्व कई कूट श्लोको की रचना कर देते थे, जिनका अर्थ समझने के लिये गणेश जी को कुछ देर तक लेखनी को अवकाश देना अनिवार्य हो जाता था । इस बीच व्यासदेव कई नये श्लोक छन्दोबद्ध कर चुकते थे । ग्रन्थ-रचना के उपरान्त व्यास जी अपनी व्यासगुफा मे और गणेश जी अपनी गणेशगुफा मे ध्यानावस्थित हो जाते थे ।

इस प्रकार इसी व्यासतीर्थ मे (आदि० ६३।८६,८६) व्यास और उनके शिष्यो सुमन्तु, जैमिनी, वैशम्पायन और पैल द्वारा वेदो का चार सहिताओ में सकलन और विभाजन किया गया था ।

'केदारखड' (२०१।११) के अनुसार मैखडा (महिषखड) परगना नागपुर मे एक विस्तृत गुफा मे भी महामुनीश्वर व्यास का निवास-स्थान है

जाडे के दिनो मे बदरीक्षेत्र हिमपात के कारण पूर्णत ढक जाता है । अत वहाँ के निवासी छह महीने के लिए नीचे अलकनदा की उष्ण-उपत्यकाओ मे उतर आते हैं । व्यासघाट देवप्रयाग से आगे ६ मील की दूरी पर हरिद्वार की ओर अलकनन्दा और नयार के सगमस्थल पर एक मनोरम उष्ण उपत्यका मे अवस्थित है । पुराणो मे इस स्थान का नाम 'इन्द्रप्रयाग' है । यहाँ पर इन्द्र ने वृत्रासुर के वध के लिए शिवजी की तपस्या की थी । स्थानीय किम्वदन्ती के अनुसार जाडो में व्यास जी शिष्यो सहित बदरी क्षेत्र से यहाँ चले आते थे । यद्यपि बिरही

नदी की बाढ़ से हमारे प्राय अधिकांश प्राचीन ऐतिहासिक स्मारक समाप्त हो गये हैं तो भी अलकनन्दा के उस पार, उस सघन-वन-उपत्यका में व्यास-आश्रम की प्राचीन यज्ञ-वेदियो के अवशेष आज भी सुरक्षित है। इस प्रकार बदरीकाश्रम के व्यासतीर्थ और व्यासगुफा तथा मैखडा की व्यासगुफा वेदव्यास के ग्रीष्म-कालीन और व्यासघाट उनका शीतकालीन निवास स्थान था।

अनेक ऋषि-महर्षियो, महात्मा, सन्तों और ज्ञानमना महापुरुषों द्वारा सेवित गढ़वाल की पवित्र भूमि का परम्परा से अपना ऐतिहासिक तथा धार्मिक महत्व रहा है। पग-पग पर अधिष्ठित उसके तीर्थ और प्रयाग उसके असाधारण अध्यात्मिक गौरव के परिचायक हैं। आज भी सहस्रो धर्मप्राण नर-नारियाँ, साधु-सन्त प्रति वर्ष वहाँ की यात्रा करके अपने जीवन को धन्य मानते हैं। आधुनिक युग के साहित्य-स्रष्टाओ ने मुक्त कठ से उसकी प्रशंसा की है और परम्परा द्वारा धार्मिक दृष्टि से ही नही, ऐतिहासिक दृष्टि से भी उसका अपना महत्व है। पुरातन भारतीय इतिहास-लेखन के लिए वहाँ से मौलिक सामग्री प्राप्त हो सकती है।



आर्य ऋषियों की तपोभूमि गढ़वाल

मध्य हिमालय का यह क्षेत्र हरिद्वार से लेकर बदरीकाश्रम तक वैदिक परम्परा के अनुयायी समस्त आर्य ऋषियो और महापुरुषो की तपोभूमि रहा है। ऋषिकेश और बदरीकाश्रम के निकट दो गाँव—आज भी 'तपोवन' कहलाते हैं। आठवी-नवी शताब्दी, स्वामी शकराचार्य तक इस क्षेत्र की उस अविच्छिन्न आध्यात्मिक परम्परा से, प्राचीन आर्य-साहित्य ओत प्रोत है।

त्रेतायुग मे रावण-कुम्भकर्ण को वध करने के पश्चात् कुछ वर्ष अयोध्या मे राज्य कर, पुरुषोत्तम राम ब्रह्महत्या के निवारणार्थ सीता और लक्ष्मण जी सहित देवप्रयाग मे अलकनन्दा और भागीरथी के सगम पर तपस्या करने आये थे (केदारखड १५०।८७)

पुनर्देवप्रयागे वै यत्रास्ते देव भूसुर ।
आययौ भगवान् विष्णू रामरूपात्मक स्वयम् ॥

'केदारखड' (अध्याय १५८।५४,५५) मे भी दशरथात्मज रामचन्द्र जी का लक्ष्मणसहित देवप्रयाग आने का उल्लेख है

त्रेतायुगे दाशरथी रामो लक्ष्मणसयुत ।
आयास्यति तदा तत्र दर्शन प्राप्स्यसि प्रिय ॥
अथ त्रेतायुगांते वै आगतो रामलक्ष्मणौ ।
देवप्रयागके क्षेत्रे यत्र सा पुष्पमालिके ॥

अध्याय १६२।५० मे भी रामचन्द्र जी के देवप्रयाग आने और विश्वेश्वर लिंग की स्थापना करने का उल्लेख है

रामो भूत्वा महाभाग गतो देवप्रयागके।
विश्वेश्वर शिव स्थाप्य पूजयित्वा यथाविधि ॥

इतना ही नही, देवप्रयाग से आगे श्रीनगर मे, रामचन्द्र जी द्वारा प्रतिदिन सहस्र कमल-पुष्पो से कमलेश्वर महादेव जी की पूजा करने का वर्णन है (केदारखंड, १८८।८८)।

श्रीनगर ही नही वरन् अगस्त मुनि तक रामचन्द्र जी के जाने की लोकोक्तियाँ हैं।*

---

* Philosophy of Vasista Confirms Rama's Visiting these localities—Garhwal Ancient and Modern, page 159

यज्ञ में बैठे हुए इन्द्रजीत का वध करने के कारण दशरथ-तनय लक्ष्मण जब राजयक्ष्मा से पीड़ित हुए तो उन्होंने लंका-विजय के बाद, ब्रह्महत्या-निवारणार्थ इस क्षेत्र में आकर बारह वर्ष तक शिव की आराधना की थी।

'रामायण' के अनुसार सीता जी के दूसरे वनवास के समय लक्ष्मण जी द्वारा सीता जी को ऋषियों के तपोवन में छोड़ आने का उल्लेख है। गढ़वाल में आज भी दो स्थानों का नाम (एक जोशीमठ से १ मील दूर नीती मार्ग पर और एक ऋषिकेश के निकट) तपोवन हैं। 'केदारखण्ड' (१५०।८७ और १४६।३५) में रामचन्द्र जी का सीता और लक्ष्मण जी सहित देवप्रयाग-क्षेत्र में पधारने का वर्णन है (इत्युक्त्वा भगवन्नाम तस्थौ देवप्रयागके। लक्ष्मणेन सह भ्राता सीतया सह पार्वती)। राज्याभिषेक से बाद श्रीरामचन्द्र जी का दो बार सीता और लक्ष्मण सहित देवप्रयाग-क्षेत्र में पधारने के उल्लेख से इसी क्षेत्र में सीता के दूसरे वनवास की भी पुष्टि होती है। देवप्रयाग से दो-तीन मील पर सीताकुटी (बिदाकुटी) नामक स्थान है। मालूम होता है कि इसी स्थान पर श्रीरामचन्द्र जी ने किसी उपयुक्त ऋषि-आश्रम में सीता जी को छोड़ आने के लिए, लक्ष्मण जी के साथ विदा किया था। सीताकुटी (बिदाकुटी) से कुछ मील आगे, 'मुछयाली' गाँव में सीता जी का मन्दिर है। मुछयाली गाँव से ऊपर सीतावन-स्यूँ और सल्ड गाँव में सीता जी का प्राचीन मन्दिर है। सल्ड गाँव से ४, ५ मील आगे एक परम रमणीक, समतल एवं विस्तृत भू-भाग है, जिसका नाम सीता जी के नाम पर सीतावनस्यूँ है। इस क्षेत्र में सीता जी और लक्ष्मण जी का ग्यारह मन्दिरों से घिरा हुआ एक प्राचीन मन्दिर है, जहाँ प्रति वर्ष स्थानीय जनता द्वारा सदियों से सीता जी के पृथ्वी-प्रवेश की घटना की स्मृति में दीवाली के बाद एकादशी के दूसरे दिन बड़ा मेला लगता है। सीता जी और लक्ष्मण जी इस क्षेत्र के आराध्य देव हैं। गाँव के लोग ढोल बजाते हुए, स्थानीय दहेज (दूण-कंडी) के साथ सीता जी की गुड्डी बना कर एक विस्तृत खेत के मध्य में (संभवत जहाँ पर श्रीरामचन्द्र जी ठहरे हुए थे, और जहाँ पर स्थानीय लोकगाथा के अनुसार सीता जी पृथ्वी में प्रविष्ट हुई थी) ले जाते हैं। प्रचलित लोक-गाथानुसार जब सीता जी धरती में धँस रही थी, तो राम ने उन्हें पृथ्वी-गर्भ से बाहर निकालने के लिए उनकी चोटी पकड़ ली, परन्तु उनके हाथों पर सीता जी के केवल बाल ही रह गये और सीता जी पृथ्वी-गर्भ में समाधिस्थ हो गयी। मेले की समाप्ति पर यात्री सीता जी के पवित्र बालों की स्मृति में, बावड की एक रस्सी बट कर, उसके तृणों को नोच कर उन्हें सिर पर रख कर ले जाते हैं। इस समाधिस्थल की पूजा के लिए प्राचीन काल से पुजारी नियुक्त हैं। उत्सव के दिन, लक्ष्मण जी के मन्दिर से—लक्ष्मण जी के विशाल ध्वज फहराते हुए आते

हैं और उसके पश्चात् सीता जी के समाधिस्थल की विधिवत् पूजा की जाती है। प्राचीन किम्वदन्ती के अनुसार इस क्षेत्र के बीच में वाल्मीकि-आश्रम था, जहाँ पर एक प्राचीन मन्दिर आज भी अवस्थित है।

'रामायण' में भागीरथी के तट पर वाल्मीकि-आश्रम का वर्णन है। वाल्मीकि-आश्रम में गगा जी से अधिक जाह्नवी और भागीरथी का उल्लेख किया है। महाकवि कालिदास ने भी 'रघुवंश' में (भागीरथी तीर तपोवनानि) भागीरथी के तट पर स्थित तपोवन की पुष्टि की है। सीतावनस्यूं के इस क्षेत्र से भागीरथी और अलकनन्दा नदी केवल ४, ५ मील दूरी पर है। हमारे इस कथन की पुष्टि मे प्रस्तुत कागजी शहादते एव प्राचीन काल से प्रचलित लोक-गाथाएँ राम, लक्ष्मण और सीता जी से सम्बन्धित इस क्षेत्र की ऐतिहासिक वास्तविकता को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है।

आर्यों के आराध्य पुरुषोत्तम राम, लक्ष्मण और सीता जी ही नही, द्वापर युग मे स्वय भगवान् श्रीकृष्ण जी ने भी इस क्षेत्र मे आकर, हिमालय की उपत्यका मे, गगातट पर कठिन तपस्या कर रुक्मिणी के गर्भ से प्रद्युम्न को जन्म दिया। इसीलिए गैगा जी को 'प्रद्युम्नस्यैकजननी' कहा गया है। 'महाभारत' (सौप्तिक० १२।३०,३१, वन पर्व १२।११) मे भगवान् कृष्ण द्वारा गन्धमादन पर्वत पर दस हजार वर्ष तक तपस्या करने का उल्लेख है

दशवर्ष सहस्राणि यत्र सायगृहो मुनि.।
व्यचरस्त्व पुरा कृष्ण पर्वते गन्धमादने ॥
दशवर्ष सहस्राणि दशवर्ष शतानि च।
पुष्करेष्ववस कृष्ण त्वमयो भक्षयन् पुरा ॥

अर्जुन कहते है कि 'हे कृष्ण! आपने गन्धमादनपर्वत पर स्वय गृहमुनि के रूप मे दस हजार वर्ष तक विचरण किया, ग्यारह हजार वर्ष तक पुष्कर तीर्थ मे जल पीकर निवास किया। विशालापुरी के बदरीकाश्रम मे दोनो भुजायें उठाये केवल वायु का आहार करते हुए सौ वर्ष तक एक पैर के सहारे खडे रहे। आपने सरस्वती नदी के तट पर उत्तरीय वस्त्र तक का त्याग कर बारह वर्ष तक यज्ञ करते हुए अपनी देह को सुखा डाला।'

अर्जुन ने भी गन्धमादन पर तपस्या की (महा० वन० ३७।४१) थी। देवर्षि नारद ने यहाँ एक हजार वर्ष तक व्रत-अनुष्ठान किया था (वन० ११।८,६)। इसी पर्वत पर देवर्षि नारद का आश्रम है (शांति० ३४६।३)। बदरी क्षेत्र में व्यासगुफा में बैठकर व्यास अपने शिष्य सुमन्तु, जैमिनी, पैल तथा वैशम्पायन को वेद पढाया करते थे (शाति ३२७।२,२७)।

महाराजा पाडु ने कुन्ती और माद्री सहित पांडुकेश्वर मे, गन्धमादन क्षेत्रान्तर्गत

तपस्या की थी (आदि० ११८।४८) और यहीं पाँचो पाडवों का जन्म और नामकरण संस्कार हुआ (आदि० १२३)। यहीं पांडु की मृत्यु तथा अपने मृतपति के साथ माद्री सती हुई (आदि० १२४) 'विष्णु पुराण' में यदुवंश के पतन पर भगवान् कृष्ण ने इस क्षेत्र को पृथ्वी मे पवित्रतम बतलाते हुए अपने प्रिय सखा उद्धव को बदरीकाश्रम में चले आने का उपदेश दिया था

यद्वदर्याश्रमं पुण्य गन्धमादनपर्वते ।
नरनारायण स्थाने तत्पवित्र महीतले ॥

'उद्धव चौंरी' के नाम से बदरीकाश्रम में उनकी प्राचीन स्मृति आज भी सुरक्षित है। इसी उत्तराखड मे ऋषीकेश के निकट गान्धारी, कुन्ती, सजय और विदुर ने भागीरथी के पावन-तट पर कठिन तप करते हुए दावानल में भस्म हो कर शरीर त्याग किया (आश्रम० १८।१६०।२०, १६।१८) था। उनके भस्म हो जाने के पश्चात् सजय आगे हिमालय मे चले गये (आश्रम० ३७।३३।३४)। इसी प्रदेश में श्रीकृष्ण जो ने महात्म ।उपमन्यु का आश्रम देखा था (अनु० १४)। महामुनि शुकदेव ने ऊर्द्धलोक मे गमन करने के लिए इसी पर्वत-प्रदेश में पदार्पण किया था (शाति ३३३।५।१०)। पर्वतराज हिमवान का यह शैल-शिखर शिव और उमा का निवास स्थान है (उद्योग० १११।५)। यहीं कुमार कार्तिकेय का जन्म और अभिषेक हुआ था (शल्य० ४५।१४, १८)। योगाचार्य भगवान् सनत्कुमार ने यही कनखल के पास गगा-तट पर मोक्ष प्राप्त किया (वन० १३५।५)। ऋषि देव शर्मा, जो जन्मेजय के सर्प-सत्र के सदस्य थे, देवप्रयाग मे रहते थे (अनु० १६५।४६)। शेषनाग यहीं तपस्या करते थे (आदि० ३६।३७)। बदरीकाश्रम में चार्वाक ने तपस्या की थी (शाति० ३६।३)।

यही कैलाश पर राजा सगर और भगीरथ ने घोर तप किया (वन पर्व १०६, १०८)। महावीर हनुमान जी भी इसी गन्धमादन क्षेत्र मे (हनुमान चट्टी) के निकट निवास करते थे (वन० १४७)। हिमालय के इसी क्षेत्र मे ऋषि अष्टावक्र भी रहते थे (अनु० १६।२७।४०, ४१)। सुरभि ने यही तपस्या की (अनु० ८३।३८)। भृगुतुग पर महर्षि भृगु ने तप किया (वन० ६०।८३)। महर्षि भृगु ने (शाति० १६२) हिमालय के उत्तर पार्श्व मे स्थित इस उत्कृष्ट लोक की विलक्षणता और महत्व का प्रतिपादन किया है।

अगस्त्यमुनि स्थान से ६ मील दूर, स्वामी कार्तिकेय का प्राचीन मन्दिर है। यहाँ पर उन्होंने तपस्या की थी। इसी कारण इस पर्वत का नाम कार्तिकेय पर्वत है (केदार ४२।३६)। उत्तरकाशी में महर्षि यमदग्नि अपनी पत्नी और पुत्र के साथ तपस्या करते थे (केदार० ६४।१५)। यही पर परशुराम जी ने अपने पिता की आज्ञानुसार माता रेणुका का वध किया था। यही पर कार्तवीर्य ने यमदग्नि

ऋषि का वध कर, कामधेनु का हरण किया था। परगना दशोली में नन्दप्रयाग से सात मील दूर 'वैरासकुड' में दशमौलि रावण ने अपने दशो शिर, दशों मौलियों की आहुति देकर महादेव जी को प्रसन्न किया था।

इस क्षेत्र में हरिद्वार से कैलासपर्वत तक स्थान-स्थान पर पर्वत-उपत्यकाओं में, सरिता-सगमों पर कई प्रयागो एव ऋषि-आश्रमो की स्थापना कर प्राचीन ऋषि-महर्षियो ने वैदिक सस्कृति का प्रचार-प्रचार किया था।

कनखल—हरिद्वार से २ मील नीचे, गंगा जी के दाहिने तट पर है। यह प्राचीन काल में दक्ष-प्रजापति की राजधानी थी। इस स्थान पर राजा दक्ष ने दक्ष-यज्ञ किया था।

हरिद्वार—यहाँ से बदरीनाथ यात्रा का मुख्यद्वार है। अत इसे हरिद्वार कहते हैं। यहाँ प्रतिवर्ष लाखो हिन्दू-यात्री, हर की पैडी मे स्नान करने आते हैं। अग्रेजो के आने से पूर्व हरिद्वार और कनखल गढवाल राज्यान्तर्गत थे। अब जिला सहारनपुर मे हैं। हरिद्वार मे कश्यप ऋषि (कश्यप सहिता) और ऋषि भरद्वाज रहते थे (महा० आदि० १२६।६)।

ऋषीकेश—हरिद्वार से १५ मील की दूरी पर, प्राचीन काल मे सप्तऋषियो की की तपोभूमि रही है। यहाँ भरत जी का मन्दिर है। इसके कुछ दूर पर तपोवन है। प्राचीन काल में ऋषि-महर्षि यहाँ आकर तपस्या करते थे। इस क्षेत्रान्तगत स्वर्गाश्रम है, जहाँ आज भी कई विद्वान् साधुओ के आश्रम हैं। यही लक्ष्मणझूले मे लक्ष्मण जी ने भी तपस्या की थी। आज मन्दिर के रूप मे वहाँ उनका स्मारक है।

इन्द्रप्रयाग—अलकनन्दा और नावालिका (नयार) के सगमस्थल व्यासघाट मे प्राचीन काल मे वृत्र का वध करने के लिये इन्द्र ने शिव की तपस्या की थी। इसी स्थान पर अलकनन्दा के दाहिने पार्श्व मे, उस पार महर्षि व्यास का शीतकालीन आश्रम भी था (केदारखड १६४। १०)।

इन्द्रप्रयाग इति वै सर्वतीर्थोत्तमोत्तम।
आराधितस्तत्र देव इन्द्रेण शिव उत्तम॥

देवप्रयाग—भागीरथी और अलकनन्दा के सगमस्थल देवप्रयाग मे रघुकुल तिलक राम ने ब्रह्महत्या के निवारणार्थ तपस्या की थी (केदारखड १५०।८७)

इत्युक्त्वा भगवान्राम तस्थौ देवप्रयागके।
लक्ष्मणेन सह भ्राता सीतया सह पार्वती॥

शिवप्रयाग—अलकनन्दा और खाडवनदी के संगम पर विल्वकेदार चट्टी के पास 'शिवप्रयाग' नामक प्रसिद्ध तीर्थ है। वहाँ पर अर्जुन ने भिल्लवकेश्वर महादेव की तपस्या कर महादेव जी से पाशुपत अस्त्र प्राप्त किया था (केदारखंड १८१।६७)

शिवप्रयाग इति वै गंगाखांडवयोर्युतौ।
आरराध शिवं यत्र खांडवो नाम वै मुनि ॥
ग्रहाण मन्त्रसहितं शस्त्रं पाशुपतं मम।
तेनैव शत्रुंस्त्वानि जेस्यसि त्वं न संशय ॥

रुद्रप्रयाग—अलकनन्दा और मन्दाकिनी के संगम स्थल रुद्रप्रयाग में जो सब तीर्थों से उत्तम है (सर्वतीर्थोत्तम शुभे) नारद जी ने शिव को सन्तुष्ट कर, उनसे संगीत शास्त्र का विधिवत् अध्ययन किया था (केदार० ६३।१६)।

प्राप्त तत्सर्वमखिल रागाद्यां परम शिवम्।

कर्णप्रयाग—अलकनन्दा और पिंडर (क्रमू) के मिलनस्थल कर्णप्रयाग में राजा कर्ण ने भगवती उमा की शरण मे सूर्य भगवान् की आराधना कर उनसे कवच-कुण्डल प्राप्त किये थे।

नन्दप्रयाग—अलकनन्दा और नन्दाकिनी के संगमस्थल नंदप्रयाग मे राजा नन्द ने भगवान् नारायण की आराधना की (५८।१)। यहाँ पर महा-तेजस्वी कण्व का आश्रम भी था (केदार० ५७।११)।

कण्वो नाम महातेज महर्षिर्लोकविश्रुत.।
तस्याश्रमपदे गत्वा भगवन्त रमापतिम् ॥

विष्णुप्रयाग—गन्धमादन पर्वत क्षेत्रान्तर्गत धवली और अलकनन्दा के संगम पर विष्णुप्रयाग मे नारद जी ने अष्टाक्षरी मन्त्र द्वारा भगवान् विष्णु को प्रसन्न किया था। यहाँ पर भगवान् विष्णु का मन्दिर है (केदार० ५८।५०)।

विष्णुकुंडे प्रयागे तु यत्र विष्णु सनातन।
आराधितो नारदेन प्रत्यक्षमगमत्पुरा।
सर्वज्ञत्व ददौ तस्मै सन्तुष्टो भगवान् हरि ।

केशवप्रयाग—अलकनन्दा और सरस्वती के संगमस्थल पर केशवप्रयाग तीर्थों में उत्तम है (केदार० ५८।६६)।

केशवप्रयागतीर्थं क्षेत्राख्या परमं मतम्।
मणिभद्राश्रमस्तत्र महाविष्णुरच तत्र वै ॥

सूर्यप्रयाग—केदार और मन्दाकिनी के मध्य में सूर्यप्रयाग नामक पवित्र तीर्थ है

(केदार १६४।११)। यहाँ प्राचीन काल में सप्त ऋषियो ने सूर्य की आराधना की थी(१६४।४)। मन्दाकिनी नदी के तट के ऊपर संगम से एक बाण की दूरी पर महर्षि विश्वामित्र का तपस्थल है, जो सब पापो का नाश करने वाला है (केदारखड १६४।३३)

मंदाकिन्यास्तटे चोर्ध्व संगमाच्छरसम्मिते।
भूमि भागेपर तीर्थं विश्वामित्र तप स्थलम्॥
विश्वामित्राख्य तीर्थं तु सर्व पापप्रणाशनम्।

इस प्रकार इस केदार क्षेत्र मे गौरीप्रयाग (केदार १८०।६०), विश्वप्रयाग (१०२।६१)। मुक्तिप्रयाग (१८०।८६) आदि अनेक प्रयागो का महात्म्य प्रतिपादित है।

इस प्रकार पुरातन अतीत से आर्य ऋषियो ने उत्तराखण्ड को अपनी साधना और साहित्य-सृजन का केन्द्र बनाया। उनके नाम से अधिष्ठित आश्रम तथा पीठ आज भी उनकी पुण्यस्मृति को अमर बनाये हुए हैं। ये स्मारक धर्मप्राण और ज्ञानमना भारतीय जनता के प्रेरणा-स्रोत है। भारतीय इतिहास के वे आधार-स्तम्भ हैं। उनकी सुरक्षा और उनका जीर्णोद्धार होना आवश्यक है। स्थानीय जनता और सरकार, दोनो को ही इस ओर ध्यान देना चाहिए। इस देश की महान् राष्ट्रीय थाती के रूप मे उनकी देख-रेख होनी परमावश्यक है।

● ●

गढ़वाल का आध्यात्मिक महत्व

ऋग्वेद के अनुसार पर्वत-प्रान्त में उसके सरिता-तटों, नदियों के संगमस्थलों पर यज्ञ-क्रियाओ से वेदज्ञ विप्रो का जन्म हुआ है। आचार्य सायण, जिन्होने वेदो का परम्परागत अर्थ किया है, सप्तसिन्धु की सप्त सरिताओ में गगा जी को प्रमुखता देते हैं भाष्यकार महीधर ने भी पर्वत-प्रान्त मे गगा-तट पर ही आर्य विप्रो द्वारा अनेक तीर्थों और प्रयागो की स्थापना का प्रतिपादन किया है। पजाब मे सिन्धु नदी और उससे सन्धि करने वाली किसी भी सरिता-तट पर आर्य-जाति द्वारा स्थापित कही कोई महत्वपूर्ण तीर्थस्थल नही है। सप्तसिन्धु के प्रति आर्यों ने वेद और पुराणो मे असीम श्रद्धा-भक्ति प्रदर्शित की है। उसका वर्तमान पजाब-प्रान्त के प्रति हिन्दू-धर्म-ग्रन्थो मे सर्वथा अभाव है।

पजाब आज तक भी पूर्ववत् वैदिक परम्परा के कट्टर अनुयायी आर्यों के आर्यावर्त्त के ही अन्तर्गत रहा है। वहाँ तब से आज तक अविच्छिन्न रूप से हिन्दुओ का ही तो निवास स्थान रहा है। यदि वह ऋग्वैदिक आर्यों का सप्तसिन्धु होता तो प्राचीन ऋग्वैदिक पजाब और अर्वाचीन पजाब की जलवायु मे, उसकी भौगोलिक स्थिति मे तथा उसके आध्यात्मिक महत्व मे आज आकाश-पाताल का क्यो अन्तर पड गया है ? सदियो के भौतिक परिवर्तनो के कारण उसकी जलवायु में भले ही परिवर्तन हो गया हो, परन्तु आर्यों की परम आराध्या जननी जन्मभूमि पजाब और उसकी वेद-वन्दिता सिन्धु नदी के प्रति वैदिक परम्परा के कट्टर समर्थक आर्य-सन्तति के परम धर्म-परायण हृदयो में आज उस धार्मिक श्रद्धा का क्यों सर्वथा लोप हो गया है ? गढवाल मे गंगा, यमुना, गोमती, सरयू, सरस्वती और मदाकिनी जहाँ आज भी अपने ऋग्वैदिक नाम से पुकारी जाती हैं, वहाँ आर्य जाति द्वारा पजाब की नदियो के ऋग्वैदिक नाम क्यो सर्वथा विस्मृत हो गये ? वेदो पर आधारित हिन्दू-धर्म-ग्रन्थो मे एव पौराणिक गाथाओं में पजाब के किसी भी स्थल का क्यो आदरणीय उल्लेख नही किया गया है ? इसके सम्बन्ध में श्री अविनाशचन्द्र दास, श्री नारायण पावगी तथा डाक्टर सम्पूर्णानन्द ने, जो पजाब को आर्यों का सप्तसिन्धु देश घोषित करते है, कही कोई स्पष्टीकरण प्रस्तुत नही किया है।

'आर्यों का आदि देश' के लेखक एव पजाब सप्तसिन्धु के प्रबल समर्थक डॉ॰ सम्पूर्णानन्द जी सन् १६५८ में, जब वे मुख्य मत्री उत्तर प्रदेश की हैसियत

से गढ़वाल पधारे थे 'त्रिपथगा' के 'हिमालय अक' में अपनी इस यात्रा के विवरण मे लिखते हैं

"कश्मीर अपने प्राकृतिक सौदर्य के लिए विश्व मे विख्यात है। कश्मीर की तुलना यहाँ नही, परन्तु मेरी अनुभूति (सम्भव है दूसरो की प्रतीति कुछ और हो) कश्मीर मे प्रकृति-शृ गार की ओर झुकाती है, इस क्षेत्र मे शान्तरस की ओर। शृ गार को ब्रह्मानन्द का सहादर कहा है, परन्तु शान्तरस साक्षात् ब्रह्मानन्दमय है।

परन्तु यहाँ केवल सुन्दर प्राकृतिक विषयो का आकर्षण नही है। इस भूमि से पदे-पदे हमारी पुरानी कथाओ और अनुश्रुतियो के झकार उठते हैं। नदियो और पुलिनो से, पहाडो की चोटियो से, हमारा पुराना इतिहास बोलता है। सप्तसिंधव निवासी ऋषियो ने जिस सस्कृति को अकुरित किया था, वह यहाँ पल्लवित हुई। सिन्धु हमसे छूट गयी। सरस्वती अन्तर्हित हो गयी। परन्तु गगा, यमुना अब भी हैं। यह पावन भूखड अब भी हमको अपना अमर सन्देश देता रहता है। आज भी विरल भारत की यही इच्छा होती है कि वह हिमालय के प्रागण में तप और भगवादाराधन मे अपना कालयापन कर सके और यही शरीर-त्याग करे। आज भी लाखो श्रद्धालु इस प्रदेश के मन्दिरो मे दर्शन करके अपने जीवन को पवित्र बनाने की लालसा रखते है। न जाने कितने ममुक्षु साधु-महात्माओ की खोज मे यहाँ आते है।"

गढ़वाल की भूमि को सप्तसिन्धु की ऋग्वैदिक सस्कृति को पल्लवित करने का श्रेय देकर, उसकी अद्वितीय आध्यात्मिकता से प्रभावित होते हुए भी उसके स्थानीय ऐतिहासिक एव भौगोलिक तथ्यो से अपरिचित रहने के कारण माननोय सम्पूर्णानन्द गढवाल को स्पष्टत सप्तसिन्धु स्वीकार नही कर सके। वेद और उसके अनुयायियो की परम आराध्या सिन्धु और सरस्वी उनसे क्यो छूट गयी, उनके स्थान पर आर्य जाति ने गगा (अलकनन्दा) को उसके समकक्ष आदरणीय स्थान क्यो प्रदान किया, इसका उन्होने अन्य जिज्ञासाओ की तरह कोई तर्क-सगत समाधान प्रस्तुत नही किया है। अपने यात्राकाल में व्यक्ति-गत अनुभूति के आधार पर यद्यपि उपर्युक्त विवरण द्वारा वे गढवाल को सप्तसिधु के समकक्ष आध्यात्मिक सौन्दर्य मे सम्पन्न घोषित कर चुके हैं, तो भी यदि वे गढ़वाल की भौगोलिक एव ऐतिहासिक वास्तविकताओ का कुछ अधिक विस्तृत अध्ययन एव मनन करते तो वे गढवाल को निस्सदेह आर्यों का आदि देश सप्तसिन्धु स्वीकार कर लेते।

स्व० वी० एन० दातार भी जो केन्द्रीय मत्री थे, अपनी बदरी-केदार तीर्थ-यात्रा (१९६१) मे लिखते हैं

गढ़वाल का सारा क्षेत्र ही ऋषियो और महात्माओ को समर्पित आश्रमो,

समाधियो तथा देवमन्दिरो से वस्तुत: भरा पड़ा है। इनमें से बहुत से मुझे इस मार्ग में देखने को मिले। इस क्षेत्र में विचरण करने से ऐसा अनुभव होता है, मानो अत्यन्त प्राचीन काल के महान् भारतीयों के कार्यों द्वारा पुण्यकृत इस भूमि में घूम रहे हों।"

वेद और पुराणो मे प्राचीन महत्वपूर्ण स्थानो, विषयो और व्यक्तियों का विशद ऐतिहासिक एव आध्यात्मिक जीवन-वृत्त अंकित है। सूत्ररूप में वर्णित वैदिक घटनाओ का पुराणो मे विस्तारपूर्वक विवेचन एव प्रतिपादन है, परन्तु उनमे पजाब और उसकी नदियो की आध्यात्मिक विशेषताओं का कही कोई उल्लेख नही मिलता। पजाब मे सिन्धु नदी के तट पर हिन्दुओ का न तो कोई उल्लेखनीय तीर्थ स्थान है और न धार्मिक दृष्टि से वहाँ हिन्दू शास्त्रानुमोदित कोई महत्वपूर्ण प्राचीन धार्मिक स्मारक ही प्राप्त होते हैं। अत भौतिक, आधिभौतिक एव आध्यात्मिक दृष्टि से पजाब आर्यों का आदि देश प्रमाणित नही होता। इसके विपरीत आर्य-मनीषियो द्वारा आर्य साहित्य मे पंचनद पजाब के प्रति कई स्थलो पर घोर घृणाभाव व्यक्त किया गया है, उसको पतित प्रदेश कहा गया है।

'महाभारत' मे लिखा है कि पचनद देश जहाँ पाँच नदियाँ बहती हैं, बहिर्गत देश है। यहाँ के निवासियो का आचार अत्यन्त निन्दित है। यह पापी देश है। अन्य सभी देशो मे पुराण-धर्म के अनुयायी है, साधु-सन्तो का निवास है, केवल मद्र और कुटिल पचनद के निवासियो मे धर्म का सर्वथा अभाव है। जब ब्रह्मा की सृष्टि से सब देश शाश्वत धर्म का पालन करने लगे, तब पचनद देश के धर्म को देख कर स्वय ब्रह्मा ने कहा कि इस देश को धिक्कार है (कर्ण पर्व २७।७७१-७६, अध्याय २०)।

कुछ विद्वानो के कथनानुसार, यूनानी-यवनो के सम्पर्क मे आकर पचनद देशवासी आचार-भ्रष्ट हुए, परन्तु 'महाभारत' के इस कथन से सृष्टि मे सर्वत्र शाश्वत धर्म की स्थापना पर सृष्टि-उत्पत्ति के समय ही, आर्योद्भवकाल मे ब्रह्मा ने स्वय पचनद देश मे, आर्य धर्म के विरुद्ध आचार के दर्शन कर लिये थे। अत यह देश आर्यों का पितृ देश नही हो सकता।

जो इतिहासकार, कुरुक्षेत्र को भी देव-निर्मित देश—ब्रह्मावर्त्त कहते है और जहाँ आर्यों की देवनदी सरस्वती की स्थापना करते हैं, उस कुरुक्षेत्र को जो बाह्लीक देश का एक भाग है 'महाभारत' मे आर्य जाति के लिए वर्जित-देश कहा गया है

आर्यों को यहाँ एक से दो दिन रहना ठीक नही है।

'महाभारत' तीर्थ यात्रा पर्व में तीर्थयात्रियो के लिए उपदेश है कि वे कुरुक्षेत्र मे एक दिन से अधिक न रहे। यदि वे एक दिन से अधिक वहाँ बसेंगे तो

जो दिन में, देखा है रात्रि में ठीक उससे उलटा आचार पायेंगे। मनु ने जिस सरस्वती के देश (ब्रह्मावर्त्त) का आचार, आर्य-जाति के लिए अनुकरणीय कहा है, वह देश कुरुक्षेत्र कदापि नही है।

कश्मीर का प्राचीन काल भी भौतिक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से प्राचीन आर्य-मनीषियो के समक्ष विशेष उल्लेखनीय रहा है, यह भी प्रमाणित नही होता। उसकी प्राकृतिक श्री-सम्पन्नता भी, बिल्कुल अर्वाचीन कृति है। यद्यपि अलध्य पर्वत मालाओ से आच्छादित होने के कारण गढवाल मे सर्व-साधारण का प्रवेश, कश्मीर की तरह सुविधाजनक नही रहा है, तो भी उसका प्राकृतिक सौन्दर्य, मीलो तक फैले हुए उसके प्राकृतिक पुष्पोद्यान, उसके नन्दन-कानन कश्मीर से किसी प्रकार कम आकर्षक नही हैं, जो लोग काश्मीर को पृथ्वी का स्वर्ग कह कर उसको आर्यों का आदि देश घोषित करते हैं, वे भी, वेद और उसके अनुवर्ती साहित्य मे कश्मीर आर्य-जाति द्वारा आध्यात्मिक दृष्टि से क्यो सर्वथा उपेक्षित रहा है, इसका युक्तियुक्त समाधान प्रस्तुत नही कर सके।

गढवाल सप्तसिन्धु है। वह मनु के कथनानुसार 'देवनिर्मित देश' आर्यजाति का पितृदेश है। उसकी देवनदियो, सरस्वती, गगा और मदाकिनी मे ऋग्वैदिक सिन्धु को सम्पूर्ण भौतिक, आधिभौतिक एव आध्यात्मिक भाव आज भी आर्य-जगत् मे उसी प्रकार सुरक्षित है। आर्य जाति के सप्तसिन्धु इस उत्तरा खड की आध्यात्मिक परम्परा ऋग्वेद-काल से लेकर आज तक आर्यावर्त्त के समस्त भू-भागो मे सर्वविदित हैं। ऋग्वेद मे वर्णित उसकी भौगोलिक परिस्थिति एव जलवायु अपरिवर्तित है। सदियो स इस दुर्गम पर्वत प्रदेश मे उसकी देवनदियो के तटो पर, उसके पवित्र तीर्थों, प्रयागो की यात्रा करता हुआ, भारतवर्ष के प्रत्येक भू-भाग से लाखो तीर्थ-यात्रियो का जनसमूह इसका ज्वलन्त प्रमाण है। समस्त हिन्दू साहित्य, वेद और पुराण इस स्वर्ग-भूमि का स्तवन करते नही अघाते। इस पर्वत-प्रान्त की यातायात-सम्बन्धी अनेक विषमताओ के बावजूद, अनेक आर्य-ऋषियो ने आयावर्त्त के विभिन्न भू-भागो स यहाँ आकर ब्रह्मानद प्राप्त किया। आज भी अतिम समय गगा-जल पीकर प्रत्यक हिन्दू अपने को धन्य समझता है। आज भी हिन्दू-सन्तति सुदूर दशों से आकर हरिद्वार गगा जी मे अपने पितरो की भस्मी एव अस्थि-विसर्जन कर जीवन सफल समझती है। आज भी जो प्रत्येक हिन्दू यह कामना करता है कि वह 'गगातीरे हिमगिरि-शिलाबद्धपद्मासनस्य' कह कर जीवन-यापन करे, उसका कारण अपने इस पितृदेश के प्रति आर्यजाति का वह परम्परागत पूज्य भाव नही तो क्या है ?

आचार्य शकर ने सुदूर दक्षिण देश से पैदल चल कर दो बार बदरी-केदार

की यात्रा की और अन्त में ज्योतिर्मठ की स्थापना के बाद बत्तीस वर्ष की आयु में केदारक्षेत्र में आकर ही समाधिस्त हुए। केदारनाथ के मन्दिर के पीछे लगभग एक फर्लांग की दूरी पर उनका समाधिस्थल है (गढ़वाल गजेटियर्स, पृ० ५६)। उन्होंने व्यासतीर्थ में चार वर्ष तक रहकर 'ब्रह्मसूत्र', 'भगवद्गीता' और उपनिषदों पर विशद भाष्य लिखे। आर्य-मनीषियों द्वारा बार-बार इस अलंघ्य पर्वत-प्रदेश की इतनी असह्य कष्ट-साध्य यात्रा क्या अकारण, केवल मनोरंजनार्थ थी ? ऐसी आशा नहीं की जा सकती है।

कुछ लोगों का यह कथन है कि आचार्य शंकर द्वारा, ज्योतिर्मठ की स्थापना के बाद इस बदरी-केदार-क्षेत्र की आध्यात्मिकता की श्री-वृद्धि हुई है, निराधार है। स्वामी शंकराचार्य से पूर्व भी वैदिक काल से आर्य जाति द्वारा, बदरी-केदार का अविच्छिन्न यात्रा-क्रम जारी रहा है। प्राचीन काल में इस क्षेत्र की परम आध्यात्मिकता से प्रभावित जिन आर्य-ऋषियों ने यहाँ आकर तपस्या की और मोक्ष-लाभ किया उनका वेद और पुराणों में लिपिबद्ध वर्णन है। आचार्य शंकर से हजारों वर्ष पूर्व, ऋग्वैदिक ऋषि नर और नारायण यहीं निवास करते थे। हजारों ब्राह्मणविद्वानों एवं वेदज्ञ ऋषियों के साथ महर्षि वेद व्यास ने, वेद, 'महाभारत' और पुराण ग्रन्थों की यहीं रचना की थी। स्वयं आचार्य शंकर की यात्रा उसी प्राचीन आर्य-परम्पराओं का अनुकरण है। इस अलंघ्य हिम-आच्छादित पर्वत-प्रदेश में जीवन-यापन एवं यातायात की अनेक विघ्न-बाधाओं के बावजूद अंग्रेजी-राज्य में भी बदरीनाथ के यात्रियों की लिपिबद्ध संख्या केवल छह महीने की, ५० हजार से लेकर दो लाख तक थी। अंग्रेजी-राज्य के आरम्भ में—सन् १८२० में ट्रल साहब ने बदरीनाथ जाने वाले यात्रियों की संख्या सत्ताईस हजार बतलायी है, पौ साहब सन् १८८४ में अपनी 'सेटलमेंट रिपोर्ट' (पृष्ठ ७३) में लिखते हैं कि "बदरीनाथ के यात्रियों की संख्या ४० हजार से ५० हजार तक है, परन्तु जिस वर्ष हरिद्वार में कुम्भ का मेला लगता है, यात्रियों की संख्या एक लाख तक पहुँच जाती है।" स्मरण रहे कि यात्रियों की यह संख्या केवल छह महीने की है। क्योंकि छह महीने के बाद अत्यन्त हिमपात से ढक जाने के कारण उक्त यात्रा-मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। लिपिबद्ध यात्रियों के अतिरिक्त ऐसे भी अनेक यात्री होते हैं, जिनका लेखा-जोखा नहीं होता।

क्या यात्रियों की यह सर्वाधिक संख्या आर्यों के इस पितृदेश की असामान्य आध्यात्मिकता के प्रतिपादन के लिए पर्याप्त नहीं है ?

"महाप्रस्थानेर पथे" आदि प्रसिद्ध यात्रा-वर्णनों के लेखक बंगला के विख्यात साहित्यकार श्री प्रबोध कुमार सान्याल ('ज्ञानोदय' मार्च ६४)

लिखते है

"ब्रह्मपुरा जितना हिमालय का और कोई भी अचल भारतवासियो को प्रिय नही है, इसी मे यात्रियो के कल-कठ से ब्रह्मपुरा सदा मुखरित रहता है। इसीलिए आचार्य शकर की आध्यात्म प्रतिभा की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति यही हुई। उनके पहले भी युग-युगान्तर मे भारतीय जनता इस गगावतरण-पथ पर यात्रा करती रही है। भारत के लोग जुग-जुग यही कहते आये है कि ब्रह्मपुरा का जोड भारत में दूसरा कोई नही है।

देवतात्मा हिमालय के रहस्यलोक अलकापुरी को देखने के लिए मर्त्यलोक के तीर्थयात्री दौडे आते हैं। इस कडी चढाई के रास्ते मे कितनो ही की छाती फट गयी, कुछ साँस न ले सकने के कारण मर गये, कुछ बर्फ के अधड से हताहत हुए। कितने ही रोगपथ श्रम और उपवास न सह सकने से भी मर गये—इतिहास मे इनकी गिनती नही है, कही भी। फिर भी ब्रह्मपुरा के गगापथ के रम्य आकर्षण ने किसी भी युग के लोगो को स्थिर नही रहने दिया। दर्रे के अन्दर से दौडती उन्मादिनी गगा की दुरन्त धारा के समान ही उसी के किनारे-किनारे तीर्थ-यात्रियो की अजेय प्राण-धारा भी अनिवार गति से दौडती रही है। कभी आँधी, वर्षा, कडी सर्दी कुहरा, महासूर्य की आग बरसाने वाली तेज धूप से वे परेशान होते है, तो कभी ऋतुराज के नव घनश्याम वसन्तोत्सव से मुग्ध हो जाते है।

ब्रह्मपुरा के पथ पर आजकल भी तीर्थयात्री चलते है। प्यासे, थके-माँदे आँखो मे सपने सँजाये, उत्कठित, कौतूहल से गर्दन ऊँची किये चोटियो की कतारों-सा उनका कारवाँ चला जा रहा है। वे कभी भागीरथी के किनारे चलते है, तो कभी अलकनदा पर और कभी मदाकिनी, नदाकिनी और विष्णु गगा पर, कभी पिडर और नयार मे, तो कभी मूलगगा और नीलधारा मे पहुँचते है। कोई अपनी खोई हुई सस्कृति खोजने आया है, तो कोई जीवनज्वाला शान्त करने आया है। शायद, पति ने दूसरी बार शादी की है, इसलिए पहली पत्नी तीर्थ-यात्रा करने आयी है। सतान न होने से सारी सम्पत्ति रसातल जाने वाली है। बहुत बडे जमीन्दार सन्तान-कामना से आये है। ससार के किसी भी अखाडे में जगह नही मिली, गुसाइ जी वैष्णवी को साथ लेकर यात्रा पर निकले है। एकमात्र योग्य सन्तान की मृत्यु हो गयी है, रोती-कलपती माँ अपनी सारी वेदना को हिमालय मे प्रसारित करने आयी है। विश्वास-घातिनी नारी का मोह त्याग कर निराश प्रेमी दूर-दूरान्तर की ओर चल पडा है। सशयाच्छन्न दार्शनिक आत्मशुद्धि के लिए आया है, वैरागी आत्म-ताडना के लिए। इन सबके साथ चले ह घूमते-फिरते व्यापारी, फकीर एव बकने-झकने वाली स्त्रियाँ,

निष्ठावाली गृहिणी, नायक और नायिका, पंजाबी और दक्षिणी, गुजराती और मराठी, साधु और सन्यासी, कोई घर-द्वार छोड़कर आया है, कोई सुख-शय्या छोड़ कर आया है, तो किसी ने मोह-बंधन काट कर इधर की ओर कदम बढ़ाये हैं।

इतिहास की कोई तिथि तो नही मालूम, पर श्रुति और स्मृति के अतिरिक्त यह कोई नहीं जानता शायद कि विशाल भारत की राष्ट्र-संहति एव ऐक्य-साधना इसी ब्रह्मपुरा में शुरू हुई थी। पहले-पहल किसी को नहीं पता कि इसी ब्रह्मपुरा मे बैठकर महाकवि व्यास ने समग्र वेदशास्त्र को चार अंशों में विभाजित किया था। ब्रह्मपुरा वही आदिम कसौटी है, जिस पर युग-युग मे हिन्दू जाति के विभिन्न सम्प्रदाय विभिन्न अध्यात्मदर्शन, मतवाद और श्रद्धा-विश्वास कसे जाते रहे हैं। कन्याकुमारी से कश्मीर का कृष्णगिरि, द्वारका से ब्रह्मदेश, इस विस्तीर्ण अंचल को लेकर अखंड भारत का जो क्षुद्रमहादेश बनता है, वे सभी गंगापथ मे पहुँचते हैं। इसी ब्रह्मपुरा गढ़वाल में यहां के तपोवनो और मन्दिरो में सारे मत और सारे मार्ग मिल गये है। इसी गंगा-भागीरथी, अलकनंदा-मन्दाकिनी के किनारे-किनारे।"



जलप्लावन और मनु का शरणस्थल

विश्व इतिहास मे जलप्लावन

विश्व के प्राचीन ग्रन्थो मे जल-प्रलय का वर्णन आता है। कोई इसको अत्यधिक तुषारापात, कोई अति वर्षा और कोई समुद्री बाढ कहते है। भारतीय वाड्मय मे समुद्री बाढ, '**बाइबिल**' मे घोर वृष्टि और '**अवेस्ता**' मे अत्यधिक हिमपात इसका कारण बताया गया है। कुछ विद्वानो के कथनानुसार एक समय अटलांटिक महासागर द्वारा यूरोप और एशिया के पश्चिमी भाग, जो अत्यन्त समृद्धिशाली थे और जहाँ प्राचीन काल मे घनी मानव-बस्तियाँ थी, जलमग्न हो गये और उसका जो प्रलयकर प्रभाव तत्काल एशिया के पश्चिम देश-वासियो के जीवन पर पडा, वही प्राचीन-ग्रन्थो मे वर्णित जल-प्रलय है। परन्तु कुछ इतिहासकार भूमध्य-सागर के इर्द-गिर्द ही इस प्रलय का अनुमान करते है। उनका कहना है कि एक समय था, जब भूमध्य-सागर एक साधारण झील के रूप मे था। जिब्राल्टर के पास अटलांटिक महासागर का प्रवाह भूमि को तोड भूमध्य सागर की ओर बडे वेग से बढ गया, जिसके फलस्वरूप भूमध्य सागर की साधारण झील महासागर मे परिणत हो गई[1]। उनके मतानुसार इसी जल-प्रलय का '**बाइबिल**', '**कुरान**' और '**जेन्द अवेस्ता**' मे उल्लेख है। चाल्डिया के डैल्यूज-टेबलेट मे भी यह प्रलयकृत वर्णित है। यूनान, बैबिलोन और मिश्र के प्राचीन कथा साहित्य मे भी थोडा-बहुत अन्तर के साथ यह प्रलय-कथा प्रचलित है।

जलप्लावन की कथा का मूल स्रोत

इस प्रलय-वृत्त का परम्परागत मूल प्रेरणा-स्रोत विश्व के किस प्राचीन धर्म का आदि ग्रन्थ है, जहाँ से यह आख्यान ससम्मान उद्धृत होता हुआ चला गया, यह विचारणीय प्रश्न आर्य जाति के आदि देश के विवादास्पद शकाओ का भी समाधान प्रस्तुत करता है। इतिहासकारो का कथन है कि आर्य जाति का मूल-स्थान एक ही था। उनके पूर्वज जहाँ-जहाँ गये वे अपने साथ अपने हृदय-पटल पर अकित इस भयकर घटना की भी स्मृति ले गये, वही उनके प्राचीन साहित्य-ग्रन्थो मे सुरक्षित है। भाषा-साम्य एव अन्य मौलिक एकताओ के कारण उक्त विद्वानो का यह अनुमान निराधार भी नही है, परन्तु यूरोपीय इतिहासकारो की

१—पिता के पत्र पुत्री के नाम—नेहरू जी

यह घोषणा कि मध्य यूरोप अथवा मध्य एशिया से आर्यों का अभियान पूर्व की ओर अग्रसर हुआ और वह भारतवर्ष पहुँचा, युक्ति संगत नहीं।

लोकमान्य तिलक 'आर्कटिक होम इन दि वेदास' (पृष्ठ ३८७) में भी लिखते हैं कि जिस जलप्लावन की कथा 'शतपथ ब्राह्मण' के समान प्राचीन ग्रन्थ में मिलती है उसका समय ईसा पूर्व २५०० वर्ष का अनुमान किया जाता है। क्योकि उक्त ग्रन्थ से यह बात स्पष्ट होती है कि तब कृतिकाएँ पूर्व में उदय होती थी। अत यह तथ्य निर्विवाद है कि यह प्रलय-वृत्त आर्यों द्वारा सर्वप्रथम वर्णित है और ऐसी दशा में 'अवेस्ता' और वैदिक ग्रन्थो मे जलप्लावन का जो विवरण है, उसका आदि स्रोत वैदिक ग्रन्थो मे ढूंढना उचित है।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय मे अनेक स्थलो पर उक्त प्रलयवृत्त वर्णित हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थो मे सबसे प्राचीन 'शतपथ ब्राह्मण' है जो ईसवी पूर्व २५०० की रचना मानी जाती है। 'शतपथ' (१।८।६) के अनुसार प्रलय के दिन सातवें मनु ने, जिन्हे वैवस्वत मनु भी कहा गया है, मत्स्य भगवान् के आदेशानुसार हिमवान पर्वत के उत्तर-गिरि-प्रदेश मे मनोरवसर्पणम् स्थान पर प्रलय-जल से त्राण पाने के लिए, एक वृक्ष पर अपनी नाव बांधी। मत्स्य ने फिर मनु से कहा। मैंने तुम्हारी रक्षा कर दी, वृक्ष पर नाव बाँध दो, परन्तु पर्वत पर निवास-काल में तुम्हारा सम्बन्ध जल से छूटने न पाये। ज्यो-ज्यो जल नीचे उतरेगा त्यो-त्यो तुम भी नीचे उतर सकते हो।'

'अथर्ववेद' (१६।३६।८), 'महाभारत' (वन पर्व, अ० १८७), 'अग्निपुराण' (२।४।१५), 'मत्स्यपुराण' (२।१६।१६) और 'श्रीमद्भागवत' (८।२४) मे जल-प्लावन की कथा इसी प्रकार है। वैवस्वत मनु ने मत्स्य के निर्देशानुसार प्रलय के दिन नाव मे बीजादि रखकर सप्तर्षियो के साथ, ब्राह्मी-निशा मे, हिमवान के उत्तर-गिरि-प्रदेश मे जिस शिखर पर नाव बाँधी उसको 'शतपथ ब्राह्मण' मे 'मनोरवसर्पण,' 'महाभारत' और पुराणो मे 'नौ बधन' और अथर्ववेद' में 'नाव-प्रभ्रशन' कहा गया है। 'शत-पथ' मे 'मनोरवसर्पण' स्थान पर नौका को वृक्ष पर (पर्वत-शिखर पर नही) बाँधने का उल्लेख है। 'अग्निपुराण' मे भी उक्त प्रलय-विवरण दिया गया है।

फारसी धर्मग्रन्थ 'जेन्दअवेस्ता' के अनुसार प्रलय के दिन अहुरमज्द ने कहा "हे विघनघत के पुत्र यिम! (विवस्वान के पुत्र यम) भौतिक विश्व मे अब भयंकर शीत पडने वाली है, अत्यधिक हिमपात होगा जिससे समस्त वन-पर्वत और निम्न स्थानो के निवासी और पशु नष्ट हो जायेंगे। अत तुम जाकर एक बाड़ा बनाओ और उसमें मनुष्य, पशु, पक्षी तथा अन्य सभी प्रकार के वृक्षों के थोडे-थोडे बीज रखो।" इसी प्रकार ईसाइयो के धर्म-ग्रन्थ 'बाइबिल' में भी लिखा

है कि ईश्वर के आदेशानुसार हजरत नूह (मनु) ने नाव में अपने परिवार के सात सदस्यों (सप्तर्षियों) और सभी जीवों का एक-एक जोड़ा रखा। चालीस दिन और रात निरन्तर मूसलाधार वर्षा से पृथ्वी, समुद्र और आकाश जलमग्न हो गये। चालीस दिन के बाद वर्षा थमी और नूह की किश्ती अरारात-पर्वत-शिखर पर ठहर गयी।

यूनान के प्राचीन इतिहास में भी लिखा है कि जब लिकाओन के पचास राक्षस-पुत्रों के पाप से पृथ्वी भर गयी तो जिअस ने क्रोधित होकर जल-प्रलय उत्पन्न कर दिया। नौ दिन-रात तक अविराम भयंकर जल-वृष्टि से समस्त यूनान जल-मग्न हो गया। शरणार्थियों ने सबसे ऊँचे पर्वत-शिखरों पर, जो डूबने से बचे हुए थे, शरण ली। ड्यूकालियन को उसके पिता ने पहले से जलप्लावन की सूचना देकर सावधान कर दिया था। इसलिए उसने एक बड़ी नाव में बैठ कर नौ दिन-रात इधर-उधर चक्कर काटते हुए परनास पर्वत-शिखर पर आश्रय लिया।

मनु और जलप्लावन

जलप्लावन की घटना का मुख्य नायक वैवस्वत मनु है। विश्व के आर्य एवं आर्येतर धर्म-ग्रन्थों में मनु कई नामों से विख्यात है। कई विद्वानों के कथनानुसार मिश्र देश के प्रथम नरेश मेनीज और क्रीट-डीप सम्राटों की संज्ञा 'मैनोम' का उत्पत्ति-स्रोत मनु है। 'बाइबिल' और 'कुरान' में उसको ही आदम 'आदिम' आदमी अर्थात् आदि मनु कहा गया है। अंग्रेजी का 'मैन' शब्द भी मनु का ही अपभ्रंश है। मनु शब्द 'मनुज' की आदि उत्पत्ति का बोधक है। 'मनु' किस प्राचीन साहित्य की मौलिक देन है, यह जानने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि प्राचीन भारतीय वाङ्मय में मनु का जितना विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है उतना विश्व के अन्य धर्म-ग्रन्थों में नहीं। मनु मानव सृष्टि का प्रवर्तक, आदि पुरुष, समस्त मानव जाति के पिता माने जाते हैं (ऋ० १।८०।१६, ११४।२, २।३३।१३, ८।६३।१)। ऋग्वेद में बीस बार मनु का नाम आया है। वहाँ सर्वत्र इन्हें आदि पुरुष मानव जाति का पिता कहा गया है। सर्वप्रथम स्वायम्भुव मनु हुए। उनके बाद छः बार जलप्लावन हुआ, जिसमें सृष्टि विनष्ट होती गयी। शायद प्रलय कथा कहने के लिए दो-चार मनुष्य ही शेष जीवित रह सके। प्रत्येक मन्वन्तर में सृष्टि का आदि पुरुष 'मनु' नाम से प्रसिद्ध हुआ। पुराणों में इनकी वंशावली मिलती है, परन्तु वैवस्वत मनु के अतिरिक्त, उनसे पूर्व के अन्य मनुओं का सम्पूर्ण जीवन-वृत्त नहीं मिलता, जिनके जीवन काल में वैवस्वत मनु से, हजारों वर्ष पूर्व छह मन्वन्तर व्यतीत हो चुके थे।

छह बार प्रलय होने के बाद, वैवस्वत मनु हुए जो प्रलयोत्तर कालीन मानव समाज के आदि पुरुष माने जाते हैं एवं पुराणों मे निर्दिष्ट सारे राजवंश इन्हीं से प्रारम्भ होते हैं । वैदिक काल के प्रारम्भ मे उन्हे यम भी कहा गया है । कुछ इतिहासकारों ने मनु वैवस्वत का राज्यकाल ईसा पूर्व ३११० वर्ष माना है । बैबिलोन साहित्य में निर्दिष्ट मेसोपोटामिया के जल-प्रयल का समय भी ईसा पूर्व ३१०० वर्ष माना जाता है । 'शतपथ ब्राह्मण' मे वर्णित मनु वैवस्वत का जल-प्रलय भी इसी समय मे हुआ था । मनु सरस्वती नदी के तट पर रहते थे (प्राचीन चरित्र कोश, पृ० ६०५, ६११, ६१२) । इस प्रकार केवल वैवस्वत मनु के जीवन काल के आधार पर आर्य जाति की प्राचीनता का अनुमान तर्क संगत नही है । वैवस्वत मनु से पूर्व उत्पन्न मनुओ के सम्बन्ध मे भी इतिहासकारो के अनुमान अविवादास्पद हैं, इसमे सन्देह है ।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय मे आठ मनुओ, मन्वन्तरो का उल्लेख है । प्रत्येक मन्वन्तर आर्य-नरेश मनु से आरम्भ हुआ है प्रथम मनु स्वायम्भुव के समय मे पीढियों तक समस्त क्षेत्र में एक ही व्यवस्था रही, जिसका नियमन प्रजापतियो द्वारा होता रहा । पाँचवी पीढ़ी मे व्यवस्था मे बाधा उत्पन्न हुई और आर्यों का विशाल संगठन छिन्न-भिन्न होने लगा । २६वी से ३५वी पीढ़ी तक के प्रजापतियों के नाम भी पुराणो मे नही मिलते । इसके पश्चात् प्रियव्रत शाखा समाप्त हुई और उत्तानपाद शाखा के चाक्षुष को मनु पद प्राप्त हुआ । चाक्षुष के पुत्रो, उर और पुर ने सुमेर मे अपने नाम पर दो नगर बसाये । पुर को बिलोचिस्तान मे 'पहरा' नामक गाँव के पास कहा जाता है । सिकन्दर के साथ आने वाले इतिहासकारो ने उर से पुर तक की ६० दिन की यात्रा बतायी है ।

चाक्षुस मनु से ३५ पीढी पहले लगभग ४२८६ ई० पू० पुराणो के अनुसार आर्यो का सगठन भूमध्यसागर तक फैल चुका था। सुषा और किश (बैबिलोनिया) और सुमेरियन-सम्यता आर्य-सम्यता के प्रधान केन्द्र बन चुके थे ।

सिन्धु से सुमेर तक प्राचीन काल मे एक ही सम्यता थी और इसकी प्रवर्तक मूल जाति भी एक ही थी । ३३००ई० पू० के लगभग इसी क्षेत्र के समीप पुर नामक नगर बसाया गया था । जिसका सम्बन्ध सुमेर के उर नामक नगर से बराबर रहा । ये दोनो नगर उत्तानपाद शाखा के चाक्षुस मनु के पुत्रो के नाम पर बसाये गये थे । फ्रांसीसी विद्वान् एम० लूई जैकोलियट **'बाइबिल इन इंडिया'** में लिखते हैं

हम भारत के शब्द-शास्त्रियो के समक्ष उनके परिश्रम के लिए आभारी हैं क्योंकि हमारे वर्तमान भाषा-शब्दो के मूल और उनको धातुओ का परिचय प्राचीन भारतीय साहित्य में मिलता है । मिस्री, हिब्रू, ग्रीक और रोमन कानूनो

पर मनु का प्रभाव स्पष्ट है।

भारतीय वाङ्मय में वर्णित मन्वन्तरो मे आज तक प्रथम स्वाम्यभुव, द्वितीय स्वारोचिष, तृतीय उत्तम, चतुर्थ तामस, पचम रैवत, षष्ठ चाक्षुष और सप्तम वैवस्वत नाम के सात मनु और सात मन्वन्तर हो चुके हैं। स्वायम्भुव मनु को मानव का आदि पुरुष, राज्य-व्यवस्था का प्रथम प्रवर्तक एव धर्म का प्रथम सस्थापक कहा गया है। 'बाइबिल' और 'कुरान' में इन्हे ही 'आदम' कहकर स्मरण किया गया है। स्वायम्भुव मनु ही प्रथम आर्य नरेश थे, जिन्होने विश्व मे मानव-स्वभाव के नैसर्गिक भेदो के अनुसार, उनके गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर विभिन्न वर्णों मे समन्वयात्मक सतुलन के निमित्त 'मनुस्मृति' द्वारा सर्व प्रथम प्रजातत्रात्मक वर्ण-व्यवस्था स्थापित की। 'मनुस्मृति' के रूप मे मनु की वह धर्म-व्यवस्था आज भी हिन्दू साहित्य मे पूर्णत सुरक्षित है।

स्वायम्भुव मनु के समय भी उत्तर भारत के तराई क्षेत्र मे समुद्र था। अत स्वायम्भुव मनु का निवास-स्थान भी उसके ऊपरी भाग शिवालिक पर्वत-माला के आस-पास के क्षेत्र में ही निश्चित है। स्वायम्भुव मनु के साथ जिन सप्तर्षियो का उल्लेख है, उनके आश्रम वेद और पुराणो के कथनानुसार हरिद्वार के पास हिमालय के इसी पर्वत-प्रदेश मे थे।

वैवस्वत मनु

भारतीय साहित्य म इस जलप्लावन की घटना के साथ जिस मनु का सम्बन्ध है वे सप्तम मनु है। सप्तम मन्वन्तर को आरम्भ हुए भारतीय काल-गणनानुसार १२०५३३०६३ वर्ष हो चुके है। सप्तम मनु विवस्वान के पुत्र थे (ऋ० १०।१४।१, ऋ० १०।५८।१, ऋ० १०।६०।१०)। इसलिए उन्हें वैवस्वत मनु भी कहा जाता है। उनको यम, धर्म, गन्धर्व भी कहते है (ऋ० १०।५३।५३)। वे दक्ष-कन्या श्रद्धा के पति थे, इसलिए उनका उप नाम श्रद्धादेव भी है।

मनु को 'जेन्दअवेस्ता' मे विघनघत एव विवह्वान यिम और वैवल और 'कुरान' मे नूह (मनु) कहा गया है। 'जेन्दअवेस्ता' मे यिम को भी आदि मनु की ही भाँति आदि पुरुष, प्रथम नरेश और सामाजिक व्यवस्था का प्रथम सस्थापक कहा है। वैवल के नूह के साथ उसके परिवार के जिन सात सदस्यो का उल्लेख है वे आर्य-साहित्य मे वर्णित सप्तर्षि है। ऋग्वेद (१०।१४।१५) में मनु को स्पष्टत यम और विवस्वान् का पुत्र कहा गया है।

मनु ऋग्वेद के मत्र-द्रष्टा ऋषि है। वे ऋग्वेद १०।१५, एव आठवें मण्डल के २७, २८, २९, ३० और ३१ सूक्तो के रचयिता हैं। उनका राज्य हरिद्वार से ऊपर समस्त पर्वत-प्रदेश मे था, जो सप्तसिन्धु देश कहलाता था। हरिद्वार से नीचे

तराई-भावर मे समुद्र लहराता था। उनकी राजधानी सप्तसिन्धु के दक्षिण में कनखल के आस-पास कहीं थी। जलप्लावन के अवसर पर प्रलय से त्राण पाने के लिए वे सप्तर्षियों एवं विशिष्ट व्यक्तियों सहित नाव में बैठकर दक्षिण-गिरि-प्रदेश से उत्तर-गिरि की ओर भागे। बदरीनाथ के निकट, सरस्वती और अलकनन्दा के तटवर्ती क्षेत्र में किसी पर्वत-शिखर पर उन्होंने अपनी नाव बाँध दी। लगभग सौ वर्ष से अधिक समय तक सरस्वती, अलकनन्दा और मदाकिनी नदियों का यह तटवर्ती क्षेत्र जो प्रलयजल से ऊपर रह गया था और जिसका पुराणों में ब्रह्मावर्त्त नाम से उल्लेख किया गया, उनका क्रीडास्थल रहा। ऋग्वेद (६।११३।८) के कथनानुसार स्वर्ग के, उत्तम लोक म जहाँ मदाकिनी आदि नदियाँ बहती है, मनु का आश्रम-स्थल था। पुराणों ने हरिद्वार से ऊपर की भूमि को ही स्वर्ग कहा है। अलकनन्दा के इसी उत्तरी क्षेत्र मे मनु-पुत्री इला (ऋ० २।३५।५, १०।६५।१०) मनु-पुत्र 'सुद्युम्न' के नाम से रहती थी। उससे चन्द्रमा के पुत्र बुध ने चन्द्रवश के प्रवर्तक राजा पुरूरवा को जन्म दिया। चन्द्रवशी राजाओं की राजधानी चान्दपुर (चन्द्रपुर) थी जहाँ प्राचीन गढके अवशेष आज तक सुरक्षित हैं। चन्द्रमा के पुत्र बुध, बुध-अयन (बधाण) मे और पुरूरवा अलकनन्दा के तटवर्ती गन्धमादन क्षेत्र मे रहते थे।

'बाइबिल' और 'कुरान' मे हजरत नूह की किश्ती नूह के परिवार के सात सदस्यो के सहित जहाँ अरारात पर्वत-शिखर पर ठहर जाती ह, वहाँ भारतीय साहित्य मे मनु की नाव सप्तर्षियो सहित हिमालय पर, जो ससार का सर्वोच्च शैल-शिखर है, ठहरती है। प्रलय मे नगण्य अरारात पर्वत के समक्ष हिमालय की सर्व विदित सर्वोच्चता वास्तविक भौगोलिक तथ्यो से भी प्रमाणित है। इससे भारतीय साहित्य जल-प्रलय की कथा का मूल स्रोत स्वय सिद्ध है। 'बाइबिल' मे हजरत नूह और उसके परिवार के सात सदस्यो का अत्यत सक्षिप्त जीवन-कृत भी भारतीय साहित्य मे वर्णित मनु और सप्तर्षियो के विस्तृत जीवन-वृत के समक्ष जलप्लावन की घटना के वास्तविक स्रोत को स्पष्ट कर देता है। अत यह स्पष्ट है कि ससार के सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद से यह घटना 'शतपथ' और पुराणो मे होती हुई 'जेन्दअवेस्ता', 'पजनामा', यहूदी और ईसाई धर्म-ग्रन्थ 'बाइबिल' और 'कुरान' मे जा पहुँची है।

मिस्री संस्कृति के प्राचीन ध्वसावशेषो पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट है। उनकी भाषा, नगरो और देवताओ पर भारतीय छाप है। उनकी नील नदी नीले पर्वत से निकलने के कारण नील कहलायी। वे शीतकाल को शीत कहते हैं। उनका राजा हरिहोर (हरिहर महादेव) के उष्णीश पर नाग-चिह्न विराजमान है। 'होर' का नेत्र भी मिस्री साहित्य मे प्रसिद्ध है। उनका एक देवता यम भी है।

भारतीय बौद्ध स्तूपो की भाँति मिस्र मे भी मृतको की स्मृति में विशालकाय स्तूप बनाने की प्रथा थी। वे पुनर्जन्म और आत्मा के आवागमन पर विश्वास करते थे। उनके भित्तिचित्रो एव मृतको के ताबूतो पर भारतीय वस्त्रो जैसे पहिनाव एव रूपरगो के चित्र चित्रित हैं। उनका सबसे बडा देवता सूर्य था। वे प्रात. सायं सूर्य की उपासना करते थे। उनके प्राचीन निवासी भी भारतवासियो की भाँति सूर्यवशी और चन्द्रवशियो मे विभाजित थे। मोम्फस या होलियोपोलिस के पेरो सूर्यवशी और हृक्रियोपोलिस के चन्द्रवशी थे।

मिस्री सम्वत् उनके प्रथम नरेश मीनस (मनु) से प्रारम्भ होता है। सिकन्दर के समय तक उसको २५,३०० वर्ष व्यतीत हो चुके थे। इस हिसाब मे इस समय मिस्री सम्वत् २७,६१६ है।

श्री स्वामी करपात्री जी अपने ग्रन्थ '**मार्क्सवाद और रामराज्य**' (पृष्ठ १९७–९८) मे लिखते है

"वस्तुत नूह का तूफान वैवस्वत की मछली वाली कथा का अनुवाद है। नूह के पुत्र हेम की सन्तति जो मिश्र मे रहती है, अपना सम्बन्ध राजा मनु से बतलाती ह और अपने को सूर्यवशी कहती है तथा मनु वैवस्वत के मूल विवस्वान सूर्य को अपना इष्ट समझती है। इन्ही मिश्र वालो की ही सन्तति अमेरिका के मूल निवासी बतलाये जाते हे। × × × '**बाइबिल**' मे बतलायी हुई नूह की पीढियाँ काल्पनिक है। मनु को वैवस्वत कहा जाता ह। विवस्वान सूर्य है। हजरत नूह के दो पुत्र हेम और सेम सूर्यवश और चन्द्रवश ही है। हेमगर्भ (हिरण्यगर्भ) सूर्यवश का ही बोधक है और सेम (सोम) चन्द्रवश का बोधक है। सूर्यवशियो की पुत्री इला से ही सोमवश की उत्पत्ति हुई है।"

सुमेरी बाबुली सभ्यता के नगर—कीश एश्नुन्नर, ऊर निप्पुर मे यूरोपीय विद्वानो ने जब खुदाई की, तो उन्हे वहाँ पुरानी ईंटो मे अकित यह प्रलयवृत्त मिला। उन्होने अपनी इस खोज मे प्राप्त सुमेरी-बाबुली सभ्यता के अवशेषो का विश्व की सबसे प्राचीन सभ्यता के स्मारक घोषित किया है, परन्तु, "उन्हें इसका गुमान भी नही था कि भारत मे, सिन्धु नदी के तीर उन्ही नगरो से अधिक प्राचीन और अधिक समृद्ध, सुसम्कृत और शिष्ठ जीवन बिता रहे हैं। सुमेर और बाबुल के नगर नागरिक होते हुए भी कितने गँवार हैं, इस का पता सिन्धु नदी के तीर के नगरो मोहनजोदडो आदि के खडहरो पर दृष्टि डालने मे साबित हो जाएगा।"

फारसियो के धर्म-ग्रन्थो के अनुसार आर्यों का आदि देश भयकर हिमपात से आच्छादित बताया गया है। ऋग्वेद मे भी आर्यों के मूल-स्थान मे अत्यधिक हिम-पात का वर्णन आता है। इसी अनुमान के आधार पर लोकमान्य तिलक ने आर्यों

के मूल स्थान के सम्बन्ध मे उत्तरी ध्रुव की कल्पना की है। गृह-नक्षत्रादि की परिस्थितियो के आधार पर स्थापित उनकी अनेक मान्यताएँ विद्वानों द्वारा अमान्य प्रमाणित हो चुकी हैं, परन्तु आर्यों के आदि देश की जलवायु के सम्बन्ध मे भी उनका अनुमान निराधार है।

कामेट-पर्वत (२५००० फुट) के निकट, सरस्वती के तटवर्ती क्षेत्र मे माना गाँव के आस-पास ऋग्वेद और 'शतपथ' मे वर्णित मनु का देव माना अथवा मनोरवसर्पणम् स्थल होना चाहिए। माना-शिखर २४००० फीट ऊँचा है। एवरेस्ट के बाद यहदूसरा सर्वोच्च शैल शिखर है, जहाँ ध्रुवकक्षीय जलवायु है। इस क्षेत्र का अधिकाश भाग आज भी अत्यधिक हिमपात के कारण जाडो में छह महीने के लिए मानव-शून्य हो जाता है। यहाँ ऋग्वेद (१।१६४।४४) के अनुसार केवल दो ही ऋतुओ मे मानव-निवास सम्भव है। तीसरी ऋतु हेमन्त मे यहाँ के निवासी ऊँचे स्थानो से कुछ नीची उष्ण उपत्यकाओ मे उतर आते हैं।

'अवेस्ता' मे वर्णित हिमपात और 'शतपथ' के जलप्लावन के वर्णन से जल-वृष्टि या बाढ का अनुमान किया जाता है। यद्यपि जिन विशेष भौगर्भिक उपद्रवो के कारण समुद्र मे अप्रत्याशित प्रलयकर बाढ आ सकती है, उन्ही भौतिक विप्लवो के कारण समुद्री-बाढ के बाद आर्यो के निवास-स्थान मे अत्यधिक हिमपात की आकस्मिक दुर्घटना भी असम्भव नही है। गर्मियो मे भी जब लोग यहाँ रहते है, इस पर्वत-क्षेत्र मे कभी-कभी इतना अधिक हिमपात हो जाता है, जिसकी सदियो तक कोई मिसाल नही मिलती। रूपकुण्ड* के आस-पास बिखरे हुए स्त्री-पुरुषो के हजारो अस्थि-पजर उस अप्रत्याशित हिमपात का ज्वलन्त प्रमाण है। इससे 'अवेस्ता' मे वर्णित लोकमान्य के उस कथन की कि भयकर हिमपात के कारण उत्तरी ध्रुव ढक गया, आर्यों का स्वर्ग नष्ट हो गया, तो वे उसको त्याग कर अन्यत्र जा बसे, की भी पुष्टि होती है।

---

* रूपकुड—उत्तरी गढवाल मे १६००० फुट की ऊँचाई पर बेदनी बुग्याल (जिस क्षेत्र में किम्वदन्ती के अनुसार अधिकाश वेद-मत्रो की रचना हुई है) से तीन मील ऊपर लगभग ४५० फु० के क्षेत्रफल की एक छह फुट गहरी ऐसी आश्चर्य-जनक झील है, जहाँ सन् १८९८ मे विदित हुआ कि सैकडो मानव-पिंजर उसके इधर-उधर बिखरे पडे हैं। कुमाऊँनी लोग इसको 'रुद्रकुड' कहते है। ओकले ने इसको 'रुद्र की विनाशक शक्तियो का क्षेत्र' कहा है। यहाँ यात्री लोग जूते नही ले जाते। कोई इन मनुष्य-शवो का सम्बन्ध कश्मीर सेनापति जोरावरसिंह से जो १८४१ में सेना-सहित तिब्बतियों द्वारा युद्ध मे मारे गये थे, बताते है, परन्तु स्त्री-शवो के अस्तित्व से उनका अनुमान सही नही है।

मजूमदार (लखनऊ युनिवर्सिटी) के कथनानुसार ये अस्थियां ६०० वर्ष पूर्व की हैं और उत्तर प्रदेश के मनुष्यों की हैं। जो तिब्बत मार्ग में आकस्मिक दुर्घटना के कारण मर गये थे। जे० बी० ग्रिफिन डाइरेक्टर म्यूजियम ऑव ऑन्थ्रोपोलोजी मिशियन युनिवर्सिटी, फोनिक्स ने मजूमदार का समर्थन किया है, परन्तु दत्त मजूमदार एक अन्य शरीर-शास्त्री इसे स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि ये मानव-शव बड़ी-जात उत्सव (जो स्थानीय लोगों द्वारा उस क्षेत्र में मनाया जाता है) के यात्रियों के हैं। स्वामी प्रणवानन्द ने तीन-चार बार इस क्षेत्र की यात्रा की है। उनके मतानुसार कन्नौज-नरेश यशोधवल और उसकी महारानी वल्लभा गढ़वाल के राजा चाँदपुर गढ़ की राजकुमारी थी। वे दोनों अपने स्नेहियों के साथ लगभग १४वीं शताब्दी के मध्य में, 'बड़ी जात' की यात्रा को गये थे, जो आकस्मिक हिमपात के कारण वहीं दबकर मर गये, क्योंकि स्थानीय लोक गाथाओं के अनुसार उन्होंने वहाँ स्त्रियों को ले जाकर वहाँ के परम्परागत प्रतिबन्धों को भंग कर दिया था।

संस्कृत में भी प्रलय, तुषार, पाला एवं हिम का बोधक है। पाणिनि ने (७।३।२) इस शब्द का अर्थ जल-प्रलय किया है। भारतीय साहित्य में उक्त प्रलय को स्पष्टतः समुद्री बाढ़ कहा गया है। पृथ्वी और समुद्र-गर्भ से निरन्तर अनेक भौगर्भिक परिवर्तनों का क्रम जारी है। भूगर्भ-शास्त्रियों के कथनानुसार इतिहास के प्रारम्भिक युगों में उपद्रव अधिक मात्रा में होते रहे हैं। विश्व-इतिहास में विशेषकर समुद्र के तटवर्ती भागों में ऐसे आकस्मिक भू-कम्पों एवं समुद्री बाढ़ों के अनेक प्रमाण मिलते हैं, जिनके कारण समय-समय पर सम्बन्धित क्षेत्रों में लोगों को अपार जन-धन की क्षति उठानी पड़ी है। आर्यावर्त्त के अस्तित्व में आने से पूर्व, हरिद्वार से नीचे, विन्ध्याचल पर्वत तक उस युग में जो समुद्र था, उसमें भी समय-समय पर अनेक बार भौगर्भिक उथल-पुथल होती रही है, जिस की सात आकस्मिक प्रलय बाढ़ों का आर्य-साहित्य में वर्णन आता है। भूगर्भ-शास्त्र के अनुसन्धानों के आधार पर श्री अविनाशचन्द्र दास 'ऋग्वेदिक इंडिया' में कहते हैं कि "भारतीय कथा उस समय की है जब सप्तसिंधव के दक्षिणी प्रदेश का नक्शा बदला, ऐसे भौगोलिक उपद्रव हुए जिनमें दक्षिण की ओर का समुद्र-तल ऊपर उठा। उसके ऊपर उठने से राजपूताने की मरुभूमि बनी। जब समुद्र-तल ऊपर उठा तो समुद्र का जल सप्तसिंधव पर टूट पड़ा होगा। बहुत ऊँची जगहों को छोड़कर एक बार सर्वत्र जल ही जल हो गया होगा। इसीलिए कहा गया है कि मत्स्य, मनु को उत्तर गिरि की ओर ले गया। उत्तर में हिमालय की ऊँची चोटियाँ हैं जहाँ रक्षा हो सकती थी। यदि ऐर्य्यन वेइजो (जैसा लोकमान्य तिलक का मत है) कहीं ध्रुव-देश में था और यह घटना उसमें घटित

हुई तो वहाँ कोई उत्तर-गिरि है ही नहीं। उत्तर-गिरि की ओर जाने में यह भी संकेत है कि मनु कहीं दक्षिण की ओर से गये थे। दूसरी पुस्तकों में ऐसा उल्लेख आता है कि मनु का आश्रम कहीं सरस्वती के तट पर था।"

'**केदारखण्ड**' में लिखा है कि हरिद्वार क्षेत्र मे गङ्गा के पश्चिम तट पर, कुशावर्त के नीचे सप्तसामुद्रिक नामक पवित्र तीर्थ है। प्राचीन काल में इस स्थान पर सप्तसमुद्रो ने मिलकर शिव की आराधना की थी '**केदारखण्ड**' के दो स्थानो (१२१।१८) मे इस सप्त सामुद्रिक तीर्थ के उल्लेख से यह प्रमाणित होता है कि प्राचीन काल से यहाँ तक समुद्र था।

हम इससे पूर्व लिख चुके हैं कि शिवालिक पर्वत माल के नीचे तराई भावर मे जब समुद्र लहरा रहा था उस युग मे पुराणो के कथनानुसार हरिद्वार के निकट सर्वप्रथम अमैथुनी सृष्टि से उत्पन्न आर्य-नरेश दक्ष प्रजापति (जिनकी राजधानी कनखल थी) की २७ पुत्रियो, दिति-अदिति आदि से कश्यप-ऋषि द्वारा मानव-सृष्टि आरम्भ हुई। दिति के पुत्र दैत्य और अदिति के आदित्य कहलाये, परन्तु पिता सबका कश्यप था जो हरिद्वार मे ही रहते थे। इसीलिए इस क्षेत्र की प्राचीनता के सम्बन्ध मे भगवान् कहते है—"जैसे मैं सबसे प्राचीन हूँ, उसी प्रकार यह केदार-क्षेत्र भी प्राचीन है। जब मैं ब्रह्म-मूर्ति धारण कर सृष्टि-रचना मे प्रवृत्त हुआ तब मैंने इसी क्षेत्र मे सर्व प्रथम सृष्टि-रचना की (केदार० ४०।५)।

भूगर्भ-वेत्ताओ द्वारा भी पुराणो के इस कथन की पुष्टि होती है। उनके कथनानुसार शिवालिक पर्वत क्षेत्र ही विश्व का वह प्राचीन भू-खण्ड है, जहाँ मानव-सृष्टि का क्रमिक विकास हुआ है। इसी क्षेत्र मे—शिव पिथेक्स और पोलिओ पिथेक्स नामक मनुष्यवत् बन्दरो के प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए है, जो सम्भवत मानव जाति के पूवजो से सम्बद्ध थे। मध्य हिमालय का यह क्षेत्र ही सर्व प्रथम समुद्र-गर्भ से बाहर निकला। इस क्षेत्र की सम-शीतोष्ण जलवायु मे ही वनस्पति-विशेषज्ञो के कथनानुसार सव प्रथम वनस्पति भी उत्पन्न हुई थी*।

हरिद्वार-ऋषिकेश से लेकर कोटद्वार-कण्वाश्रम से आगे, तराई-भावर के समुद्र से ऊपर शिवालिक पर्वत-पार्श्व की समस्त तटवर्ती उपत्यका मे उस प्राचीन आर्य वस्तियो के अधिकाश भग्नावशेष जल-प्रलय के बावजूद सुरक्षित हैं। इसी क्षेत्र मे ऋग्वैदिक सभ्यता एव सस्कृति पल्लवित हुई। स्वायभुव मनु से लेकर सप्तम वैवस्वत मनु तक यह पावन क्षेत्र ऋग्वैदिक आर्यों का क्रीडास्थल रहा है।

---

* कनिंघम—आर्क्यालौजिकल रिपोर्ट, भाग २, २८८।

ज्ञात होता है कि जलप्लावन से पूर्व ऋग्वैदिक आर्यों द्वारा हरिद्वार से ऊपर कैलाश पर्वत एवं मानसरोवर तक इस समस्त भू-भाग को सप्तसिन्धु और जल-प्लावन के बाद, सप्तसिन्धु के दक्षिण में छः-सात सौ फीट तक ऊँचे पर्वत क्षेत्रों को छोड़कर उत्तर-गिरि का शेष भूमि भाग, जो बरसों तक समुद्री बाढ़ से ऊपर रह गया था और जहाँ वैवस्वत मनु का राज्य था, ब्रह्मावर्त्त कहलाता था। इसी क्षेत्र को वैदिक भाषा में चन्द्रबुध्न (चाँदपुर), अहिर्बुध्न (नागपुर) और बुध्न (बधान) भी कहा गया है। जलप्लावन से पूर्व जब दक्षिण गिरि प्रदेश में हरिद्वार एवं कनखल के आस-पास वैवस्वत मनु की राजधानी थी, उन दिनों यह क्षेत्र अनेक अप्रभावित भौतिक-विप्लवों का केन्द्र-स्थल था। किसी भौतिक विप्लव के कारण तराई-भावर का समुद्र धीरे-धीरे ऊपर उठने लगा। मनु को कुछ समय पूर्व इसका आभास भी हो गया था और उससे त्राण पाने के लिये वे यथा-उचित तैयारियाँ भी कर चुके थे। समुद्र के निकट निवासी होने के कारण वे कुशल नाविक थे ही। ज्यों-ज्यों तराई-भावर की इस प्रलयकर समुद्री बाढ़ द्वारा दक्षिण गिरि-प्रदेश जलमग्न होने लगा, तो उससे त्राण पाने के लिये व्यग्र मनु अपने समर्थ सहायकों के साथ नाव में बैठ कर, अधिक उन्नत स्थानों की खोज में उत्तर गिरि की ओर दौड़ पड़े। उत्तर गिरि में असुरोपासक आर्यों का शासन था। जो उनके ही भाई-बन्द एवं सजातीय थे। उस समय हिमवन्त का यह गिरि-प्रदेश उत्तरगिरि, अन्तर्गिरि और दक्षिणगिरि नामक तीन भागों में विभाजित था। 'महाभारत' (भीष्म पर्व ६।४६), 'शतपथ ब्राह्मण' में वर्णित उत्तर गिरि से भी स्पष्ट है कि मनु वहाँ दक्षिण गिरि-प्रदेश से गये थे।

मध्य-हिमालय के उत्तर-गढ़वाल में बदरीनाथ के निकट (माना गाँव के पास वसुधारा मार्ग में) सरस्वती नदी के तटवर्ती क्षेत्र में कामेट (२५००० फीट ऊँचा) सर्वोच्च हिम-शिखर है। ऋग्वैदिक सरस्वती हिमालय की नदी थी। दक्षिणगिरि-प्रदेश में उसका अस्तित्व तर्क-संगत नहीं है। ऋग्वेद के अनुसार सरस्वती सप्तसिन्धुओं में सबसे ऊपर शीर्ष स्थान पर (सप्त स्वसा सुज्येष्ठा) थी, और मनु के कथनानुसार वह ब्रह्मावर्त्त की सीमान्त नदी थी, क्योंकि उसके पार म्लेच्छों का देश हुणदेश था (म्लेच्छदेशस्तत परः)। मनु की सरस्वती का यह पावन तटवर्ती क्षेत्र आज भी छह महीने हिमपात से आच्छादित रहता है। डॉ० हौग के 'पारसी-धर्म' (पृ० २१०) में वर्णित ईरानियों के जिस आर्य वैजो में दस महीने का जाड़ा और दो महीने की ग्रीष्म-ऋतु का उल्लेख है, वह यही क्षेत्र है। सरस्वती के इसी क्षेत्र में लोकमान्य तिलक का ध्रुवकक्षीय दस महीने का जाड़ा और दो महीने की ग्रीष्म ऋतु का वातावरण आज भी ज्यों का त्यों है।

गढ़वाल की 'सौतियाबाँट' की प्राचीन प्रथा के अनुसार अलकनन्दा के उस पार उत्तरगिरि का परगना नागपुर पैनखंडा और बधाण का अधिकांश क्षेत्र दिति के पुत्र दैत्यो, दनु के दानवों और कद्रू के नागों के अधिकार मे था। सौतो और सौतेले भाइयो के बीच पारस्परिक मनोमालिन्य बहुत पहले से चला आता था। फिर जलप्लावन के समय दक्षिण-गिरि से अदितिपुत्रो आर्य-शरणार्थियो के अप्रत्याशित आगमन से उनके पारस्पर आर्थिक एव धार्मिक मतभेद अधिक उग्रतर होते गये। कालान्तर में दोनो के इस सघर्ष ने देवासुर-सग्राम का उग्र रूप धारण कर लिया। स्व० दयानन्द सरस्वती भी 'सत्यार्थ प्रकाश' अष्टम समुल्लास में प्रलय के इसी भाग मे देवासुर-सग्रामो की पुष्टि करते हैं। रात-दिन इन देवासुर-सग्रामो के कारण पराजित असुरोपासक आर्य तग आ गये थे। इस बीच इस क्षेत्र मे अत्यधिक एव आकस्मिक हिमपात (जिसका फारसी-ग्रन्थो मे उल्लेख है) हो गया, जिसके कारण उन्हे हमेशा के लिए अपने आदि देश को त्यागकर पश्चिमोत्तर प्रदेशो की ओर प्रयाण करने के लिए अनिच्छापूर्वक बाध्य होना पडा।

जलप्लावन के समय, प्रलय-जल अलकनन्दा की उपत्यका से होता हुआ, लगभग १०-११ हजार फीट से नीचे के भू-भागो को डुबाकर विष्णुप्रयाग अथवा केशवप्रयाग तक, जहाँ पर सरस्वती नदी अलकनन्दा से मिलती है, पहुँच चुका था। विष्णुप्रयाग समुद्र तट से ७००० फीट और केशवप्रयाग १०००० फीट ऊँचे है। सरस्वती के इसी तटवर्ती क्षेत्र मे किसी हिम-शिखर पर मनु का शरणस्थल था। जल-अवतरण पर लगभग एक सौ वर्ष उत्तर-गिरि मे ठहरने के बाद जब वहाँ के क्षेत्र एक बार आकस्मिक एव अत्यधिक हिमपात के कारण ढक गये और प्रलय-जल भी घट गया तो आर्यगण पुन दक्षिण-गिरि की ओर लौट पडे। उन्हें दोनो ओर की इस अत्यन्त कष्टकर स्थिति (जलप्रलय और हिमपात) से जूझना पडा, जिसकी दु:खद स्मृति भारतीय वाङ्मय एव 'अवेस्ता' मे अकित है। हिमयुग को समाप्त हुए, भूगर्भ-शास्त्रियो के कथनानुसार, सम्भवत ३१०००-३२००० वर्ष हुए है। श्री नारायण पावगी और श्री अविनाशचन्द्र दास उसको २५००० वर्ष पूर्व और लोकमान्य तिलक अतिम हिमयुग को ईसा पूर्व १००० वर्ष कहते हैं।

श्री नारायण पावगी 'आर्यों का मूल स्थान' मे लिखते है "'शतपथ ब्राह्मण' की उपर्युक्त मत्स्यगाथा मे उत्तर-गिरि का जो विशेष उल्लेख किया गया है, वह स्पष्टत तुषारावृत्त हिमालय पर्वत है। और उत्तर गिरि से भाष्यकार भी आर्यावर्त्त के उत्तर ओर के हिमालय को ही समझते है। इसी को हमारे पूर्वजो ने तृतीय कालीन युग के प्राचीन काल मे सप्तसिंधव के नाम से प्रसिद्ध सात नदियो

के उस देश के उत्तर में देखा था जो आर्यों का आदि देश तथा हमारे पूर्वजो की मातृभूमि थी। वही से हम दिग्विजय के लिए चारो दिशाओ मे फैले।"

मनु के शरणस्थल के सम्बन्ध मे श्री पावगी के इस मत से मैं अक्षरश सहमत हूँ, परन्तु उनका यह अनुमान कि आर्य अपने आदि देश सप्तसिंधव को त्याग कर एक बार ध्रुव-देश मे जा बसे थे और ध्रुव-देश के प्रलयंकर हिमपात के कारण पुन सप्तसिंधव के उत्तर गिरि की ओर लौटे, युक्ति सगत नही। आर्यावर्त्त के 'आवर्त्त' शब्द से, वे किसी अन्य स्थान से आर्यावित्त मे आने का अनुमान लगाते है। वस्तुत आर्य सप्तसिन्धु से ब्रह्मावर्त्त मे गये और ब्रह्मावर्त्त मे आर्याविर्त्त मे आये थे। आर्यावित्त के समुद्रगर्भ से बाहर प्रकट होने से पूर्व सप्त-सिन्धु—और ब्रह्मावर्त्त, समुद्र से ऊपर उन देशो के नाम थे, जहाँ आर्यों का आदि-निवास था। लोकमान्य की भाँति श्री पावगी भी नही जानते कि वे ऋग्वेद के जिस ध्रुवकक्षीय वातावरण की खोज मे उत्तरी ध्रुव का प्रतिपादन कर रहे है, वह ब्रह्मावर्त्त सरस्वती के इस तुषारावृत्त तटवर्ती क्षेत्र मे मौजूद है। श्री पावगी की ध्रुवदेश से हिमालय के उत्तर-गिरि की ओर लौटने की यह कष्ट-कल्पना कतई असगत है। उत्तर गिरि की ओर जाने का स्पष्ट और सीधा-सा अर्थ यह है कि वे दक्षिण मे तराई-भावर की समुद्री बाढ से त्राण पाने के लिए, दक्षिण-गिरि-प्रदेश से उत्तर-गिरि-प्रदेश की ओर भागे और कालान्तर मे उत्तर-गिरि-प्रदेश के ध्रुव कक्षीय वातावरण मे रहने के बाद देवासुर-सग्रामो से ऊब कर तथा आकस्मिक एव अत्यधिक हिमपात के कारण प्रलय-जल घटने पर, पुन दक्षिणगिरि की ओर लौट पडे, क्योकि तराई-भावर मे ऊपर टिहरी गढवाल और कुमाऊँ का यह समस्त भू-भाग मध्य हिमालय है। उस युग मे मध्य हिमालय के इस दक्षिणी क्षेत्र को दक्षिण-गिरि, मध्य को अन्तर्गिरि और उत्तरी क्षेत्र को उत्तर-गिरि कहते थे।

इसमे कोई सन्देह नही कि ऋग्वेद मे जलप्लावन की इस घटना का विस्तार-पूर्वक उल्लेख नही है। वस्तुत ऋग्वेद मे किसी भी ऐतिहासिक घटना का सिल-सिलेवार वर्णन एक ही स्थान पर, एक ही मण्डल या सूक्त मे नही किया गया है, वरन् वह सूत्ररूप मे विभिन्न ऋषियो द्वारा विभिन्न सूक्तो एव मत्रो मे, कई मत्रो का अन्तर देकर व्यक्त किया गया है। लिपिबद्ध न होने के कारण उस युग मे किसी विशेष उल्लेखीय घटना को स्मृति-कोष मे सुरक्षित रखने के लिए, उसे अत्यन्त सूक्ष्म एव सूत्ररूप के काव्यबद्ध करके कठस्थ रखने की प्रणाली थी। आज से दो हजार वर्ष पूर्व तक ऋग्वेद-मत्रो का दर्शन, सकलन अनेक ऋषियो द्वारा अनेक बार होता रहा है। एक-एक वेद-मत्र मे सूत्ररूप मे उनकी अनेक दुखद और सुखद स्मृतियाँ सुरक्षित है। प्रलयकाल के बाद भी सब मत्र एक ही बार, एक

ही ऋषि द्वारा प्राप्त एवं संकलित नही हुए। भगवान् व्यास ने बदरीकाश्रम में व्यास तीर्थ में बैठकर, आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व महाभारत-काल मे प्रथम बार उन्हे लिपिबद्ध किया था। परन्तु तिथिक्रम के अनुसार वर्षों से उस अगाध ज्ञान-राशि का सिलसिलेवार सकलन उनके द्वारा भी सम्भव नही हो सका था, यह निर्विवाद है।

ऋग्वेद मे च्यवन, सुकन्या, दध्यङ्—आथर्वण, विष्णु-वामन के तीन पादो, नहुष, उर्वशी, पुरूरवा, वशिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्य और लोपामुद्रा आदि के लगभग तीस साकेतिक आख्यान है, जो पुराणो मे विस्तारपूर्वक वर्णित है। ऋग्वेद मे कुछ का तो नाम ही आया है, कुछ की ओर सकेत मात्र है, जिससे उनसे सम्बन्धित कथानक का कुछ बोध ही नही होता, परन्तु पुराणो मे उनका सम्पूर्ण जीवनवृत्त विस्तारपूर्वक अकित है। ऐसी दशा मे यदि ऋग्वेद मे जलप्लावन की इस ऐतिहासिक दुर्घटना का कोई क्रमबद्ध स्पष्ट उल्लेख न किया गया हो तो इसमे आश्चर्य ही क्या है? पुराणो मे उसका विस्तारपूर्वक वर्णन है। इसीलिए पुराणो को वेद-भाष्य भी कहा गया है।

भारतीय आर्यों और फारसियो के पूर्वज एक ही थे। वे जलप्लावन की दुर्घटना मे भी साथ ही थे, क्योकि दोनो जातियो के धर्म-ग्रन्थो मे इस दुर्घटना की स्मृति सुरक्षित है। इन्द्र को छोडकर दोनो जातियो के ऋग्वैदिक देवी-देवताओ मे भी अन्तर नही है। परन्तु ऋग्वेद के अधिकाश मत्रो मे असुरो के परम शत्रु इन्द्र का स्तवन है। इसका अर्थ यह है कि फारसियो के पूर्वज ऋग्वेद-काल में ही, इन्द्र की पूजा-प्रतिष्ठा स्थापित होने से पूर्व जलप्लावन के बाद अपने आर्य-बन्धुओ से पृथक् हो गये थे। अत· ऋग्वेद मे इन्द्र की प्रमुखता प्राप्त करने से पूर्व दोनो जातियो-द्वारा जिन ऋग्वैदिक देवी-देवताओ के साथ अग्नि और उसके अन्य प्रतीको की प्रार्थना की गयी है, वह ऋग्वेद का सबसे प्राचीन भाग है। 'शतपथ ब्राह्मण' से हजारो वर्ष पूर्व ऋग्वेद-काल मे ही इन्द्र प्रतिष्ठित हो गये थे। अत यह स्पष्ट है कि फारसियो के पूर्वज ऋग्वेद-काल मे ऋग्वैदिक इन्द्र की पूजा-प्रतिष्ठा आरम्भ होने से पूर्व, अपने आर्य-बन्धुओ से पृथक् हो गये थे।

ऋग्वेद में प्रलय-वृत्त

ऋग्वेद के अधिकाश मत्रो का रचनाकाल स्वायंभुव मनु से लेकर सप्तम वैवस्वत मनु तक जलप्लावन से हजारो वर्ष पूर्व निश्चित है, परन्तु इसमे भी कोई सदेह नही कि प्रलय-काल के पश्चात्, देवासुर-सग्राम के कई हजार वर्ष बाद तक भी ऋग्वैदिक मत्रो की रचना होती रही है। अत उनमे प्रलयकाल की उक्त महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना का आभास तक न हो, यह सम्भव नही है।

वेदों के विद्वान् प० हरीराम धस्माना के कथनानुसार "ऋग्वेद मे अत्यधिक वर्षा और वायु (सलिलो मातरिश्वा) के कारण उक्त प्रलयकाड घटित होने का उल्लेख है (ऋ० १०।१०६।१)। प्रलय-जल पर्वतो को विदीर्ण कर, प्रखर वेग से शब्द करता हुआ बहने लगा (ऋ० १२।१।६)"। आर्य शरणार्थी दक्षिण-गिरि-प्रदेश स उत्तर-गिरि की ओर भागन लगे क्योकि दक्षिण-गिरि-प्रदेश उत्तर-गिरि-प्रदेश से समतल होने के कारण अधिकाश जलमग्न हो गया था, परन्तु उत्तर-गिरि प्रदेश ऊँचे-ऊँचे शैल-शिखरो से आच्छादित होने के कारण इस आकस्मिक जल-प्रलय से अप्रभावित था। मालूम होता है कि लगभग दस हजार फीट ऊँचे सब पर्वत-प्रदेश जलमग्न हो गये थे। धस्माना जी ने माना गाँव को मनु का शरण-स्थल माना है। माना गाँव बदरीनाथ के पास समुद्र-तट से १०४६० फीट ऊँचा है। इस स्थान का शब्दसाम्य आज भी सुरक्षित है।

धस्माना जो के कथनानुसार आर्य शरणार्थियो ने दूर से अन्तरिक्ष मे अवस्थित इस सर्वोच्च शरणस्थल (ऋ० ५।८५।५) माना गाँव (मनोरवसर्पणम्) के दर्शन किये (वेदो मे अन्तरिक्ष शब्द प्राय सर्वोच्च स्थान के लिए प्रयुक्त हुआ है) और तब सब प्रसन्न होकर। आत्म-रक्षार्थ तीर की तरह उसी ओर दौड पड़। (ऋ० १०।२७।१६१०।२७।२३) देव समाज माना पहुचा और वहाँ ठहर गया। देवमाना पुष्पवाटिका की भाँति शोभायमान थी (ऋ० १०।१०७।१०)। इन ज्ञानियो और अज्ञानियो को माना मे इन्द्र, विष्णु की शरण मे आश्रय मिला (१०।८२।४ ऋ०)। माना का प्रथम नरेश होने के कारण 'यम'—देवमाना मे मनु के नाम से विशष प्रसिद्ध हुए। सरस्वती के तट पर माना मे मनु का निवास-स्थान बना (इद यमस्य सदन देवमानम् यदुच्यते (१०।१३५।७)।

पचजन की प्रजा इन्द्र सहित माना पहुँची और शरण पाने के लिए चिल्लाई। इन बाहर से आये हुए आर्य-शरणार्थियो ने माना मे घास और फूस उखाड कर आवासगृह निर्मित किये (८।६३।७)। इन्होने माना के आदि निवा-सियो से ऋषियो को अन्न देकर जीवनदान देने की प्रार्थना की (१।१८६।८)। मन्द्र जिह्वा और वषभ बृहस्पति जो नवीन मनो और देवो के साथ पैदल चलकर देवमाना पहुँचे है, उनको प्रसन्न करो, (१।१९०।१)। जल के अवतरण पर यम-सदन मे हिरण्यगर्भ (अलकनन्दा का तटवर्ती क्षेत्र) के प्रजापतियो को धन्यवाद देने के लिए एक विराट् यज्ञ का आयोजन किया गया (१०।१२१)। सप्तऋषियो को देवमाना का पुत्र (१।११७।११) कहा गया है। देवमाना पृथ्वी के सर्वोच्च शैल-शिखर पर अवस्थित है (५।८५।५)। यम स्वय कहते हैं कि मै मृत्यु से बचने और जीवन रक्षा के लिए देवमाना आया (१०।६०।१०)

इस प्रकार प० हरिराम धस्माना जी ने **'वेदमाता'** पुस्तक मे ऋग्वैदिक मन्त्रो

के अनेक उद्धरणों द्वारा ऋग्वेद मे जलप्लावन की इस घटना की पुष्टि की है और मनु का शरणस्थल बदरीनाथ के निकट 'माना गाँव' सिद्ध किया है। स्थल की ऊँचाई, ऐतिहासिक तथा भौगोलिक वास्तविकता के अनुसार उनका तर्क युक्तिसगत भी है। वायुपुराण (५०।५८) में भी लिखा है कि यम वैवस्वत मनु मेरु के दक्षिण और मानस के ऊपर निवास करने थे।

श्री चिरजीलाल पाराशर ने भी 'विश्व सभ्यता का विकास' नामक ग्रथ में मानव की मूल-उत्पत्ति या आदि स्थान हिमालय का यही मानसरोवर-स्थान प्रमाणित किया है। उनका मत भी है कि आर्यों का मूल स्थान यही है। यहो मे आर्य पहले मध्य एशिया, पश्चात् ईरान, असीरिया, यूनान आदि देशो मे गये। मनु के शरणस्थल के सम्बन्ध मे, धस्माना जी, शर्मा जी और पारासर जी का अनुमान भौगोलिक वास्तविकता के बहुत निकट है। मानसरोवर से नीचे मेरु पर्वत के दक्षिण मे बदरीकाश्रम के आस-पास सरस्वती नदी के तटवर्ती क्षेत्र मे ही कही वैवस्वत मनु का शरणस्थल था।

वैवस्वत मनु स्वय ऋग्वेद के मत्रद्रष्टा ऋषि है। जलप्लावन की इस प्रसिद्ध दुर्घटना की उनके मत्रो मे कोई अभिव्यक्ति न हो, यह कदापि सम्भव नही है। ऊपर श्री धस्माना जी द्वारा व्यक्त उक्त प्रलय का भयावह चित्र जो ऋग्वेद मे यत्र-तत्र अकित है, मै प्रस्तुत कर चुका हूँ। शरणस्थल पर पहुँचने के बाद मनु को वहाँ किन-किन सामाजिक, धार्मिक असुविधाओ का सामाना करना पडा, यह ऋग्वेद-मडल के ८ वें सूक्त २७।२८।३०। और ३१ मे उन्ही के शब्दो मे व्यक्त है। ऋग्वेद (२।२७।४) मे मनु प्रार्थना करते है—"हे विश्वदेवगणो! मनु के वर्द्धन के लिए बहु धन दो और शत्रुओ का नाश करो। आप सर्वज्ञाता है, हमें अहिंसा पालन के साथ विघ्न-बाधा-रहित गृह प्रदान करो।" पुन उसी सूक्त के मत्र ६ में भी उसी के लिए प्रार्थना की गयी है। इसी मत्र मे वहाँ के आदि-निवासियों वासदाताओ से भो·निवेदन किया गया है

"हे वासदाताओ! देवो! दूर अथवा समीप देश से आये हुए इन शरणार्थियो की हिंसा न करना।" अपनी रक्षा के लिए वे देवों के साथ वृत्रहारी इन्द्र को भी आमत्रित करते हैं। मत्र १० मे वे देवो से विनती करते हैं कि "हम भी तुम्हारे ही वश के है, तुम्हारे भी भाई-बन्धु हैं, शत्रुओ से हमारी रक्षा करो।" मत्र ६ मे भी वे शत्रुओ के वध के लिए इन्द्र, वरुण तथा आदित्य गणो का आह्वान करते हैं। ८।२८।३ मे भी वे वरुण से कामना करते हैं कि वे अपने सब अनुचरो सहित, सम्मुख, पीछे और नीचे-ऊपर उनकी रक्षा करें। "हम भी तुम्हारे वंश के हैं, तुम्हारे ही भाई-बन्धु हैं हमारी रक्षा करो।" मनु द्वारा व्यक्त इन ऋग्वैदिक मत्रो से स्पष्ट है कि वे ऐसे क्षेत्र मे चले गये

थे, जहाँ के निवासियो का उनसे परिचय नही था, परन्तु थे वे उनके सजातीय। उनका उनसे निकट से या दूर का रक्त-सम्बन्ध था। बिलकुल विदेशी व्यक्तियो के प्रति उनका वह स्नेह-सम्बन्ध उपहासास्पद था।

सूक्त ३० के मंत्र २ मे भी मनु शत्रुओ से रक्षा करने के लिए तैतीस देवताओ की स्तुति करते हैं। मंत्र ३ मे भी वे विश्व-देवगणो से विनय करते हैं कि 'तुम लोग हमे राक्षसो से बचाओ।' इससे प्रमाणित होता है कि उस क्षेत्र में दैत्यो (दिति-पुत्रो), दानवो (दनु-पुत्रो) का निवास था। आर्यों के आकस्मिक आगमन से इस नये निवास स्थान मे उनके अनेक विरोधी तत्व एव शत्रु उत्पन्न हो गये थे। यह भी उल्लेखनीय है कि मनु अपना सब कुछ खोकर, एक ऐसे अपरिचित एव अज्ञात देश मे जा पहुँचे थे, जहाँ पर उनका अपना घर नही था। उन्हे वहाँ के आदि निवासियो ने जिन्हे मनु आदरपूर्वक बार-बार 'वासदाता देव' कह कर सम्बोधित करते है, आश्रय दिया था। और उनका आश्रम-स्थल जहाँ उन्हे शरण मिली थी, सर्व साधारण के लिए अज्ञात एव दुर्गम था। ऋग्वेद (८।२७।१८) मे इसका स्पष्ट उल्लेख है। वे कहते है—'देवो! इस अगम्य और दुर्गम पथ को सुगम करो।' मंत्र २० से प्रकट होता है कि मनु जहाँ सर्वस्व-च्युत थे, वहाँ उस क्षेत्र के निवासी प्रचुर अन्न-धन से सम्पन्न शक्तिशाली एव सभ्य भी थे। क्योकि वहाँ के प्राज्ञ (असुर) देवो से, जिनके आधिपत्य मे उक्त पर्वत-प्रदेश था, मनु अत्यन्त विनीत होकर प्रार्थना करते है कि—'हे वासदाताओ! तुम सर्व धन-सम्पत्ति से परिपूर्ण हो, यदि तुम हमे गृह प्रदान करोगे तो हम तुम्हारे इसी मगलकर गृह मे तुम्हारा पूजन करेंगे।' इसी मंत्र से यह भी स्पष्ट है कि यहाँ के आदि-निवासी असुरोपासक (आर्य) थे, जिन्हे मनु ने आदर पूर्वक 'प्राज्ञ असुर' कहकर सम्मानित किया था।

उत्तर-गिरि का यह हिम-वत प्रदेश अपनी विशेष भौगोलिक परिस्थितियो के कारण दक्षिण-गिरि निवासियो के लिए अत्यन्त असुविधाजनक, कष्टकर एव दुर्गम था। उस युग मे यातायात की कठिनाइयो से पारस्परिक घनिष्ठ जन-सम्पर्क भी सुलभ नही था। वहाँ के आदि-निवासी असुरोपासक आर्य दक्षिणी आर्यों के सजातीय होते हुए भी, वहाँ की विषम पर्वतीय परिस्थितियो के कारण आज की भाँति दक्षिण-गिरि-निवासियो की तरह 'सुसस्कृत' एव व्यवहार-कुशल नही थे। फिर भी उन्होने इन नवागन्तुक शरणार्थियो को वास देकर अनुगृहीत किया था। इसलिए दक्षिण के व्यवहार-कुशल, चतुर आर्य शरणार्थियो द्वारा उनके लिए प्राज्ञ (असुर) सम्बोधन अनुपयुक्त नही था। इस सर्वथा अपरिचित एव ऊबड-खाबड-क्षेत्र के आदि-निवासियो से अधिक धार्मिक, सामाजिक एव आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए भी मनु का यह अनुरोधपूर्ण

सम्बोधन समीचीन था। आर्य-शरणार्थियो के इस अप्रत्याशित प्रवेश से उत्तर गिरि के असुरोपासक आर्यों के लिए भी अनेक आर्थिक, सामाजिक एव धार्मिक असुविधाएँ उत्पन्न होनी स्वाभाविक थी, जो उत्तरोत्तर कट्टर शत्रुता में परिणत होती हुई चली गयी।

भयभीत मनु ने राक्षसो एव शत्रुओ से कष्ट पाने की आशका व्यक्त कर उनसे सब प्रकार त्राण पाने के लिए बार-बार देवो से जो प्रार्थना की है उससे भी दक्षिण के आर्यों और उत्तर के असुरोपासको के बीच (प्राज्ञ, असुर सम्बोधित करने के बावजूद) परस्पर इसी धार्मिक, सामाजिक एव आर्थिक असतोष का भाव व्यक्त होता है। मनु (ऋग्वेद ८।३०।६) जो यहाँ के निवासियो से निवेदन करते हैं 'तुम लोग हम से भली-भाँति बोलो' उसमे भी यही भाव निहित हैं।

इन आर्य-शरणार्थियो के समक्ष इस सर्वथा अपरिचित एव अगम्य पर्वत-प्रदेश मे एकत्र असहाय जन-समूह के लिए आवश्यक भोजन-वस्त्र की व्यवस्था का प्रश्न भी चिन्ताजनक हो उठा था, जिसके निराकरणार्थ मनु (२७, २८, ३० और ३१) सभी सूक्तो मे सुख, धन, गाय, अश्व और अन्न प्रदान करने के निमित स्थानीय जनता से जोरदार अपील करते है (ऋग्वेद ८।२७।११)

'हे सर्व धनवान् देवो, मै अन्न की कामना करता हूँ। मै इसी समय किसी से न की गयी स्तुति को तुम्हारे रमणीय धन की प्राप्ति के लिए करता हूँ।' मत्र १३ मे वे दिव्य-देवताओ को कर्मरक्षण, अभीप्सित की प्राप्ति और अन्न-लाभ के निमित्त आमत्रित करते है। मत्र १४ मे मनु प्रार्थना करते हैं कि 'विश्वदेव-गण! धनादि दान के लिए एक साथ प्रवृत्त हो। आज और दूसरे दिन, सब दिनो मे मेरे लिए और मेरे पुत्र के लिए धन के दाता हो, मत्र १६ मे वे पुन कहते हैं 'हे देवो! जो मनुष्य धन के लिए तुम्हे द्रव्य देता है वह अपना गृह, अन्न और पुत्रादि से सम्पन्न होकर सबके द्वारा अहिंसित होकर समृद्ध होता है।' मत्र १९ मे विश्वदेवगणो से प्रात काल सूर्य उदय होने पर और सूर्यास्त के समय मनु के लिए धन-धारण की प्रार्थना है।

मत्र २१ और २२ मे वे प्रार्थना करते है कि "हे सर्व-धन-सम्पन्न देवो! तुम तीनो काल मे मनु के लिए जो धन-धारण करते हो, उस धन के द्वारा हम यज्ञ करते हुए धनाढ्यता प्राप्त करेंगे।" २८वें सूक्त के मत्र १ मे भी वे तैतीस देवताओ से कामना करते हैं कि वे 'हमारी परिस्थितियो को समझें और हमे बार-बार धन दें।' इसी प्रकार ८।३०।४० मे वे अग्नि और देवो से वहाँ ठहरने और उन्हे सुख, गौ, रथ, और अश्व दान करने के लिए आग्रह करते है। ३१ वें सूक्त के मत्र ३,४,६,७,९ मे भी मनु द्वारा रथ, धेनु और अन्न की कामना की गयी है।

इससे स्पष्ट है कि मनु किसी असाधारण एव अप्रत्याशित दुर्घटना से सर्वस्व-च्युत होकर एक ऐसे प्रदेश में पहुँचने के लिए विवश हो गये थे, जहाँ का वातावरण उनके लिए सर्वथा अपरिचित था। अपनी और अपनी असहाय प्रजा की जीवन-रक्षा के लिए आर्य-नरेश मनु का ऋग्वेद में व्यक्त यह करुण क्रन्दन ऋग्वेद मे उस भयंकर जल-प्रलय की प्रामाणिकता के लिए पर्याप्त है। मत्र १० में मनु स्पष्टत पर्वत के सुख, नदो के सुख और देवो के साथ विष्णु के सत्सग-सुख की कामना करते हैं, जिससे यह भी प्रमाणित होता है कि जहाँ पर पर्वत, नदो और विष्णु इन तीनो सुखो का सगम हो वही मनु का मनवाछित निवास स्थान था। मनु का वह शरण-स्थल देवमाना (मनोरवसर्पण) नामक स्थान, सरस्वती और अलकनन्दा के सगमस्थल—विष्णुप्रयाग या केशवप्रयाग के निकट था। 'केदार खण्ड' (५८।६६) के अनुसार केशवप्रयाग मे महाविष्णु वास करते है।

मनु को मत्स्य भगवान् का आदेश स्मरण था कि 'मैंने तुम्हारी जीवन रक्षा कर दी, नाव को वृक्ष पर बाँध दो, परन्तु पर्वत-प्रदेश के निवास काल मे तुम्हारा जल से सम्बन्ध विच्छेद न होने पावे। जैसे-जैसे प्रलय-जल नीचे उतरने लगेगा, उसी प्रकार उसके साथ तुम भी नीचे उतर सकते हो' (शतपथ ब्रा० १।८)। सम्भव है केशवप्रयाग अथवा विष्णुप्रयाग की निम्न उपत्यकाओ तक प्रलय-जल पहुँच चुका था। जल-स्थिति से कुछ ऊपर, किसी निकटस्थ पर्वत-शिखर पर डेरे डाल कर, मनु दीर्घ काल तक प्रलय-जल के उतरने की बाट जोहते रहे, ताकि ज्यों-ज्यो जल घटने लगे और धरती ऊपर आने लग, वे मत्स्य भगवान् के निर्देशानुसार पुन दक्षिण-गिरि की ओर अपना अभियान आरम्भ कर सकें। अनेक सामाजिक एव आर्थिक सघर्षों के बावजूद दक्षिण के उष्ण प्रदेश के निवासियो के लिए इस कठिन शीतप्रधान प्रदेश का वातावरण उत्तरोत्तर असह्य भी होता जा रहा था। अधिक काल व्यतीत होने पर तथा अपने घर का मार्ग भूल जाने पर इसलिए सूक्त ३० के मत्र ३ मे वे देवताओ से प्रार्थना करते हैं कि

"देवो! पिता मनु से आये हुए मार्ग से हमे भ्रष्ट नही करना। दूरस्थित माग से भी हमे भ्रष्ट नही करना।"

यह भी असम्भव नही कि इन आर्य शरणार्थियो को अनेक विषम परिस्थितियो के बावजूद परिस्थितियो की अनुकूल होने की प्रतीक्षा मे दीर्घ काल तक यहाँ निवास करना पडा हो। देवासुर-सग्रामो मे यहाँ के उद्दण्ड आदि निवासी असुरोपासको को पूर्णत पराजित करने मे उन्हे ४० वर्ष से (ऋ० २।१२।११) अधिक समय लग गया। इस बीच मनु का देहान्त हो गया। मनु के देहावसान के बाद मनु-पुत्रो एव उसके अन्य उत्तराधिकारियो द्वारा आर्यों के दक्षिणी अभियान का नेतृत्व हुआ हो। मनु-पुत्रो ने देवो से 'पिता मनु से आये हुए मार्ग से हमे भ्रष्ट न करने'

के लिए जो कामना प्रकट की है उसमे यही भावना व्यक्त है।

ऋग्वेद मडल १०, सूक्त ६२, मत्र १०, ११ मे मनु पुत्र शायति ने प्रजा वृन्द के लिए पुन अन्न-सचय करने की बात कही है और उस यज्ञ में अनेक देवताओ और ऋषियो ने सम्मिलित होकर देवो को सन्तुष्ट किया था। ऋग्वेद (८।२७।१४) मे मनु के साथ उनके पुत्र का भी उल्लेख है। वे उक्त मत्रो में अपने और अपने पुत्र के लिए देवो से अन्न, धन की याचना कर रहे हैं। मालूम होता है कि मनु के बाद मनु-पुत्र यान-विशेष द्वारा अपने पिता के पास पहुँचा है, क्योकि इसी मंडल के १३५ सूक्त, मत्र १।२, मे यमगोत्रीय कुमार प्रार्थना करते हैं कि 'सुन्दर पत्रो से शोभित जिस वृक्ष पर देवो के साथ यम देव ने नाव बाँधकर आश्रय लिया था, हमारे नरपति पिता जी कामना करते हैं कि मैं उसी वृक्ष के पास जाकर अपने पूर्वजो का साथी बनू। अपने पिता के पूर्व पुरुषो का साथी बनने की बात पर मैंने निर्दय होकर उनके प्रति विरक्ति से दृष्टिपात किया था। विरक्ति को छोड कर अब मैं अनुरक्त हुआ हूँ।' मत्र ४ मे भी स्पष्ट है कि कुमार की नौका पिता यम के सान्त्वनापूर्ण उपदेशानुसार चली है। पिता मनु का वह उपदेश उसके लिए नौका और आश्रय प्राप्त करने मे सहायक हुआ। यही वृक्ष मनु और सप्तर्षियो का उक्त आश्रय-स्थल है, जिस पर उन्होंने प्रलय-जल से त्राण पाने के लिए अपनी नाव बाँधी थी।

यम ने अपनी माता, पिता, बहिन और पुत्र इक्ष्वाकु सहित समुद्र तट से १०४६० की ऊँचाई पर देवमाना मे शरण ली थी और यही सरस्वती के तट पर अनेक यज्ञ-यागों द्वारा देवताओ को परितृप्त किया था। इस प्रकार ऋग्वेद मे भी स्थान-स्थान पर सूत्र रूप मे 'शतपथ' और पुराणो द्वारा प्रतिपादित प्रलय वृत्त वर्णित है। इतने पर्याप्त और स्पष्ट प्रमाणो की उपस्थिति मे मेरे विचार से, उक्त विद्वान् बन्धुओ का यह कथन कि ऋग्वेद मे जलप्लावन की घटना का आभास भी नही है, सही नही है।

• •

तराई भावर का समुद्र और जलप्लावन

श्री अविनाशचन्द्र दास ने '**ऋग्वैदिक इंडिया**' मे भूगर्भ-अनुसंधानो के आधार पर ऋग्वेद काल का जो मानचित्र प्रस्तुत किया है, उसके अनुसार जब उत्तर प्रदेश समुद्र के गर्भ मे था उस समय शिवालिक-पर्वत श्रेणी के नीचे समुद्र लहरा रहा था। प्राचीन काल मे इस समुद्र-गर्भ मे समय-समय पर कई भौतिक परिवर्तन होते रहे है। छह सामुद्रिक बाढो का उल्लेख पुराण मे हैं, उस समय भी तराई भावर से ऊपर शिवालिक पवत और उसका पार्श्ववर्ती पर्वतीय भू-भाग गढवाल और कुमाऊँ (वर्तमान टिहरी और उत्तरकाशी और चमोली को लगा कर) यथावत् था। उस युग मे शिवालिक (सपादलक्ष) पर्वत माला से ऊपर मध्य हिमवन्त का दक्षिण गिरि, मध्य भाग मध्य गिरि और उत्तरी भाग उत्तर गिरि कहलाता था और इस सारे भू-भाग का ऋग्वैदिक नाम जल-प्रलय से पूर्व सप्तसिन्धु और जलप्लावन के पश्चात् ब्रह्मावर्त्त हुआ।

श्री दास के कथनानुसार (२५ हजार से लेकर ५० हजार वर्षों के बीच) जब सप्तसिन्धु के दक्षिण मे तराई-भावर से समुद्र ऊपर उठा तो हिमालय के ऊँचे शैल शिखरो को छोड कर घाटियो मे सवत्र जल ही जल भर गया था। हिमालय की यह सर्वोच्चता ऋग्वेद काल मे भी यथावत् थी। कुछ विद्वानो के कथनानुसार वह विन्ध्याचल एव अरावली से आयु मे छोटी ही क्यो न हो परन्तु भू-वैज्ञानिको ने उसकी आयु १० लाख वर्ष से कम नही मानी है। छह करोड पचास लाख वर्ष पूर्व मध्यकाल तक भारत, आस्ट्रेलिया, अफ्रिका और दक्षिण अमेरिका एक साथ जुडे हुए थे, परन्तु आज से लगभग दो करोड वर्ष पूर्व जिस समय हिमालय का उत्थान आरम्भ हुआ, उसी समय भू-गतियो ने इन देशो को एक दूसरे से पृथक् कर दिया। भारतवर्ष मे अतिनूतन युग का प्रतीक '**शिवालिकतत्र**' मे मिलता है। जिसकी अवधि भू-वैज्ञानिको ने ६० लाख वर्ष बतायी है ('**हिन्दी-विश्वकोश**', पृ० २६६)। ससार मे मानवीय इतिहास के लिए हिमालय का महत्व कथन से बाहर ह। मनुष्य का विकास स्वय इस भारी प्रवाह वाली भू-गर्भ रचना के कारण हुआ। बैरल ने सबसे पहले यह सुझाव दिया कि मध्य उषा-कालीन युग के लगभग अन्त मे दस लाख वर्ष पहले मानव और हिमालय एक साथ ही अस्तित्व मे आये। ऋग्वेद (१०।१२१।४) मे हिमालय के प्रति असीम श्रद्धा-भक्ति व्यक्त है। अथर्ववेद (१२।१।११) भी उसका गौरव-गान करता है। सारांश यह है कि यदि उपर्युक्त गणितज्ञो का मत भी स्वीकार किया जाय तो यह

आज से लगभग पच्चीस हजार मे पचास हजार वर्ष पूर्व वैवस्त मनु के जलप्लावन के समय हिमालय और उसकी सर्वोच्चता विद्यमान थी)।

गृह-गणितज्ञ डॉ० केशकर ने '**तैत्तिरीय ब्राह्मण**' से प्रमाणित किया है कि ई० पूर्व लगभग ४६५० वर्ष बृहस्पति गृह तिष्य नक्षत्र के समीप था। ग्रहो की गणना के आधार पर उन्होने प्रमाणित किया है कि उत्तर और दक्षिण भारत के बीच जो राजपूताना समुद्र था वह ईसा से लगभग ७५०० वर्ष पूर्व ही अदृश्य हो गया था। डा० सम्पूर्णानन्द भी '**आर्यों का आदि देश**' (पृ० २६६) में लिखते हैं "आज जैसा नक्शा उत्तर भारत का है वैसा आज से लगभग २५-३० हजार वर्ष पूर्व बन चुका था (पृ० २६२) और आज से पच्चीस हजार वर्ष से भी पर्व आर्य लोग सप्तसिन्धु मे बसे हुए थे।

गढवाल (सप्तसिन्धु) के दक्षिण मे तराई भावर की भूमि और उसकी भौगोलिक स्थिति से उसकी पुष्टि होती है कि किसी समय इस भू-भाग मे समुद्र लहरा रहा होगा। '**केदारखण्ड**' (११५।२३४) मे हरिद्वार के निकट सप्तसामुद्रिक तीर्थ जहाँ पर सातो मनुओ ने आकर तपस्या की थी, अकारण नही है। इससे यहाँ किसी समय समुद्र का अस्तित्व प्रमाणित है। एक बार किसी आकस्मिक विप्लव के कारण जब यह समुद्र ऊपर उठा तो लगभग नौ-दस हजार फीट की ऊँचाई तक समस्त गिरि-प्रदेश मे जल भर गया था। हिमालय के दस-ग्यारह हजार फीट से ऊँचे पर्वत-शिखर ही, जल से ऊपर रह गये थे। इस अप्रत्याशित अकल्पित जल-प्रलय की कुछ दिन पूर्व तत्कालीन भू-गर्भवेत्ताओ द्वारा जिन आर्य अधिकारियो की सूचना मिल गयी थी, वे आर्य-नरेश मनु के नेतृत्व मे, उससे त्राण पाने के लिए नाव तथा अन्य रक्षात्मक साधनो द्वारा दक्षिण से उत्तर-गिरि की ओर भागने लगे। उनकी यह ऐतिहासिक भगदड कई दिनो तक जारी रही। ज्यो-ज्यो जल भरने लगा, वहाँ के निवासी उसी क्रम से निम्न घाटियो को छोड कर जहाँ तक जिसकी पहुँच हो सकी निकट और दूर, अधिक उन्नत पर्वत-पृष्ठो पर चले गये। और जब तक उनके शैल-शिखरो पर नव निर्मित आवास गृहो के साथ समुद्री बाढ उन्हे भी उदरस्थ नही कर गयो, वे पर्वत-पृष्ठो पर वहाँ की वज्र-शिलाओ को काट कर यथा साध्य कृषियोग्य थोडा-बहुत सीढीनुमा खेतो का निर्माण कर, जीवन-यापन करने का प्रयास करते रहे।

यह निर्विवाद है कि सर्व साधारण जनता पर्याप्त उपकरणो के सर्वथा अभाव मे दक्षिण-गिरि के छह-सात हजार फीट ऊँचे पर्वत शिखरो तक ही पैदल पहुँच सकी होगी। उसके बाद उक्त पर्वत-शिखर जल-मग्न होने के कारण वे भी बाढ में बह गये होंगे। परन्तु मनु के नेतृत्व मे छँटे-छँटाये समर्थ आर्य-अधिकारियो, आचार्यों, कलाकारो एव कारीगरो का जो दल नाव मे बैठकर

उत्तर-गिरि की ओर सरस्वती के तट पर हिमालय के 'मनोरवसर्पण' स्थान पर पहुँचा, वह अत्यन्त संगठित, शक्तिशाली, सभ्य और शिक्षित था। वे वहाँ १०,११ हजार फीट ऊँचे सर्वथा सुरक्षित परन्तु एक अपरिचित शीतप्रधान प्रदेश मे वहाँ के आदि निवासियो के प्रतिरोधो एव अन्य अनेक भौगोलिक विघ्न-बाधाओ से लडते-भिडते पहुँच गये थे।

आर्य-शरणार्थियो द्वारा, जीवन और मृत्यु के इस संघर्ष मे जीविकोपार्जन के पर्याप्त साधन भी साथ ले चलने की सम्भावना नही थी। अनेक अस्त्र-शस्त्रो, औद्योगिक उपकरणो, रथो यानो, कारीगरो एव कलाओ को, समुद्र-गर्भ मे विलीन कर, वे उनमें से अधिकाश के केवल नाम ही अपने स्मृति-कोष मे सुरक्षित ले जा सके। वैवस्वत मनु से पूर्व छह मन्वन्तरो की दीर्घकालीन साहित्य—सामग्री, कला-कृतियो के साथ प्राचीन आर्य-सस्कृति की सम्पूर्ण वैदिक विरासत समुद्र-गर्भ मे समा गयी। वैवस्वत-मनु के राज्य-काल मे आर्यों की अत्यन्त प्राचीन सप्तर्षि परम्परा के जिन सात आचार्यों को मनु नाव मे बिठाकर अपने साथ ले गये थे, उनके द्वारा यद्यपि वेद-विद्याओ को पुनर्जीवित करने का यथा-साध्य सगठित प्रयास किया गया, परन्तु केवल उनकी श्रुति-स्मृतियो मे सुरक्षित अनेक प्राचीन वैदिक विद्याओ, कलाओ को मूर्तिमान होने के लिए दीर्घकालीन प्रतीक्षा करनी पडी।

इससे स्पष्ट है कि आर्य जाति की समस्त कलाकृतियाँ, तराई भावर से उत्पन्न इन छह-सात प्रलय बाढो मे विनष्ट होती गयी। आर्यों ने जलप्लावन के बाद ब्रह्मावर्त्त को छोडकर, आर्यावर्त्त मे पहुँचने और वहाँ बसने के पश्चात् ही, जिन कलाकृतियो का सृजन किया, केवल उनके ही आधार पर वर्तमान इतिहासकार भारत की प्राचीन-सभ्यता का काल निश्चित करते हैं। वे भूल जाते है कि तराई-भावर के समुद्र सूख जाने के बाद, आर्यावर्त्त के अस्तित्व में आने से पूर्व आर्य जाति को, सप्तसिन्धु और ब्रह्मावर्त्त देश मे बसे हुए हजारो वर्ष व्यतीत हो चुके थे। और वे सब क्षेत्रो मे चरम उन्नति के शिखर पर आसीन थे। गत छह-सात जल-प्रलयो मे अपना सर्वस्व विलीन करने के बाद केवल अपने स्मृति-कोश मे सचित कलाकृतियो को आर्यावर्त्त मे बसने के बाद, पुन मूर्तिमान करने के लिए प्रयत्न करने लगे।

अकल्पित जल-प्रलय मे उन सर्वस्व-च्युत आर्य-शरणार्थियो के सम्मुख प्राण-रक्षा का प्रश्न ही सर्वोपरि हो उठा था। जल-प्रलय ने उन्हे ऐसे स्थान मे ला पटका, जहाँ चारो ओर सर्वथा अपरिचित और दुर्गम पर्वत-प्रदेश फैला हुआ था। उनके पास उस शीतप्रधान-प्रदेश म आवश्यक भोजन-वस्त्र एव रहने-बसने के लिए आवश्यक आवास-गृहो का भी सर्वथा अभाव था। स्थानीय आदि निवासियो

द्वारा, उन आर्य शरणार्थियो के विरुद्ध कई सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक सघर्ष भी शुरू हो गये थे, जो कालान्तर देवासुर-सग्रामो में परिणत होने लगे।

फिर भी इन आर्य शरणार्थियों ने सगठित होकर, स्थानीय विरोधियों से साम, दाम, दड, भेद—द्वारा संधि-विग्रह कर, विद्या, कला और कौशल के सब क्षेत्रो में अपने को शीघ्र आत्म-निर्भर बना दिया। आर्य-आचार्यों के सरक्षण में, उन्होने अनेक आवश्यक शक्तिशाली आयुधो अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण कर, अपना एक सुदृढ सैनिक-सगठन भी स्थापित कर दिया। उन्होने इन्द्र के नेतृत्व में अपने विरोधी असुरो को युद्धो में परास्त कर वज्र से वहाँ के दुर्गम पथो को प्रशस्त कर, पर्वत-पृष्ठो को फाडकर, नयी-नयी गूलो का निर्माण करके तथा अन्य उपायो द्वारा जलपूरित उपत्यकाओ का जल सुखा कर (ऋ० १।३२।१,११,१२, २०।-१०।६, २।१४।३५, १०।१३६।६) निर्विघ्नतापूर्वक आर्यों के रहने-बसने-योग्य भूमि का निर्माण किया। आज भी हिमालय के इस समस्त प्रदेश में ऊँचे-ऊँचे पर्वत-शिखरो पर, जहाँ मनुष्य-निवास की कल्पना भी नही की जा सकती, सर्वत्र प्रस्तर-खण्डों से निर्मित उस युग के सीढीनुमा असख्य प्राचीन खेत देखे जा सकते है।

दक्षिण-गिरि और उत्तर-गिरि के ऊँचे-ऊँचे पर्वत पृष्ठो में नदी-उपत्यकाओ से लेकर पर्वत-शिखरो तक लगभग तीन-चौथाई खेत सदियो से बजर पडे है। आज बीसवी शताब्दी मे भी जब गढवाल की जनसंख्या १४ लाख के लगभग है, फिर भी उसके तीन-चौथाई खेत बीहड वन-पर्वतो से ढके हुए, बजर पडे हुए है। पर्वत-शृ गो तक फैले हुए इन असख्य सीढीनुमा खेतो के निर्माण से, उस युग मे इस प्रदेश की घनी जनसख्या का सहज ही मे अनुमान लगाया जा सकता है। बीहड वनो मे, ऊँचे-ऊँचे पर्वत-शिखरो पर जहाँ यातायात-सम्बन्धी अनेक प्राकृतिक बाधाएँ है, जहाँ पेयजल के स्रोतो का भी मीलो तक अभाव है, गढवाल के वे प्राचीन निवासी नदी-उपत्यकाओ के समतल भूमि-भाग को छोड कर इन विषम पर्वत-पष्टो पर बसने के लिए क्यो विवश हुए ? इतने कष्टो से पर्वतो की वज्र-शिलाओ को काट-काट कर इतने असख्य सीढीनुमा खेतो का निर्माण करने वाले वे कठोर परिश्रमी किसान कौन थे ? तथा इतने ऊँचे पर्वत-पृष्ठो पर उन्होने पेय-जल की किस प्रकार व्यवस्था की होगी ? वे लोग जिन्होने इतने कष्टो से इतने प्रेम और परिश्रमपूर्वक इन खेतो का निर्माण किया है, अपना देश छोड कर फिर कब, कहाँ और क्यो चले गये ? यह अविदित रहस्य सदियो से यहाँ के विचारशील मस्तिष्को को आन्दोलित करता रहा है।

लोगो का अनुमान है कि कृषियोग्य भूमि का अभाव और अपरिमित जन-सख्या की वृद्धि इसका मुख्य कारण है। कुछ लोगो के कथनानुसार जब अप्रत्याशित

जल-प्रलय के समय, यहाँ की समस्त नदी-उपत्यकाओ की समतल भूमि, जलमग्न हो गयी, तो प्रलय-जल की वृद्धि के साथ-साथ लोग भी, नदी-उपत्यकाओ से ऊपर, पर्वत-पृष्ठों पर बढते और जीवन-निर्वाह के लिए सीढीनुमा खेतो का निर्माण करते चले गये। मालूम होता है कि प्रलय-बाढ पर्याप्त समय का अन्तर देकर आती रही है। ज्यों-ज्यो पर्वत-उपत्यकाएँ प्रलय-जल से आप्लावित होती गयी, उसी प्रकार लोग अधिक ऊँचे पर्वत-शिखरो पर बसते चले गये। इसी बीच वे अपने जीवन-निर्वाह के लिए उन्नत-पर्वत-पृष्ठो पर अपने निवास स्थानो के आस-पास यथा-साध्य खेती करने का प्रयास करते रहे हैं। पेयजल का तो उन्हें कही भी अभाव नही था। वह तो उन्हे आत्मसात करने के लिए सदैव उनके घर के द्वार पर मुँह बाये तैयार रहता था। अन्त मे पर्वत-शिखरो के डूब जाने पर, वे या तो जहाँ उनके सीग समाये वहाँ भाग खडे हुए, अथवा उस प्रलय-जल मे समा गये।

इस पर्वतीय प्रदेश की विषम भौगोलिक स्थिति मे, कृषि-व्यवसाय के सर्वथा अयोग्य होते हुए भी, इसी देश मे रहकर प्राचीन निवासी इन वज्र-शिलाओ को काट-काट कर इन खेतों का ही निर्माण करते रहे। वे गढवाल से बाहर गगा के उपजाऊ मैदान मे जाकर क्यो न बस गये? इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि उस-युग मे गढवाल से बाहर जाने के लिए कोई ऐसी अनुलघनीय बाधाएँ थी जो वे जीवन-निर्वाह के सरल साधनो की खोज की इच्छा होते हुए भी गढवाल छोड कर बाहर जाने मे असमर्थ रहे। स्पष्ट है कि गढवाल और गगा के उपजाऊ मैदान के बीच उस युग मे समुद्र लहरा रहा था। जलप्लावन के अवतरण पर जब किसी भौतिक परिवर्तन के कारण तराई-भावर का समद्र सूख गया और गगा का उपजाऊ मैदान समुद्र-गर्भ से बाहर निकल आया तो यहाँ के अधिकाश निवासी, जो यहाँ की भौगोलिक, सामाजिक, राजनैतिक एव आर्थिक असुविधाओ से तग आ चुके थे, गढवाल छोड कर, वहाँ चले गये।

• •

देव और असुर

इतिहासकार आर्यावर्त्त मे ही आर्यजाति की प्राचीनता का अनुमान लगाते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि आर्यावर्त्त के अस्तित्व मे आने से पूर्व, आर्यजाति के पुराणों में वर्णित हजारो बरसो के छह मन्वन्तर सप्तसिन्धु देश में व्यतीत हो चुके थे। सप्तम मन्वन्तर के प्रारम्भ मे सप्तसिन्धु का दक्षिण गिरिप्रदेश प्रलय जल मे डूब जाने एव वैवस्वत मनु के अपने पुत्र इक्ष्वाकु और विशिष्ट व्यक्तियों को साथ लेकर, सप्तसिन्धु के उत्तरी भाग सरस्वती नदी के उन्नत पर्वत-प्रदेश 'ब्रह्मावर्त्त' मे शरण लेने से पूर्व, सप्तसिन्धु के दक्षिण गिरियो में हरिद्वार-कनखल के समुद्र-तट पर देव और उत्तर गिरि प्रदेश मे असुरोपासक आर्य निवास करते थे।

देव और असुर दोनो एक ही पिता के पुत्र तथा सजातीय थे। मरीचि के पुत्र महर्षि कश्यप, जिनका आश्रम भी, प्रजापति दक्ष की राजधानी कनखल के निकट हरिद्वार मे था, दक्ष की तेरह कन्याओ के पति थे। उनकी दिति, दनु और कद्रू आदि पत्नियो से क्रमश दैत्य, दानव और नागो की तथा अदिति नामक पत्नी से बारह आदित्यो (देवो) की उत्पत्ति हुई। आदित्यो मे सबसे बडे इन्द्र एव सबसे छोटे विष्णु (वामन) थे। सृष्टि के आदिकाल मे पिता का नही, वरन् माता का महत्व अधिक था। अत माताओ के नाम पर ही देव और दानवो की वशावली चली। दिति के दैत्य, दनु के दानव और अदिति के आदित्य कहलाये।

कश्यप की भार्या अदिति, दिति, दनु, अरिष्ठा, सुरसा, स्वसा, सुरभि, विनता, क्रोधवसा, इरा, कद्रू और मुनि इत्यादि थी। दनु से अयोमुख, शम्बर, कपिल, वामन, स्वर्भानु, वज्रनाम, वारभ, शैल आदिक दानव उत्पन्न हुए। स्वर्भानु की कन्या प्रभा पुलोमा, सुशची, लोपोमा, कालकेया और हिरण्यकशिपु के ससर्ग से ग्यारह सहस्त्र सन्तानो की सृष्टि हुई।

इस प्रकार प्राचीन ग्रन्थो मे जिन्हे असुर, दैत्य, दानव या राक्षस कहा गया है, वे सब देवताओ के ही सौतेले भाई थे। ऋग्वेद मे वृत्रासुर को दनु-पुत्र (ऋ० २।११।१८) और इन्द्रादि का सजातीय कहा गया है। ऋग्वेद के प्राचीन भागो मे 'असुर' शब्द आर्यों के प्रधान-देवताओ—इद्र, वरुण, अग्नि, रुद्र इत्यादि

के लिए प्रयुक्त हुआ है (ऋ० १।१७४।१०) । अग्निदेव को 'अग्ने असुर' (ऋ० ४।२।४५, ७।२।३), सूर्य को असुरों का नेता 'असुर सनीथा' (ऋ० १।३५।१०), इन्द्र को 'असुरो वृहच्छवा' ऋ० १।५४।३ और वरुणदेवता को शुन शेप ने (ऋ० १।२४।१४ मे) 'वरुण असुर प्रचेता राजन्' कहा है । रुद्र को भी ऋ० (५।४२।११) मे असुर कहकर सम्बोधित किया गया है । असुर का अक्षरार्थ भी देवता, अनिष्ट दूर करनेवाला और प्राणदाता है (ऋ० १।२४।१४) ।

फारसियो के धर्मग्रन्थ 'जेन्दावस्ता' मे भी वह ठीक इन्ही वैदिक अर्थों मे व्यवहृत हुआ है । इसी प्रकार 'देव' शब्दो का प्रयोग भी वेदो मे सूर्य, चन्द्र अग्नि, वायु आदि दैवी शक्तियो के अर्थ मे किया गया । उसका अक्षरार्थ भी प्रकाशयुक्त दिव्य वस्तु है । वृत्रासुर भी देव-सज्ञा से सम्बोधित है । ऋग्वेद मे १०५ बार असुर शब्द प्रयुक्त हुआ है और उनमे ९० बार उसका प्रयोग शोभन अर्थों मे और केवल १५ स्थानो पर वह दवताओ के शत्रुओ का वाचक है ।

असुर और देव दोनो शब्दो का प्रयोग वेदो मे विशेष शक्ति, विशेष सम्मान और विशेष गुणी व्यक्तियो के लिए भी होता रहा है । ऋग्वेद (२।१२) में मनुष्य और असुर दोनो एक ही कोटि मे रख कर सम्बोधित किये गये है । वैदिक मत्र-द्रष्टाओ मे असुर-आचार्यों का नाम भी आता है । ऋग्वेद म० १० सूक्त १८९ के द्रष्टा 'सर्पयाजी' ऋषि असुर-वश के थे । ऋग्वेद म०, ९,८९,८८ और ९९ सूक्तो के मत्र-द्रष्टा ऋषि असुराचार्य उशना कवि भृगु के पुत्र थे । उनको कही-कही शुक्राचार्य भी कहा गया है । अथर्ववेद को भृगु-अगिरा वेद अर्थात् अथर्वागिरस, भृग्वागिरस भी कहा गया है । अनेक आथर्वण-सूक्त उशना द्रष्ट है । उशना महान् भिषक भी थे । उशना के मत्रो का विकृत रूप 'अवेस्ता' मे भी मिलता है । प० भगवद्दत्त कृत 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' (पृ० १६२) के अनुसार उशना एक ओर वेद-प्रवचनकर्त्ता थे और दूसरी ओर उन्होंने लोक-भाषा मे अर्थशास्त्र आदि का भी प्रवचन किया था ।

प्रारम्भ मे आथर्वण-सूक्तो से आय अनार्य समान रूप से प्रभावित थे, परन्तु कालान्तर मे असुराचार्य द्वारा द्रष्ट एव प्रचारित मारण, मोहन, उच्चाटन विषयक मत्रो का विशेषकर असुरो मे अधिक प्रचार हुआ । मालूम होता है देवासुर सग्राम के बाद पारस्परिक द्वेष-भाव के कारण असुरो मे यह बहु प्रचारित अथर्ववेद को वेदत्रयी से पृथक् रखा गया । देवासुर-सग्राम मे पराजित असुरो द्वारा ईरान मे पहुँचने पर ईरानी भाषा मे प्रचलित अथ्रवन का नामकरण और ईरानियो मे प्रचलित तत्र-मत्रो का अधिक प्रचार हुआ ।

जलप्लावन से त्राण पाने के बाद मनु द्वारा जिस यज्ञ का आयोजन किया

गया था, उसमें किलात और आकुलि नामक असुर ब्राह्मणों को भी आमंत्रित किया गया था (किलाताकुली असुरब्राह्मण इति आहूत)।

वेद और पुराणों में सुर और असुरो के बीच पारस्परिक विवाह-सम्बन्धो का भी वर्णन आता है। स्वय देवराज इन्द्र की स्त्री शची पुलोमा दैत्यराज वैश्वानर की पुत्री थी। शची पुलोमा ऋग्वेद (१०।१५६) की मत्र-द्रष्टाओ मे है। दैत्यगुरु शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी और असुरराज वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा आर्य-नरेश ययाति को ब्याही थी। ऋषि भृगु की पत्नी च्यवन की माता भी दैत्यपुत्री थी। रावण के पिता विश्रवा के साथ सुमालिन राक्षस की पुत्री कैकसी और ऋषि भारद्वाज की पुत्री ब्याही थी। भीमसेन ने वनवासकाल मे अपनी माता और भाइयो की सम्मति से हिडिम्बा नामक असुर-महिला से विवाह किया था।

इस प्रकार वैवाहिक सम्बन्धो द्वारा ही देव और दानवो की सामाजिक एव धार्मिक समानता प्रतिपादित नही होती, वरन् वेद और पुराणो में देवताओ के साथ अनेक असुरो को भी वेदो और शास्त्रो का विज्ञाता एवं चरित्रवान् बताया गया है। उन्हे भी 'सर्वे वेदविद शूरा सर्वे सुचरितव्रता' (वनपर्व) कहा गया है। 'रामायण' (३।११।५६) में लिखा है कि वे सस्कृत में बातचीत करते थे। असुर और राक्षसो की नामावली भी इतनी सभ्य और सुसस्कृत रूप मे मिलती है कि उससे यह कही भी प्रकट नही होता कि उनकी उत्पत्ति आर्यवश से बाहर किसी असस्कृत एव असभ्य जाति से है।

यद्यपि वैदिक काल से ही देव और असुर, दोनो सौतेले भाइयो मे आजकल की ही भाँति सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एव राजनीतिक अधिकार-लिप्सा के कारण परस्पर गृहयुद्ध आरम्भ हो गये थे। पारस्परिक मनोमालिन्य एव उत्तरोत्तर उग्र विरोधो के कारण एक ने दूसरे का बहिष्कार कर, एक-दूसरे को देव-दानव, आर्य-अनार्य, छोटा-बडा, सभ्य और असभ्य घोषित कर अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली थी, परन्तु उस समय भी एक-दूसरे की मौलिक एकता सर्वमान्य थी। प्रह्लाद का पिता राक्षस था और रावण परम तपस्वी ब्राह्मण विश्रवा मुनि का पुत्र था। परम धार्मिक आर्य-महिला से कस और कस की बहिन देवकी से श्रीकृष्ण उत्पन्न हुये हैं। आर्य-साहित्यकारो ने हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु और रावण-कुम्भकरण आदि राक्षसो को शाप-भ्रष्ट तपस्वी कहा है।

आर्य-साहित्य मे केवल देवो को ही नही, असुरो को भी 'आर्य' कहकर सम्बोधित किया गया है। वाल्मीकि 'रामायण' (६।१६।६) मे मन्दोदरी असुरराज रावण को 'आर्यपुत्र' कहती है। वानरराज बाली को उसकी पत्नी 'रामायण' मे

'आर्यपुत्र' और 'आर्य' नाम से पुकारती है (वा० ४।१५।८ ।

वस्तुत एक ही प्रजापति से उत्पन्न देव और असुरों का पृथक्-पृथक् माताओ से उत्पन्न होने के कारण यह पारिवारिक मनोमालिन्य, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एव राजनीतिक कारणो से उत्तरोत्तर उग्रतर होता चला गया। उस प्राचीन युग में पिताओ का नही, वरन् माताओ का अधिक महत्व था। देवों और दानवो की माताएँ अलग-अलग थी, जिनका आजकल की ही भाँति परस्पर मतैक्य नही था। अत एक ही पिता के पुत्र होते हुए भी सौतो की सामाजिक एव आर्थिक विषमताओ के कारण पिताओ के नाम से नही, वरन् माताओ के नाम पर देव और दानवो का वंश-क्रम चला। सौत और सौतेले का ऐतिहासिक सघर्ष, जिसके कारण घरो और राज्यो मे समय-समय पर सर्वत्र अनेक भयकर देवासुर-सग्राम हो चुके है, सर्वविदित है। उस युग मे जब एक पति की कई पत्नियाँ थी, सौतो का यह पारस्परिक वैमनस्य स्वभाविक था। ऋग्वेद मे इस सौतिया डाह की, सौतो के प्रति परस्पर घोर घृणाभाव की, अभिव्यक्ति है। ऋग्वेद (१०।१४५, १,२,३,४,५) के अनुसार इन्द्राणी अपनी सौतो को अधिक के अधिक दु ख देने एव उन्हे अपनी दृष्टि से दूर करने के लिए प्रार्थना करती है, वह कामना करती है कि उसकी सौत नीच से भी नीच एव निर्बल से भी निर्बल हो जाय। वह सौत का नाम तक नही लेना चाहती। कहती है कि 'सपत्नी सबको अप्रिय है, मै उसे दूर भेज देती हूँ।' सपत्नियो के प्रति, स्वर्गाधिपति इन्द्र की इन्द्राणी के एक परम सम्माननीय ऋग्वैदिक आर्य-महिला के ये विचार उस युग मे दिति, अदिति आदि कश्यप की अनेक पत्नियो का भी प्रतिनिधित्व करते है।

अदिति अत्यन्त सयमी और विनयशील थी। उसकी सन्तान भी देवस्वरूप, विनयी और सयमी हुई, परन्तु दिति, दनु और कद्रू के पुत्र उद्धत, क्रोधी और अविनयशील थे। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकृति एव स्वभाव से सम्पन्न सौतो की सन्तानो म रात-दिन गृहकलह एव ठोकपीट होती रही। परिणामस्वरूप एक ही परिवार मे दो विपरीत सस्कृतियाँ पल्लवित होने लगी। कालान्तर मे कौटुम्बिक विस्तार एव उनकी बढती हुई महत्वाकाक्षाओ के साथ-साथ एक ही सजातीयो की यह सास्कृतिक विषमता अनेक सामाजिक, धार्मिक एव राजनोतिक सघर्षो मे फूट पडी। पैतृक सम्पति का एकमात्र विभाजन इन दैनिक गृहयुद्धो का अभी तक अतिम निराकरण रहा है। इसी आधार पर आर्यों का आदि देश सप्तसिन्धु (गढवाल) सौतो की सख्या के अनुसार देव, दैत्य, दानव और नागो मे विभाजित किया गया। इतिहासकारो का अभिमत है कि गढवाल के अतिरिक्त भारतवर्ष के अन्य भागो मे सौतियावाँट का अस्तित्व नही है।

आज से कुछ वर्ष पूर्व तक वेदप्रतिपादित माताओं के महत्व की परम्परानुसार गढ़वाल में 'सौतियाबांट' की यह परम्परा प्रचलित थी। डॉ० एल० डी० जोशी ने 'खस-फेमली लॉ' (पृ० ६३, ६४ और ६५) में इसको विस्तारपूर्वक सप्रमाण सिद्ध किया है। उनके कथनानुसार आर्यावर्त्त के आर्यों से स्वतन्त्र गढवाल की 'सौतियाबांट' की यह प्रथा उनके उत्तराधिकार में प्राप्त प्राचीन मातृ-प्रधान युग की अवशेष है, क्योंकि गढ़वाल के अधिकाश निवासी आर्यों की उस आदि शाखा के वशज हैं, जो जलप्लावन के अवतरण पर, अपने आदि देश (ब्रह्मावर्त्त) को छोडकर आर्यावर्त्त मे नही गये। कुमाऊँ को 'सौतियाबांट' की इस प्रथा के समर्थन में राहुल जी भी 'कुमाऊँ' (पृ० १६१) में लिखते हैं—पहले रिवाज था कि अनेक पत्नियो की सन्तानों मे पैतृक सम्पत्ति के समान बँटवारे की जगह उत्तराधिकार सौतो मे बराबर बँटता था। कद्रू और विनता से सम्बन्धित गढवाली लोकगीतो में भी उनकी इस पारिवारिक अशान्ति की स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है।

इस प्रकार सौतियाबांट की इस वैदिक परम्परानुसार हरिद्वार से ऊपर सप्तसिन्धु का यह समस्त गिरि प्रदेश दिति के दैत्यो, अदिति के आदित्यो, दनु के दानवो और कद्रू के नागो मे पृथक्-पृथक् विभाजित हो गया। मालूम होता है कि अलकनन्दा से पार पश्चिमोत्तर गिरि प्रदेश, (अहिर्बुध्न) परगना नागपुर की मदाकिनी उपत्यका और टिहरी के यमुनोत्तरी-गगोत्तरी क्षेत्र को लगा कर, दिति के दैत्यो और कद्रू के नागो को मिला। उसकी राजधानी ऊखीमठ या जोशीमठ थी। गढवाल का पूर्वोत्तरी क्षेत्र, बधाण (बुध्न) दानपुर एव कुमाऊँ को लगाकर दनु के दानवो के अधिकार मे तथा मानसरोवर से नीचे, परगना पैनखडा का बदरी क्षेत्र व चान्दपुर (चन्द्रबुध्न) का गन्धमादन पर्वत-प्रान्त जो स्वर्ग कहलाता था, उस पर अदिति के सबसे जेष्ठ पुत्र इन्द्र ने अधिकार कर लिया। उससे नीचे हरिद्वार तक का दक्षिणी गिरि प्रदेश अन्य आदित्यो के हिस्से मे पडा।

प्रकृति-श्री से सम्पन्न एव सीमान्त प्रदेश होने के कारण, इन्द्र का स्वर्ग-राज्य सदैव विवादग्रस्त क्षेत्र रहा है। उसके पश्चिमोत्तर क्षेत्र नागपुर मे अहियो (नागो) और पूर्वोत्तर क्षेत्र दानपुर मे दनु के दानवो का बोलवाला था। अधिक शक्तिसम्पन्न होने पर समय-समय पर कभी दानव और कभी नाग ही नहीं, वरन् स्वय देव भी बलपूर्वक इस क्षेत्र पर अधिकार करने का प्रयत्न करते रहे हैं। हिरण्यकशिपु, बलि एव नागा नरेश नहुष द्वारा इन्द्र को बलपूर्वक स्वर्ग से निकाल कर, उसके राज्य पर अधिकार करने की कई पौराणिक कहानियो से यह बात प्रमाणित है। देवताओ के साथ भी इस क्षेत्र के लिए युद्ध होने के

अनेक प्रमाण मिलते हैं। अत इन्द्र दैत्यो से ही नही देवो से भी भयभीत रहता था। यह भी असम्भव नही कि उत्तर-गिरि का समस्त गिरि-प्रदेश गन्धमादन पर्वत क्षेत्र को लगा कर, दैत्य और दानवो के हिस्से मे सब्बा हो; परन्तु प्रकृति-सौंदय से सम्पन्न होने के कारण शक्तिशाली इन्द्र ने गन्धमादन पर्वत प्रदेश दैत्य और दानवो से बलपूर्वक हस्तगत कर लिया हो।

भूमि के विभाजन मे उसका विस्तार कम हो या अधिक, वह किसी परिवार से सम्बन्धित हो या किसी राज्य-साम्राज्य की हो, यदि उसके बीच मे नदी, पर्वत अथवा अनुलघनीय कोई प्राकृतिक सीमा न हो तो उसका सीमान्त क्षेत्र विवादास्पद ही रहता है। यदि यह सीमान्त क्षेत्र विशेष श्री-सम्पन्न भी हो तो दोनो ओर से उसको हस्तगत करने का प्रयास होता रहता है, जिसके कारण युद्धस्थिति उत्पन्न होनी स्वाभाविक है। सम्भव है कि विद्रोहिणी सौतो के विद्रोही पुत्रो के बीच पैतृक सम्पत्ति की सौतियाबांट से भी कुछ ऐसी ही अनिश्चित एव अनिर्णीत राज्य-सीमाएँ भी रह गयी हो, जो पीढियो तक विवाद का कारण बनी रही हो। अनेक पौराणिक कहानियो द्वारा यह स्पष्ट है कि स्वर्गाधिपति इन्द्र अपने स्वर्गराज्य की इस विवादास्पद स्थिति के कारण सदैव चिंतित रहे है और देवताओ मे सबसे अधिक इन्द्र के साथ असुरो की घोर शत्रुता का यह भी एक मुख्य कारण रहा है। जो कुछ भी हो, पाडवो के महाभारत काल मे भी स्वर्ग के इस नन्दन कानन पर देवताओ के साथ अनेक शक्तिशाली असुरो का भी आधिपत्य प्रमाणित है। पुराणो द्वारा भी देव और दानवो के बीच इस सम्पत्ति-विभाजन की पुष्टि होती है (**विष्णुपुराण**,२२)।

असुरो का निवास स्थान

श्री नारायण पावगी '**दि आर्यावर्तिक होम ऐन्ड दि आर्यन क्रैडल इन दि सप्तसिन्धूज**' मे लिखते है कि 'युगो तक असुर लोग पर्वत-पृष्ठो और उपत्यकाओ मे जनमार्गों से दूर, सघन वनो, एकान्त स्थानो मे निवास करते रहे। जिसके कारण उनकी प्रकृति भी ऐसी ही हो गयी। आजीवन बनवासी एव दीर्घकाल तक एकान्त जीवन बिताने के कारण असुरा का स्वभाव भी क्रूर एव निर्दय होना स्वाभाविक था।' ऋग्वेद मे लिखा है कि असुरो का निवास स्थान जिस पर्वत-प्रदेश मे था, वह असाधारण, अनुलघनीय एव गगनस्पर्शी था और वहाँ अनेक नदी-नालो तथा जल-स्रोतो से तैर कर जाना पडता था (ऋ० ५।२६।४)। देवराज इन्द्र और वृत्रासुर तथा शम्बर के युद्ध मे पर्वतो, गिरियो और अद्रियो का स्पष्ट उल्लेख है (ऋ० २।१५।८)।

अगिरा के विनय करने पर इन्द्र ने बल नामक असुर का वध किया तथा

पर्वत-पृष्ठ में प्रस्तर-खडों से निर्मित सुदृढ़ द्वारों को खोला। वे द्वार पर्वतो में प्रस्तर-खडों से निर्मित थे। इतना ही नहीं ऋग्वेद (८।३२।६) में स्पष्ट है कि वह पर्वत हिमाच्छादित (हिमालय) था। प्रकाशमान इन्द्र ने वृत्रासुर का, और्णनाभ का और अहीशुभ का वध किया। उन्होने अर्बुद को भी बर्म से वेध डाला।

इन्द्र स्वय पर्वतीय था (ऋ० १।११।५)। वह पर्वतीय परिस्थितियो से पूर्ण परिचित था (ऋ० ८।६।२८)। उसके उपदेश पर्वत-प्रान्तो में विचरण करते थे (ऋ० ८।१३।८,१०)। उसको वृत्रासुर शर्यणावती नदी-तट पर पर्वत-प्रदेश में मिला था (ऋ० १।८४।१४)। उसने अगम्य और ऊँचे पर्वतों की ओर प्रमुख सेनानायको सहित प्रयाण किया, जहाँ पृथ्वी आकाश से मिली हुई थी। सैनिको ने एक-दूसरे को थाम कर, परस्पर एक-दूसरे की सहायता करके, वहाँ के नदी-नालो को तैर कर पार किया था (ऋ० ५।२६।४)। अलघ्य और अगम्य पर्वत-प्रान्त का निवासी होने के कारण पर्वतराज शम्बर को खोज निकालने में इन्द्र को ४० वर्ष लगे थे (ऋ० २।१२।१०)।

'जिसने पर्वत में छिपे शम्बर को ४०वें शरद मे खोज निकाला, जिसने बलवान् दानव 'अहि' को मार डाला। हे लोगो! वही इन्द्र है।'

ऋग्वेद मे पत्थरो से बने हुए शम्बर के १०० गढो का वर्णन है, जिनमें से ९९ गढो को इन्द्र ने आर्य-नरेश दिवोदास से मिल कर नष्ट किया था (ऋ० ७।९७।७)। मायावी विप्र दैत्य के भी दृढ दुर्गों को इन्द्र द्वारा गिराये जाने का ऋग्वेद मे उल्लेख है (१०।१३८।३)। शम्बर ने पर्वत से उतर कर आर्यों पर आक्रमण किया था (ऋ० १०।२६।५)। असुर पर्वत मे शिला-खडो से निर्मित दृढ दुर्गों में रहते थे। शम्बर का राज्य शीत-प्रधान-प्रदेश में था। वहाँ सोम बहुत होता था। लोग भेडें पालते थे और ऊनी परिधान पहनते थे (ऋ० ९।८६।४७)। देवासुर-सग्राम जिस प्रदेश में हुए वहाँ इक्कीस पर्वत थे और ९० नदियाँ बहती थी। इन्द्र ने २१ पर्वत-तटो को तोड कर ९० नदियो के ऊपर वज्र-प्रहार किया था (ऋ० ३।१०९।८,८।८५।१,२)। ऋग्वेद (१०।१०४।८) मे स्पष्ट लिखा है कि —"हे इन्द्र! रमणीय और अमित गति वाली गंगा आदि सात नदियों के द्वारा तुमने शत्रु-पुरियो को नष्ट करके, सिन्धु को बढाया। तुमने देवो और मनुष्यो के उपकार के लिए ९९ नदियो का मार्ग परिष्कृत किया।"

इस मत्र के अनुसार शम्बर और इन्द्र का सग्राम सप्तसिन्धु के उस क्षेत्र मे हुआ जहाँ (आचार्य सायण के कथनानुसार) गगा आदि सात नदियो के अतिरिक्त ९९ नदियाँ भी बहती थी और उसी पर्वत प्रदेश में इन्द्र ने शम्बर का भी वध किया था (ऋ० ४।३०।१४)। वृत्र की माता दनु को भी इन्द्र ने मार डाला

(ऋ० १।३२।६)। शम्बर दानव भी उसी का पुत्र था (केदार०।८।२८)। अगिरा आदि के लिए भी इन्द्र ने जिस क्षेत्र मे गायो की खोज निकाला था, वह भी सुदृढ पर्वत-प्रदेश था (ऋृ० ३।३१।५,६,७)।

गढ़ों का देश गढ़वाल—ऋग्वेद मे इन्द्र द्वारा नष्ट किये गये विशाल प्रस्तर खंडो से निर्मित शम्बर के १०० दृढ दुर्गों का उल्लेख है (ऋ० ५।२६।६)। यह स्पष्ट ऐतिहासिक सत्य है कि गढ़वाल मे सर्वत्र पर्वत-शिखरों पर अनेक भग्नावशिष्ट गढो के खडहर पाये जाने के कारण, उसका नाम गढवाल पडा है। कुछ इतिहासकार यहाँ केवल बावन गढो का ही उल्लेख करते हैं, जो असत्य है। हो सकता है कि उस समय बावन सामन्तो में बँटे हुए इस गिरि प्रदेश के उन गढ़ो की परम्परा मे केवल ५२ गढ़ ही आबाद रहे हो, परन्तु गढवाल के सुनसान वनो मे यत्र-तत्र पर्वत-पृष्ठो पर विशाल-प्रस्तर-खंडो से निर्मित लगभग १०० गढो के उक्त अवशेष आज तक सुरक्षित है।

गढवाल के पर्वत-शिखरो पर अनेक भग्नावशिष्ट दुर्ग ऐसे है जिनका पास-पडोस के कुछ विशेष व्यक्तियो के अतिरिक्त कोई नाम तक नही जानता और न किसी सरकारी कागज-पत्रो मे उनका कोई लिपिबद्ध उल्लेख है। वे कही राजगढ, कही रानीगढ, कही लोहवागढ़, कही कत्यूगढ़, कही सौलागढ, कही धौलागढ इत्यादि नामो से अथवा कही केवल 'गढ' के नाम से पास-पडोस मे प्रसिद्ध है। उनमें कुछ गढ ऐसे भी है जिनमे गाँव बस गये हैं और वे सरकारी कागजो मे लिपिबद्ध हो चुके है। कागजो मे आज भी उनका नाम गढ, गढकोट, कोट, गढतोक, गढखेत आदि दर्ज है। अनेक गढो के अवशेषो को निकटस्थ ग्राम-वासियों ने खेतो का निर्माण कर पूर्णत नष्ट कर दिया है। बावन गढो के अतिरिक्त ऐसे कुछ गढो का विवरण जो पौडी और चमोली गढवाल के सरकारी कागजपत्रो मे अकित है, निम्नलिखित है

	वधाण	देवल गढ	बारह स्यूं	चौंद कोट	त० सलान	म० सलान	गगा सलान	कुल
गढ़		१	६				१	८
गढकोटा	२		२		२	१	२	९
कोट	३	१					३	८
कोटा		२	४	१	६	१		१४
गढखेत						१		१
गढथ	१		१					२
कुल	६	४	१४	१	८	३	६	४२

स्व० रतूडी जी द्वारा वर्णित ५२

६४

इस संख्या में टिहरी गढवाल में स्थित गढो की संख्या सम्मिलित नहीं है।

यद्यपि प्राचीन गढ-परम्परानुसार यहाँ १६वी सदी तक भी कुछ गढो का निर्माण हुआ है, परन्तु दुर्गम-वन-प्रान्तो में कई भग्नावशिष्ट प्राचीन गढो के अस्तित्व से कोई इनकार नही कर सकता। कई गढो का विस्तार और उनके अवशेष उनका असाधारण प्रभुत्व प्रमाणित करते हैं। कई गढ़ों मे, निकटस्थ नदी-तट तक गुप्त सुरगों का निर्माण किया गया है, जिनके दोनो पार्श्वों में दीपक ररने के लिए आले और नीचे सुरग में जाने के लिए सुडौल सीढियाँ निर्मित हैं। पर्वत-प्रागणो मे एक ओर, उस युग के एकमात्र रक्षात्मक शस्त्रागार, विशाल प्रस्तर-खडो के ढेर भी सुरक्षित हैं।

यह भी उल्लेखनीय है कि गढवाल के अनेक ऐतिहासिक दुर्ग जो ऊँचे सीधे शिखरो पर अवस्थित थे, इस क्षेत्र मे लगातार होने वाले भयकर भूचालों के कारण धूलि-धूसरित हो गये हैं। इन ऐतिहासिक भौतिक विप्लवो के अतिरिक्त सात दिन और सात रात तक, बार-बार होने वाले १८०३ ई० के भूचाल के बाद, जिसमे ७५ प्रतिशत गाँव भी टूटे हुए शैल-शिखरो के नीचे दब गये थे, पर्वत-पृष्ठो पर कई प्राचीन गढो के अवशेष सुरक्षित हैं। स्व० रतूडी जी ने अपने इतिहास मे जिन ५२ गढो की नामावली प्रस्तुत की है, उसमें कई महत्वपूर्ण गढो का नाम नही है। इन गढ़ो मे से कई गढ कालकवलित हो चुके हैं, कुछ खेतो का निर्माण होने के कारण समाप्तप्राय है, कुछ का अस्तित्व आज भी अज्ञात है, तो भी ऋग्वेद मे वर्णित पर्वतराज शम्बर के १०० गढो के अवशेष गढवाल के पर्वत-शिखरो पर आज भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर हो सकते हैं। उत्तरोत्तर विस्मृति के गर्भ मे विलीन होने वाले इन रहस्यमय दुर्गों का थोडा-बहुत विवरण जो आज भी यहाँ के बूढे-बुजुर्गों के अस्पष्ट स्मृति कोश में सुरक्षित हैं, उससे अनेक ऐतिहासिक रहस्यो एव लोकगाथाओ का उद्घाटन हो सकता है।

राहुल जी 'कुमाऊँ' (पृ० ३०) में लिखते हैं —शम्बर के पहाडी दुर्ग पाचाल (वर्तमान रुहेलखड) के उत्तर में होने से गढवाल-कुमाऊँ के पहाडो में ही रहे होगे। राहुल जी ने 'हिमालय परिचय' (१) (पृ० ५२ और ६०) में भी शम्बर के इन गढो का अस्तित्व गढवाल और कुमाऊँ में ही होना स्वीकार किया है। परन्तु उनका यह कथन युक्तिसगत नही है कि वे युद्ध हिमालय के भीतरी भाग मे नही हुये, वरन् पाचाल (रुहेलखड) से मिलते हुए पर्वतीय क्षेत्र में हुये थे, क्योकि उनके कथनानुसार वैदिक आर्य पर्वतो मे बसने के लिए बहुत पीछे आये थे।

हम इससे पूर्व स्पष्ट कर चुके है कि देव और असुर एक ही प्रजापति के पुत्र और सजातीय थे। वे सब, आर्यावर्त्त के अस्तित्व मे आने से पूर्व सप्तसिन्धु एवं ब्रह्मावर्त्त मे रहते थे। उस समय रुहेलखड के तराई के मैदान में मानव निवास

सम्भव भी नहीं था। ऋग्वेद में जिन असुरोपासक आर्यों को अहि और कालान्तर में नग-निवासी होने के कारण नाग कहा गया है, उनका अहिर्बुध्न, अहिक्षेत्र अर्थात् नागपुर (उत्तर गढवाल) मेप्राबल्य था। असुरराज वृत्र और शम्बर को भी अहि (नाग) कहा गया है (ऋ० १।३२।१,२,३,५२।१२।११)। इनको इन्द्र का सजातीय भी कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि ये इस क्षेत्र में बसने वाले आर्य-अनार्य एव देव और असुरोपासक दोनो आर्य-शाखाओं के अधिपति थे।

शम्बर आदि दानवो का राज्य-क्षेत्र हिमालय पर्वत में था। वहाँ सोम होता था और शीत का आधिक्य था। ऊनी वस्त्रो का प्रयोग प्रचलित था। गढवाल के दक्षिण रूहेलखड के सीमावर्ती क्षेत्र मे विशाल शिलाखडो से निर्मित १०० दृढ दुर्गों का आस्तित्व तथा विजयी आर्यों द्वारा उनके विनाश की कल्पना युक्ति युक्त नही है। ४० वर्ष तक उसके दृढ-दुर्गों पर देवराज इन्द्र के आक्रमणो से भी स्पष्ट है कि शम्बर का राज्य ऐसे अगम्य-पर्वत प्रदेश मे था, जहाँ आक्रमण-कारियो का सफल आक्रमण असम्भव नही तो अत्यन्त कठिन और असुविधाजनक अवश्य था। गढवाल का उत्तरी क्षेत्र तथा अल्मोडे के सरयू और गोमती के अधिकाश तटवर्ती परगने मल्ला दानपुर (दानवपुर) आदि १३००० फुट से अधिक ऊँचाई पर हैं। राहुल जी 'कुमाऊँ' (पृष्ठ ११) मे लिखते है —"जोहार, दरमा और मल्ला दानपुर के परगने १३००० फुट से अधिक ऊँचाई पर है। वहाँ का जलवायु ध्रुवकक्षीय है।" राहुल जी के मरयू और गोमती नदी के तटवर्ती क्षेत्र दानवपुर में, ध्रुवकक्षीय जलवायु के इस उद्धरण द्वारा आर्य एव असुरो के आदि देश के सम्बन्ध मे इतिहासकारो की अनेक शकाओ का समाधान हो जाता है। आर्यों के देश मे ध्रुवकक्षीय वातावरण एवं सरयू तथा गोमती नदी के विषय मे इतिहासकारो की अनेक उपहासास्पद कल्पनाओ का भी इसमे निराकरण हो जाता है।

हम इससे पूर्व बता चुके है कि जब तराई-भावर मे समुद्र लहरा रहा था, उस समय हरिद्वार से ऊपर शिवालिक पर्वत-माला मे सर्व प्रथम अमैथुनी सृष्टि द्वारा मानव-उत्पत्ति हुई। उस सृष्टि मे सर्व प्रथम ब्रह्मा के सात मानसपुत्रो मे सबसे जेष्ठ होने के कारण महाराज दक्ष, प्रजापति के पद पर प्रतिष्ठित किये गये। वे सर्व प्रथम आर्य नरेश थे (ऋ० १०।५।७)। दक्ष अपनी जन्म भूमि मे मित्र, वरुण, अर्यमा आदि सप्त होतारो के द्वारा राज्य-शासन करते थे (ऋ० १०।६४।५)। उनकी राजधानी दक्षिण गढवाल में समुद्र-तट पर कनखल के आस-पास कही थी। उस युग मे समुद्र-तट के इस पर्वतीय पार्श्व मे, आर्यों की ही नही, मानव की आदि सभ्यता का श्रीगणेश हुआ। तराई, भावर के उस समुद्र-तट पर हिमालय की तलहटी के इन सघन वनो मे आज भी उस प्राचीन

आर्य-सभ्यता के अवशेष सुरक्षित हैं*गढ़वाल नरेश इसी दक्ष प्रजापति की कन्याओं दिति और अदिति से महर्षि कश्यप द्वारा—जिनका आश्रम हरिद्वार मे था, क्रमश: इसी क्षेत्र में दैत्यो और आदित्यो की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार यह सप्तसिंधु गढ़वाल देव और दानव दोनो का उत्पत्तिस्थल है। मध्य हिमालय का यह सर्वोच्च क्षेत्र, सर्व प्रथम समुद्र गर्भ से बाहर निकला। अत भूगर्भ-शास्त्रियो के कथनानुसार, यही जीव और वनस्पति की प्रथम उत्पत्ति सम्भव है।

भारतीय वाङ्मय में सप्त मन्वन्तरों का उल्लेख है जिसके अनुसार प्रथम मन्वन्तर में मानव-धर्म के सर्व प्रथम सस्थापक, स्वायम्भुव मनु उत्पन्न हुए। उनका समय हिन्दुओ की कालगणनानुसार आज से १९७१२२१०६३ वर्ष पूर्व था। प्रथम मन्वन्तर और सप्तम मन्वन्तरो के बीच कई जलप्लावन एव भौगर्भिक उथल-पुथल होने का भी उल्लेख है। इसी स्वायभुव मनु की वश-परम्परा में, सप्तम मन्वन्तर में आर्य-नरेश वैवस्वत मनु भी हुए। 'गढ़वाल' के दक्षिण-गिरि से लेकर उत्तर गिरि तक, उनका और उनके ही सजातीय बन्धुओ असुरोपासक आर्यों का राज था। पुराण-ग्रन्थो से प्रमाणित होता है कि जल-प्लावन से पूर्व हरिद्वार के निकट कनखल के आसपास-मरीचि से लेकर वैवस्वत मनु तक सूर्यवश, और मदाकिनी तथा अलकनन्दा के तटवर्ती क्षेत्र में महर्षि अत्रि मे चन्द्रवश की उत्पत्ति हुई।

चन्द्रवश का उत्पति स्थल

वैवस्वत मनु जलप्लावन के अवसर पर, जब उनका दक्षिण गिरि-प्रदेश जगमग्न हो गया तो वे उत्तर गिरि के सरस्वती नदी के तटवर्ती क्षेत्र मे जा बसे थे। उनकी पुत्री इला और बुध से (जिनका निवास स्थान बधाण (बुध-अयन) था) उत्पन्न चन्द्रवशीयो का उत्पत्तिस्थल चन्द्रपुर (वर्तमान चान्दपुर) अलकनन्दा का तटवर्ती भूभाग आज भी चान्दपुर के नाम से प्रसिद्ध है। पुराणो के कथनानुसार देवगुरु वृहस्पति की पत्नी तारा को जब चन्द्रमा भगा कर ले गये तो बृहस्पति ने देवताओ तथा इस क्षेत्र के अधिपतियो शुक्र और दैत्यो से सहायता ली। देव और दानवो मे युद्ध हुआ और शान्ति स्थापित होने पर तारा वृहस्पति को लौटा दी गयी। देवताओ ने अपने शस्त्र बदरीकाश्रम

*There are traces of an ancient civilization in what is now a demse forest in the TARAI, at the foot of the pills.

—Cunningham Archaeological Reports, Vol II page 238. and

Journal of the Asiatic Society, Bengal VI, part I, 154

में हिमालय पर्वत पर दधीचि ऋषि के आश्रम में जमा कर दिये। इस पौराणिक कथानक से देव और दानवों का जहाँ हिमालय के इस बदरीकाश्रम में संघर्ष एवं निवास स्थान प्रमाणित होता है, वहाँ इसी क्षेत्र में चन्द्रमा, बुध एवं शुक्राचार्य तथा असुरों का ऐतिहासिक अस्तित्व भी प्रमाणित है।

जलप्लावन के बाद उत्तर गिरि प्रदेश मे सरस्वती नदी के तटवर्ती प्रदेश मे सपरिवार वैवस्वत मनु रहते थे।

'श्रीमद्‌भागवत' (६।१) आदि पुराणों में मनुपुत्र सुद्युम्न का भी उत्तर दिशा की ओर मेरु पर्वत के निकट शिव के कैलास मे, जहाँ नर-नारायण का आश्रम था, प्रस्थान करने का वर्णन है। उसी क्षेत्र मे सुद्युम्न का 'इला' नामक स्त्री में परिवर्तित होने का भी उल्लेख है। इला और बुध के संयोग से स्पष्ट है कि इसी क्षेत्र मे सर्व प्रथम चन्द्रवंशी नरेश पुरूरवा का जन्म हुआ। इन पौराणिक कथानकों मे बदरीकाश्रम, मेरुपर्वत, कैलास, नर-नारायण-आश्रम, अलकनन्दा, मन्दाकिनी और सरस्वती नदी का तटवर्ती प्रदेश, जो उस युग मे कुरु के नाम से विख्यात था, देव और असुरो, चन्द्रमा और बुध तथा चन्द्रवंशी राजा पुरूरवा और उर्वशी का क्रीडास्थल स्पष्ट है। इन स्पष्ट भौगोलिक एवं ऐतिहासिक सत्यों के बावजूद पुराणों के इन भाष्यकारो द्वारा राजा सुद्युम्न और पुरूरवा की राजधानी प्रतिष्ठानपुर झूसी, इलाहाबाद मे बतलाना तथा सरस्वती नदी का कुरुक्षेत्र मे भौगोलिक अस्तित्व प्रमाणित करने का प्रयास करना उनके भौगोलिक अज्ञान एवं हठधर्मी का परिचायक नहीं तो क्या है?

कुरु जनपद भी उत्तर तथा दक्षिण दो भागो मे विभक्त था। उत्तर कुरु का उल्लेख संस्कृत साहित्य मे मिलता है। 'महाभारत' मे उत्तर कुरु कैलास और बदरीकाश्रम के बीच बताया गया है (महा० २।१४५।१२ १६)। कुरु के ही वंशज कौरव कहलाये और उन्ही की एक शाखा सम्भवत हिमालय के उस पार बसने वाली उत्तर कुरु के नाम से प्रसिद्ध थी। कुरु जनपद के इतिहास के विशद वर्णन 'महाभारत' एवं पुराणो मे मिलते हैं। इसका प्रारम्भिक इतिहास तो पौरवो के इतिहास का ही अंग है, परन्तु बाद वाला अंग कौरवो के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वही युग लौकिक रूप से अधिक ज्ञात भी है, जो इस प्रकार परम्परया विख्यात है, स्वायंभुव मनु की पुत्री इला के बुध से पुरूरवा नामक पुत्र हुआ जो चन्द्रवंशी क्षत्रियो का प्रथम पुरुष था। नहुष और ययाति उसके वंश मे अत्यन्त प्रसिद्ध और पराक्रमी राजा हुए।

चन्द्रमा के पुत्र बुध (बुध अयन) बधाण के निवासी थे। उनका वंश वृक्ष इस प्रकार है

१—अत्रि—ऋषि अत्रि असुरो के कुल पुरोहित शुक्राचार्य के पुत्र थे। उनका

और उनकी पत्नी अनुसूया का आश्रम नागपुर में है। आज भी उनकी स्मृति में उनके मन्दिरों में मेला लगता है। अत्रि और उनके वंशधरों का ऋग्वेद में कई स्थलों पर उल्लेख है।

२—**चन्द्रमा**—बृहस्पति की पत्नी तारा से उत्पन्न पुत्र।

३—**पुरूरवा**—पुरूरवा वैवस्वत मनु की पुत्री इला से उत्पन्न बुध के पुत्र थे, जिनका आश्रम भी इसी ब्रह्मावर्त्त क्षेत्र में सरस्वती के तट पर था।

४—**नहुष**—पुराणों के अनुसार जब वृत्रासुर के भय से इन्द्र मानसरोवर में जा छिपे तो देवताओं के गुरु बृहस्पति द्वारा राजा नहुष इन्द्र के स्थान पर स्वर्ग के अधिपति नियुक्त किये गये। इस प्रकार राजा नहुष और बृहस्पति का निवास स्थान इसी स्वर्ग में—मानसरोवर के आस-पास था।

५—**ययाति**—ययाति की प्रथम पत्नी शर्मिष्ठा से द्रुह्यु, अनु और पुरु हुए। दूसरी पत्नी देवयानी से, जो शुक्राचार्य की कन्या थी, यदु और तुर्वसु हुए।

चन्द्रवंश के प्रथम नरेश पुरूरवा हुए। वेद और पुराणों से प्रकट होता है कि उनकी राजधानी मदाकिनी और अलकनन्दा के तटवर्ती प्रदेश में थी। ऋग्वेद में वर्णित पुरूरवा और उर्वशी की क्रीडास्थली यही गन्धमादन पर्वत में अवास्थित स्वर्गभूमि थी (ऋ० १०।६५।१२, १।३१।४)। बुध चन्द्रमा के मूल प्रवर्तक चन्द्र (सोम) के पुत्र और महर्षि अत्रि के पौत्र थे। ऋषि अत्रि का आश्रम भी हिमालय नागपुर में है। '**विष्णुपुराण**' (४।६।४८) के अनुसार भी पुरूरवा ने उर्वशी के साथ, आनन्दपूर्वक अलकापुरी के अन्तर्गत सुन्दर पद्मों से युक्त मानसरोवर और सरस्वती नदी में बिहार करते हुए कई हजार वर्ष व्यतीत किये। '**मत्स्यपुराण**' (अध्याय ११६ से लेकर १२० तक) में हिमालय के इस क्षेत्र में पुरूरवा और उर्वशी की प्रकृति से सम्पन्न क्रीडास्थली का विस्तारपूर्वक वर्णन है। '**केदारखंड**' (५८।१३६, १३७) के अनुसार भी बदरीनाथ-धाम से आध कोश की दूरी पर उर्वशी-कुंड के निकट पुरूरवा ने उर्वशी के साथ रमण कर पुत्र उत्पन्न किये थे। महाकवि कालिदास का '**विक्रमोर्वशीयम**' नाटक इसी कथानक पर आधारित है। उर्वशी के पिता, ऋग्वेद के मंत्रद्रष्टा ऋषि नारायण भी यही बदरीनाथ में नर-नारायण आश्रम में रहते थे।

पुराणों में लिखा है कि पुरूरवा के पुत्र आयु से नहुष, रजि आदि पुत्रों की उत्पत्ति हुई। राजा नहुष ने अपने पराक्रम से देवराज इन्द्र से स्वर्ग (जो इसी गन्धमादन क्षेत्र का नाम है) का राज्य हस्तगत करके इन्द्राणी शची को भी अपनी राजरानी बनाने का प्रयत्न किया था। उन्होंने जब सप्तर्षियों को (जिनके आश्रम भी ऋषिकेश आदि हिमालय के इसी उत्तरी क्षेत्र में थे) अपना वाहन बनाया तो वे महर्षि भृगु और अगस्त्य द्वारा (जो यही अगस्त्यमुनि में रहते थे)

अभिशापित होकर स्वर्ग (गढवाल) से निष्कासित कर दिये गये। 'महाभारत' और पुराणो में नहुष को नागराज और नागेन्द्र कहा गया है। इससे परगना नागपुर और वहाँ के आदि निवासी नागो के प्रति उनके रक्त सम्बन्ध का स्पष्ट सकेत मिलता है।

नहुष के पतन के बाद उसके भाई रजि के शासनकाल मे प्रह्लाद के नेतृत्व में इन्द्र और देवताओ से पुन युद्ध होने तथा नागो का पराजित होकर नागलोक (नागपुर) मे शरण लेने का पुराणो मे वर्णन है। इन्द्र का रजि के राज्य पर अधिकार करना और उनके द्वारा बहिष्कृत इन्द्र का पुराणो के कथनानुसार मन्दाकिनी, गगा के तट पर गुरु बृहस्पति के पास जाने के उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि तारा के पति, देवगुरु बृहस्पति, पुरूरवा और उसके पुत्रो का राज्य भी इन्द्र की राज्य सीमा के निकट था, और उस क्षेत्र मे था जहाँ मदाकिनी, गंगा बहती है। इस प्रकार चन्द्रवश के प्रवर्तक पुरूरवा और उसके पुत्र-पौत्रो के राज्य की भौगोलिक स्थिति अलकनन्दा और मन्दाकिनी के तटवर्ती क्षेत्र, नागपुर, चान्दपुर तथा रुद्रप्रयाग के आस-पास निश्चित है। चान्दपुर का चन्द्रवश के साथ शब्द-साम्य एव भौगोलिक वास्तविकता ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

चान्दपुर, रुद्रप्रयाग के निकट, गढवाल के मध्य मे एक पर्वत शिखर पर स्थित ८वी शती से पूर्व गढवाल की प्राचीन राजधानी थी। उसके सुदृढ एव विशाल प्रस्तर खडो से निर्मित राजमहल के प्राचीन अवशेष आज भी दर्शको के लिए आश्चर्य की वस्तु है। इसके नाम से, इस पट्टी और परगने का नाम भी चान्दपुर है (गढ़वाल गजेटियर्स, पृ० १५६)।

पुरूरवा, नहुष और ययाति के पश्चात् मालूम होता है कि चन्द्रवश के अधिकाश शासक ब्रह्मावर्त्त के इस प्रदेश से बाहर आर्यावर्त्त मे चले गये थे। आर्यावर्त्त उनकी राजनीतिक हलचलो का प्रमुख केन्द्र बन गया था। परन्तु फिर भी पाँडव और जन्मेजय के राज्यकाल तक चन्द्रवश की इस क्षेत्र मे अटूट राजनैतिक एव साँस्कृतिक-परम्परा प्रचलित रही। 'महाभारत' से प्रमाणित होता है कि, पाँडवो की उत्पति एव उनका देहावसान भी यही हुआ। उन्होने अपने बनवास का भी अधिकाश भाग यही व्यतीत किया। इतना ही नही, उनके माता-पिता एव चाची-चाचाओ का भी शरीरान्त इसी क्षेत्र मे हुआ। पाँडव चन्द्रवशी थे। पाँडवो और उनके पूर्व पुरुषो का इस क्षेत्र के प्रति इतना पैतृक-आकर्षण, उनके चन्द्रवंश की अटूट परम्परा का ही परिपालन है। चन्द्रवश के जिन महापुरुषो का हिन्दू वाङ्मय मे उल्लेख हुआ है, उनका इस देश मे दीर्घकाल तक निवास प्रमाणित है। सामान्य चद्रवशीय व्यक्तियो का, जिनका इतिहास मे उल्लेख ही नही हुआ, उनका तो इस देश मे निवास स्वय सिद्ध है।

'केदारखण्ड' (६२।८ से ३५ तक) के कथनानुसार नारद जी ने स्वामी कार्तिकेय जी से पूछा कि 'जिस क्षेत्र में तप करने से बुध को चन्द्रवंश की प्राप्ति हुई, जिस वंश में बड़े-बड़े राजाओ का जन्म हुआ, वे सभी राजा धर्म-कर्म में तत्पर तथा देवताओ को भी विजय करने में सशक्त थे। उन्होंने केदार क्षेत्र मे तप किया।' तब भगवान् कार्तिकेय बोले कि 'चन्द्रमा ने परम रूपवती तारा से बुध, बुध ने इला नाम की स्त्री से पुरूरवा और पुरूरवा ने उर्वशी से इसी क्षेत्र मे आयु आदि नाम के आठ पुत्र उत्पन्न किये। आयु से नहुष और रजि ने भी नर-नारायण आश्रम में नारायण की आराधना की और मनुष्यो को मुक्ति देने वाले केदार मडल मे भगवान् विष्णु से तपस्या द्वारा देव-दुर्लभ वर प्राप्त किये। देवासुर-सग्राम मे रजि ने अनेक असुरो का वध किया। इन्द्र ने प्रतापी रजि द्वारा स्वर्ग से पदच्युत होने के भय से, रजि से युद्ध कर वज्र से उसके अनेक पराक्रमी पुत्रो का वध कर डाला। नहुष ने ययाति सहित सात पुत्र-रत्न उत्पन्न किये।

इन सब ने केदार मडल मे परम तप का अनुष्ठान किया, अत हिमालय के ऊपर उन्ही के नाम से तीर्थ प्रसिद्ध हो गये (केदार० ६२।२७)।

पुराणो के अनुसार सिन्धु (अलकनन्दा) के उस पार असुरराज वृषपर्वा का राज्यशासन था। वृषपर्वा के गुरु शुक्राचार्य की कन्या देवयानी और वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा का वन-विहार का क्षेत्र आस-पास ही था। उनके चन्द्रवशी राजा नहुषपुत्र ययाति से मिलन और पाणिग्रहण से भी प्रमाणित होता है कि चान्दपुर (चन्द्रपुर) के निकट (जो चन्द्रवश का उत्पत्ति-स्थल है) अलकनन्दा (सिन्धु) के इस पार चन्द्रवशी राजा ययाति का तथा उस पार गन्धमादन के नागपुर क्षेत्र मे वृषपर्वा का राज्य था। 'महाभारत' (वन पर्व १५८।१८,२०) मे लिखा है कि पाँडव हिमालय पर्वत के निकट सुबाहु की राजधानी मे, जो सम्भवत· श्रीनगर गढवाल थी, पहुँचे। वहाँ से सत्रहवें दिन वे कश्यप ऋषि द्वारा दनु के गर्भ मे उत्पन्न वृषपर्वा के आश्रम मे पहुँचे। हिमवान् के विविध द्रुमलतावृत पुण्य पृष्ठदेश से गन्धमादन होकर पाडव जलावर्त सिंचित पुष्पित वृक्षो से घिरे हुये वृषपर्वा के पवित्रतम आश्रम में पहुँचे थे। इससे भी प्रमाणित होता है कि दानवराज वृषपर्वा का राज्य अलकनन्दा के उस पार नागपुर क्षेत्र मे था।

इस प्रकार यह सप्तसिन्धु (गढवाल) देव और असुरोपासक, दोनों शाखाओ का निवास स्थान था। दक्षिण-गिरि की उष्णतम उपत्यकाओ में तराई के समुद्र-तट पर, सुसंस्कृत आर्यों का तथा हिमालय के उत्तर-गिरि प्रदेश मे असुरोपासक आर्यों का प्राबल्य था (ऋ० १०।६७।६)। सभ्य आर्यों की आदर्श-आचार-पद्धति सप्तसिन्धु के समस्त उष्णतम एव शीतप्रधान प्रदेश में एक-सी एक ही रूप में

खोजना अनुचित है। स्थानीय विषमताओ के कारण एक ही देश मे बसी हुई एक ही जाति के आचार-विचार, बोली-भाषा, रीति-रिवाज, सभ्यता और सस्कृति में अन्तर पड जाता है। सजातीय होते हुए भी हिमालय के निवासियो और दक्षिण गढवाल के निवासियो की सस्कृति में स्थानीय प्रभावो के कारण अन्तर पडना स्वाभाविक था। सभ्यता के वर्तमान युग में यातायात की सार्वजनिक सुविधाओं के बावजूद, उत्तर गढवाल और दक्षिण गढवाल की इन सांस्कृतिक एव धार्मिक विषमताओ के थोडा-बहुत अवशेष आज भी दृष्टिगोचर होते हैं। आज भी यहाँ एक पट्टी का पहनावा, उनकी बोली-भाषा एव देवी-देवता तथा अन्य सांस्कृतिक क्रिया-कलाप दूसरी पट्टी के पहनावे, बोली-भाषा और देवी-देवताओ से मेल नही खाते। उस युग मे यहाँ की भौगोलिक विषमताओ और सर्वत्र नदी-नालो एव सार्वजनिक यातायात के अन्य साधनो के अभाव के कारण आपस में उत्तर-गिरि और दक्षिण-गिरि के निवासियो का पारस्परिक सांस्कृतिक आदान-प्रदान बहुत कम हो पाता था। फलत एक ही पिता के पुत्र होते हुए जहाँ दोनो शाखाओ का अनेक मौलिक विचारो मे मतैक्य था, वहाँ उनके सामाजिक, धार्मिक एव राजनीतिक आस्थाओ में भी अन्तर पडता चला गया।

दक्षिण गिरि प्रदेश के आर्य सभ्य, शिक्षित और चतुर थे, परन्तु हिमालय के उत्तरी क्षेत्र के निवासी, सभ्य आर्यों के कथनानुसार, अशिक्षित, वेदशून्य, सूत्र-श्रुत्यादि यज्ञ-कर्मों से रहित थे (ऋ० १०।२२।८, १।५१।८)। उनकी प्रकृति वहाँ की प्राकृतिक स्थिति के कारण आसुरी थी। वे 'मृध्रवाच' अर्थात् आर्यो की भाँति शुद्ध-शुद्ध भाषा-भाषी नही थे। 'शतपथ ब्राह्मण' के कथनानुसार वे असुर 'हे अलव' कहते-कहते थक गये, परन्तु शुद्ध शब्द 'हे अरय' नही कह सके।

दक्षिणी आर्य अस्त्र-शास्त्रो से सुसज्जित विशेष शक्ति सम्पन्न और सगठित थे परन्तु असुर असगठित और नवीन युद्ध-अस्त्रो से अपरिचित थे (ऋ० १।९६।९)। आर्यों ने भी उन्हे आयुधो से हीन कर दिया (ऋ० ७।६।५)। वे आर्यों को दान नही देते थे और न उनके यज्ञ-यागों पर ही उन्हे विश्वास था। इसीलिए ऐसे व्यक्तियो के लिए असुर शब्द का प्रयोग हुआ है। फिर भी असुर आर्य थे और अपने को आर्य नाम से ही सम्बोधित होना पसन्द करते थे, परन्तु शक्ति-सम्पन्न आर्य विशेषकर उनका नेता इन्द्र उन्हे आर्य नाम से सम्बोधित करने का कट्टर विरोधी था (ऋ० १०।४९।३)। उसने अत्यन्त अभिमान-पूर्वक इस बात को स्वीकार भी किया है। वह कहता है कि 'मैने दस्युओ का आर्य नाम नहीं रखा।' केवल दस्यु या असुर ही आर्यों के शत्रु नहीं थे, वरन् आर्यों मे भी आर्यों के अनेक शत्रु

थे (ऋ० १०।८०।१) । 'वे जो हमें वध करने के लिए शत्रु की भाँति सज्जित होते हैं, स्वजाति के हों चाहे विजाति के, तू उन्हें ऐसा पुरुषार्थहीन कर दे जिससे वे शक्तिहीन हो जाँय और उन पर इस प्रकार आक्रमण कर कि वे शिर छिपाकर भाग खड़े हों। (ऋग्वेद ६।२५।३) ।

कैलास और शिव संस्कृति असुर इन्द्रदेव के अतिरिक्त अन्य सब वैदिक देवी-देवताओं के उपासक थे, परन्तु उनकी कुछ धार्मिक मान्यताएँ आर्यों से भिन्न थी। वे उत्तर गिरि-प्रदेश (कैलास क्षेत्र) में अत्यधिक प्रचलित शिव-संस्कृति से विशेष प्रभावित थे। उत्तर-गिरि प्रदेश ही नहीं, दक्षिण से लेकर उत्तर तक समस्त-गिरि-प्रदेश पर शिव का प्रभाव था। दक्षिण-गिरि में आर्य-नरेश दक्ष का शासन था। वे अत्यन्त प्रतापी नरेश थे। उनके दामाद श्रद्धादेव धर्म (मनु), शिव, भृगु, मरीचि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अत्रि, वशिष्ठ, अग्नि और पितर आदि महापुरुष थे, जिनके द्वारा समस्त आर्य साहित्य पल्लवित एवं प्रभावित है। उस युग मे दक्ष और उसके इन प्रभावशाली दामादो द्वारा सचालित उत्तर और दक्षिण गढवाल ही, आर्य जगत् का सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक क्रीडा-क्षेत्र था। 'महाभारत' और पुराणो मे वर्णित कैलास और कैलासवासी शिव का क्रीडाक्षेत्र गढवाल है। डॉ० भगवतशरण उपाध्याय **'कालिदास का भारत'** (भाग १, पृ० १०) मे लिखते है

"हिमवान की पुत्री पार्वती उमा ही शाक्तो की इष्टदेवी बनी। जिसके दोनो जन्मो—सती और उमा—की क्रीडास्थली बदरी-केदार क्षेत्र में ही थी। सती-दाह कनखल में हुआ और उमाजन्म हिमवान मे। यही उमा का विवाह और कुमार की उत्पत्ति हुई और यही कैलास-शिखर पर शिव का तथा नन्दा-शिखर पर उमा का निवास-स्थान माना जाता है, और मारकडेय पुराण के देवी-महात्म्य की क्रीडास्थली भी यही प्रतीत होती है। × × कालिदास ने भी कुमारसम्भवम् मे हिमवान, उसकी राजधानी औषधिप्रस्थ, गन्धमादन, मेरू और कैलास की स्थिति गढवाल के रुद्र-हिमालय में मानी है।"

'तन्त्रशास्त्र' की भूमिका (पृ० १) मे सर जौन उडरफ लिखते हैं "महा-निर्वाणतन्त्र का उत्पत्तिस्थल हिमालय मे है, जो आर्य जाति की संस्कृति से गौरवान्वित है। सदैव हिम से ढके इसके ऊँचे पर्वत शिखरों पर सप्तकुल पर्वत फैला हुआ है। अत स्वय आर्य जाति यहाँ आयी और उसने यही अपनी प्रारम्भिक गाथाओ की रचना की। आज भी यहाँ भीम-उड्यार की वे गुफाएँ सुरक्षित हैं जहाँ पॉडुपुत्रो ने और द्रोपदी ने शान्ति प्राप्त की। इन पर्वतो पर ही ऋषि-मुनियो के आश्रम थे। यहाँ शिव का क्षेत्र भी है जहाँ उनकी प्रियतमा पर्वतराज-तनया पार्वती ने जन्म लिया और जो गगामाता का भी उद्गम स्थल है। अनन्त काल

से इन पर्वतो से होकर यात्रीगण बदरीनाथ, केदारनाथ और गंगोत्तरी आदि महातीर्थों की यात्रा करते चले आ रहे हैं। केदारनाथ का मठ और मन्दिर सदाशिव के नाम से शैव सम्प्रदाय को समर्पित हैं जो जगम कहलाते है। हिमालय के इसी क्षेत्रान्तर्गत चार स्थानो पर—तुगनाथ, रुद्रनाथ महामहेश्वर और कल्पेश्वर मे देवता की पूजा की जाती हैं। ये चार और केदारनाथ का मन्दिर मिलकर पच केदार कहलाते है।"

आर्य नरेश दक्ष प्रजापति की कन्या सती शिव को व्याही थी। शिव कालान्तर मे आर्य-अनार्यों, देव और असुरोपासको, दोनो के द्वारा वैदिक रुद्र के स्थान पर प्रतिष्ठित हुए। रुद्र प्रारम्भ मे प्रकृति के उग्र रूप के देवता और अपर कालिक शिव के पूर्वरूप थे।* ऋग्वेद के प्रथम मडल के ११४ सूक्त के समस्त ग्यारह मत्रो मे स्तवन करते हुए कहा गया है कि—"रुद्र विनाशकारी अस्त्र-शस्त्रो के ज्ञाता एव आगार हैं। वे वरणीय भेषज धारण करने वाले है। वे पृथ्वी और अन्तरिक्ष (कैलास) के अधिपति एव वीरो के विनाशकारी है।" गढवाल के उत्तर-कैलाश क्षेत्र मे रुद्रप्रयाग, रुद्रनाथ, तुगनाथ, महामहेश्वर और केदारनाथ आदि तीर्थो मे शिव के रूप मे वैदिक रुद्र की स्मृति सुरक्षित हैं।

शिव योग, धनुर्वेद, आयुर्वेद, गायन, वादन, नृत्य, तत्र-मत्र एव रसायन शास्त्र आदि अनेक विद्याओ के आचार्य थे 'महाभारत' (शाति पर्व २६०।११४, १४२, १४३)। शिव को दीर्घजीवी, साख्ययोग के प्रवर्तक, गीत-वाद्यो के तत्वज्ञ और अनेक शिल्पो का आचार्य कहा गया है। 'ब्रह्मपुराण' के कथनानुसार सुरभि और प्रजापति कश्यप से जिन एकादश रुद्रो की उत्पत्ति हुई थी, उनमे शिव अत्यन्त तेजस्वी थे। वे आयुर्वेद, पारदकल्प, धातुकल्प, हरितालकल्प, रसार्णवतत्र, वैद्यराजतत्र, रुद्रयालमलतत्र आदि आयुर्वेद तथा अन्य अनेक शास्त्रो के प्रणेता थे।

शिव कैलासवासी थे। हिमालय का यह उत्तर-गिरि-प्रदेश प्राचीन वाड्मय मे कैलास क्षेत्र भी कहलाता था। इस क्षेत्र मे शिव के आचार्यत्व एव कुलपतित्व मे एक ऐसा विद्याकेन्द्र स्थापित था, जिसमे आर्य और अनार्य, देव और असुर साठ हजार स्नातक सदैव शिक्षा पाते थे। इस शिव के आश्रम मे 'प्रथम शिव सुतार' के पश्चात् क्रमश अट्ठाईस शिवो को आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित किया गया था। इन अट्ठाईसो मे अतिम शिव का नाम 'नकुलीश' था (लिंगपुराण अ० ५३)। अपने आश्रम मे सर्व प्रथम शिव ने अपने चार शिष्यो स्वेत, स्वेत-शिख, स्वेताश्व और स्वेतलोहित को ज्ञानोपदेश दिया था। आर्यों की देव और

* हिन्दू सभ्यता—श्री राधामुकुद मुकर्जी।

असुरोपासक दोनों शाखाओं ने शिव का आचार्यत्व स्वीकार था। शिव का भी, देव और असुर, आर्य और अनार्य, शत्रु और मित्र सबके प्रति समान वात्सल्य-भाव था। अत सब आर्य-अनार्य, धर्मी-अधर्मी शिव से उनका स्नेह एवं आशीर्वाद प्राप्त करने को आतुर रहते थे। पुराणो से प्रमाणित है कि ऋषि-महर्षियो ने ही नही, दैत्य और दानवों ने भी भगवान् शिव से असाधारण आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर विश्व में अद्वितीयता अर्जित की है।

रावण और बाणासुर भी उनके विद्यालय के स्नातक थे। यहीं कैलास के क्रीडास्थान में रावण ने शिवशैल उठाया। यही तुगनाथपर्वत पर 'रावण-शिला' स्थान के पास, उसने शिव की कठिन तपस्या कर वरदान प्राप्त किया था (केदार ८१।१६)। यही दशौलि-क्षेत्र में 'वैरास कुड' के पास, रावण ने अपने दसों मौलियो को काट-काट कर शिव को समर्पित किया। यहीं उसने वेदों का अध्ययन कर, इस पर अपना प्रसिद्ध 'कृष्णयजुर्वेद' भाष्य लिखा। नारद ने यही रुद्रप्रयाग मे रुद्र के चरणो मे बैठकर सगीत-शास्त्र का अध्ययन किया। यही रावण के भाई कुबेर ने तपस्या की 'रामायण' (उत्तर० १६।८, ८७।१२)। यही त्रियुगी-नारायण स्थान मे शिव और पार्वती का विवाह-सस्कार सम्पन्न हुआ। यही मदाकिनी तट पर गौरीकुड के निकट शिवतनय गणेश और कुमार कार्तिकेय का जन्म हुआ। कुमार कार्तिकेय और उनके अनुज गणपति कालान्तर मे इस गणराज्य के अधिपति हुए। 'रामायण' में राम-लक्ष्मण के विरुद्ध युद्ध में रावण और मेघनाद का, बार-बार हिमवन्त मे शस्त्र-शास्त्रो के आचार्य शकर से, युद्ध-कला के सम्बन्ध मे उचित आदेश-निर्देश प्राप्त करने के लिए पधारने का वर्णन है। महाभारत में भी, पाशुपत आदि दिव्यास्त्रो की प्राप्ति के निमित्त कृष्णार्जुन शिव का आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। शिव शकर सबके आशुतोष थे। वे कुछ विशेष अनैतिक आदर्शों के समर्थक होते हुए भी बहु-विद्या-विद् थे। उत्तर वैदिक युग मे असुरो पर विजय प्राप्त करने के बाद भी, आर्य अपनी सस्कृति को शिव की आसुरी-सभ्यता से तटस्थ नही रख सके। उनकी आसुरी सभ्यता से अनुप्राणित उनके अनेक आर्य-अनार्य-स्नातको, शिष्य-प्रशिष्यो द्वारा हिमालय के इस कैलाश क्षेत्र से, देश और विदेश में शिव-संस्कृति जिस शक्तिशाली रूप मे प्रसारित एव प्रचारित हुई उसका प्रभाव आज भी स्पष्ट है। अटकिंसन ने 'हिमालय गजेटियर्स' में, गढ़वाल मे, ३५० शिव मदिरो का उल्लेख किया है।

शिव कलाओ के केवल आचार्य ही नही थे, वरन् स्वयं भी अद्वितीय कलाकार थे। गायन, वादन और नृत्य में उनकी असाधारण क्षमताओ से आर्यसाहित्य ओत प्रोत है। इन ललित कलाओं मे रस और रसों मे रसराज की अत्यधिक अभिव्यक्ति, अवाछनीय एव आर्य-आदर्शों के विरुद्ध होते हुए भी

अनिवार्य है। इसीलिए ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए, आर्यशास्त्रकारों ने गाना, बजाना और नाचना वर्जित करार दिया है (काम क्रोध च लोभ च, नर्तन गीत-वादनम्, मनु० २।१७८)। शिव की दार्शनिकता तथा उनका असाधारण अनाशक्त भाव इन ललित कलाओ से निसृत इस अनैतिकता से अप्रभावित एव अविचलित भले ही रहा हो, परन्तु यह भी असदिग्ध एव अप्रिय सत्य है कि इस अद्वितीय कलाकार के गायन, वादन और नृत्य-कला-प्रदर्शनो से प्रभावित सर्वसाधारण कलाप्रेमी स्त्री-पुरुषो-द्वारा रसराज शृगार की इस बढती हुई लोकप्रियता के प्रति ऐसी मान्यताएँ स्थापित होने लगी जो कट्टर वैदिक आर्य आदर्शों के मतानुसार नैतिक दृष्टि से कल्याणप्रद नही थी। अनेक उच्चकोटि की आर्य-महिलाएँ एव ऋषि पत्नियाँ तक आर्य-आदर्शो के प्रतिकूल निस्सकोच रसराज शृङ्गार की उपासिका बनने लगी थी। गायन, वादन और नृत्यकला के रूप मे रसराज शृङ्गार एव कामदेव की यह पूजा-पद्धति अत्यन्त स्पष्ट और अश्लील रूप मे शिव-स्नावको द्वारा खुलेआम प्रसारित होने लगी। यहाँ के लोक-नर्तको, ढाकी एव वादियो द्वारा, शिव के वे कुत्सित शृङ्गारपूर्ण लोक-नृत्य, लोक-प्रदर्शन उनके 'लाँग' और 'औसरो' मे आजकल प्रदर्शित होते देखे जाते है।

कैलासवासी शिव का यह केदारक्षेत्र शीतप्रधान प्रदेश होने के कारण यहाँ के आदि निवासी असुरोपासक आर्य वैदिक देवताओ के साथ-साथ परम्परागत शिव और शक्ति के इन पंच मकारो मे पले, शिव-लिगो एव शिश्न देवो के भी उपासक थे। '**केदारखड**' मे शिवलिग के उपासक शैवो और योनिपूजक शाक्तो की इस पूजा-पद्धति का बाहुल्य रहा है। असुरोपासक आर्य कट्टर शैव थे। शिव का लिग और शाक्त सम्प्रदाय की योनि-पूजन-पद्धति इन्ही पच मकारो के अधीन स्थानीय परिस्थितियो एव परम्पराओ के अनुसार यहाँ आदि काल से प्रचलित थी। मन्दिरो मे ही नही, मन्दिरो के बाहर पर्वत-उपत्यकाओ एवँ सरिता-तटो पर सर्वत्र इन योनि और ३६० लिंगाकार शिलाओ का बाहुल्य है। यहाँ जितने कंकर, उतने शकर थे। करनोक साहब ने (**करनोक रफ नोट्स ओन सम एनशिएन्ट स्कल्प्चरिंग ओन दि रौक्स इन कुमाऊँ**) गढवाल-अल्मोडे की सीमा पर शिलाओ पर अकित ऐसे अनेक विशाल-शिवलिगो के पाये जाने का उल्लेख किया है।

इस केदारक्षेत्र के असुरोपासको द्वारा प्रतिष्ठित, लिंग पूजन की इस शिव-सस्कृति के, शिव के विदेशी शिष्य भी कट्टर अनुयायी थे। स्वयं लंकेश रावण शिवलिंग का उपासक था। वाल्मीकि '**रामायण**' उत्तरकाण्ड मे इसका स्पष्ट उल्लेख है।

कैलास क्षेत्र से शिव-स्नातकों द्वारा यह शिव-संस्कृति—सुदूर दक्षिण में ही नहीं, वरन् भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर देशों में भी प्रसारित हुई। देवासुर-संग्राम के बाद, आर्यों द्वारा पराजित इस क्षेत्र के असुरोपासक आर्यों के पश्चिमी अभियान ने ईरान आदि देशों में पहुँच कर वहाँ भी स्मृतिस्वरूप इन लिंगाकार शिलाओं की स्थापना कर शिव-संस्कृति की इस विशिष्ट लिंग-पूजा-पद्धति को सुरक्षित रखा। मक्का में काले पत्थर की एक शिला है जिसको 'सग-असवद' कहते हैं, केदारनाथ की काली शिला की भाँति प्रतिष्ठित है, जिसकी, हज को जाने वाला प्रत्येक मुसलमान भक्तिपूर्वक परिक्रमा करता है और उसे चूमता है। गढ़वाल में ३६० शिवलिंगों की स्थापना के अनेक प्राचीन प्रमाण मिलते हैं। मक्का के निकट भी हाल ही में ऐसे ३६० शिवलिंग प्राप्त हुए हैं। अटकिन्सन साहब ने (हिमालय डिस्ट्रिक्ट्स (२) पृ० ७०२ में) गढवाल में, शिव के ३५०, शक्ति के १३० और काली के जिन ४२ मन्दिरों का उल्लेख किया है, उनमें सैकड़ों छोटे-छोटे मन्दिरों की गणना नहीं की गयी है। कई स्थानों में मन्दिर नहीं हैं, केवल शिवलिंग स्थापित हैं।

पाँच हजार ई० पू० सिन्धु घाटी सभ्यता में, योगाभ्यास करते हुए शिव, शिवलिंग, पार्वती-पूजा और योनि की उपासना के प्रमाण मिले हैं। योगाभ्यास करते हुए शिव का प्राप्त सील के चित्र के दोनों ओर पशु चित्रित हैं, जिससे सर जौन आदि विद्वानों का अनुमान है कि यह शिव-संस्कृति के उस व्यापक प्रभाव का परिचायक है, क्योंकि शिव पशुपति के नाम से भी पुकारे जाते हैं। शिव का प्राचीन मन्दिर पशुपतिनाथ यद्यपि नैपाल में है, तो भी शिव हिन्दू धर्म शास्त्रानुसार, केदार क्षेत्र एवं केवल कैलासवासी हैं।

काबे का 'सग-असवद' ही नहीं, वरन् केदारनाथ के निकट त्रियुगी-नारायण में जहाँ पर शिव और पार्वती का विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ था, (केदार० ४३। ६) और उस समय यज्ञ में जिस अग्नि को प्रज्ज्वलित किया गया था, वह आज तक पारसियों की पवित्र अग्नि 'आतिशे बेहराम' की भाँति हजारों बरसों से अविच्छिन्न रूप से प्रज्ज्वलित है। उसमें तब से नित्य अग्निहोत्र होता है। आज भी हिन्दू-यात्री केदार के इस 'संग-असवद' की भक्तिपूर्वक परिक्रमा करते हैं। उसे उसी प्रकार छाती से लगाते हैं उसी प्रकार वे त्रियुगीनारायण की इस अखंड अग्नि 'आतिशे बेहराम' की भी श्रद्धापूर्वक पूजा और परिक्रमा करते चले आ रहे हैं। हो सकता है कि केदार की इस काली शिला के साथ सग-असवद और त्रियुगी की इस अखंड अग्नि के साथ असुरोपासक असीरियनों, काबा के अरेबियनों और आतिशे बेहराम के पूजक ईरानियों का प्राचीन काल में धार्मिक सम्बन्ध

रहा हो और यह पूजा-पद्धति उनकी इस आदि देश से पश्चिम की ओर प्रयाण करने की परिचायक हो।

दक्ष प्रजापति और दक्ष यज्ञ

शिव देव और असुर, आर्यों की दोनो शाखाओ द्वारा आदर और प्रतिष्ठा प्राप्त थे। दोनो पर उनका समान वरद हस्त था। आर्य-नरेश दक्ष की २४ कन्याओ मे से, १३ धर्म को और शेष ११ ख्याति, सती, सभूति, स्मृति, प्रीति, क्षमा, सतति, अनुसूया, उर्ज्जा, स्वाहा और स्वधा का विवाह क्रमश भृगु, शिव, मरीचि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अत्रि, वशिष्ठ, अग्नि और पितर से हुआ था। शिव के अतिरिक्त दक्ष के जो १० दामाद थे वे आर्यों के पुरोहित और सब ऐसे वैदिक ऋषि थे, जिनका आर्य-जगत् पर असाधारण प्रभाव था।

शिव-सस्कृति मे विद्याओ-कलाओ का जो कल्याणप्रद रूप था, उससे जहाँ आर्य-मनीषी शिव का सम्मान करते थे वहाँ उनके और उनके अनुयायियों के इस शिश्न-देवो के अश्लील और अनैतिक विलासप्रिय कला-प्रदर्शनों से आर्य-जगत् मे उनके विरुद्ध उग्र असतोष उत्पन्न होने लगा। प्रमुख आर्य-महिलाएँ और ऋषि-पत्नियाँ भी उस अश्लील शिव-सस्कृति की ओर आकर्षित होने लगी थी। ऋग्वैदिक-ऋषि भृगु अपनी पत्नी का अवैध सम्बन्ध शिव के साथ स्वय देख चुके थे। 'ब्रह्माण्डपुराण' और 'शिवपुराण' मे ऋषि-पत्नियो के साथ शिव के अनैतिक सम्बन्धो का विस्तारपूर्वक वर्णन है। 'ब्रह्माण्डपुराण' मे लिखा है कि सघन देवदारुवन मे शिव ने ऋषि-पत्नियो को मुग्ध किया था। केदार क्षेत्र में देवदारुओ के सघन वन है। इसी क्षेत्र मे शिव का कैलास और सप्तर्षियो के भी आश्रम है।

दक्षकन्या सती के पाणिग्रहण के पश्चात् अपनी सालियो के साथ शिव के इन अनुचित सम्बन्धों तथा खुले आम अन्य अनैतिक एव अश्लील प्रदर्शनो के कारण भृगु तथा अन्य आर्य-ऋषियो द्वारा शिव और उनके अनुयायियो के विरुद्ध आर्य-जगत् मे उग्र असन्तोष उत्पन्न हो गया। शिव का सम्मान, उसकी सार्वजनिक पूजा-प्रतिष्ठा आर्य-मनीषियो द्वारा वर्जित करार दे दी गयी। शिव लिंग और योनिपूजन अश्लील एव अनार्य पूजा-पद्धति घोषित की गयी। वे (ऋ० ७।२१।५) इन्द्र से प्रार्थना करते हैं कि हमें असुर न मारें, वे प्रजा से हमें पृथक् न करें। और शिश्नदेव हमारे यज्ञ मे विघ्न न डालें। ऋग्वेद (१०।९९।३) मे, सौ द्वारो वाली असुरपुरी से धन लाने और इन असुरो को बध करने का उल्लेख है, जो शिश्नदेव के उपासक है। इस प्रकार आर्य अपने सजातीय भाइयो को उन शिव लिंगो और योनिपूजको को अनार्य, असुर और अदेव कह कर अपमानित करने लगे। यह स्पष्ट है कि दक्ष-प्रजापति के शासनकाल में ही दक्षिण

गिरि प्रदेश के आर्य-सभ्यों द्वारा शिव आर्य-समाज से बहिष्कृत हो चुके थे।

इसी बीच हिमालय के पार्श्व व तीर्थ क्षेत्र हरिद्वार के निकट दक्ष प्रजापति द्वारा एक विशाल यज्ञ किया गया 'महाभारत' (शांति० २८४।३)।

गढवाल के लोकगीतो मे दक्षयज्ञ से पूर्व शिव और सती का वार्तालाप आज भी आर्य नरेश दक्ष एव उसके राज्य-पुरोहितो, भृगु आदि सप्तर्षियो द्वारा यज्ञ-भाग से वर्जित इस शिव की परिस्थितियो का परिचायक है। मैके मे अपने माता-पिता द्वारा वृहद् यज्ञ का आयोजन सुनकर तथा यह जानकर कि उस यज्ञ मे उसके अतिरिक्त अन्य सब आमन्त्रित बहिनें पधार रही हैं, सती शिव जी से कहती है

सती —चार दिन स्वामी जो! मैं मैतुडा जयान्दू।
शिव —रात दिन गौरा! त्वीकू कनू मैत होये!
सती —मेरा ब्वे-बाबू को सुणो जज्ञ जूडे भारी।
सभि दीदी-भुलि मेरी मैत पौछी गैने!
शिव —तेरी दीदी-भुलि न्यूति तू नि न्यूति गौरा।
सती —मैत घर जाण स्वामी! न्यूतो क्या जागण।
शिव —दूद्यारो बालक गौरा! तू कै मू छोडिली?
सती —दूदयारो बालक स्वामी! दूधिया धरूलो।
शिव —अतेलो भडार गौरा! तू कै मू छोडिली?
सती —अतेलो भडार स्वामी! भडारी धरूलो।
शिव --गाय् को गोठ्यार गौरा! तू कै मू छोडिली?
सती —गाय् को गोठ्यार स्वामी! ग्वालिया धरूलो।
शिव —जाणू कू तू जैली, गौरा! क्या ल्हैली समूण?
सती —मेरा मैत होली स्वामी! बाउन रस्याल।

सती —स्वामी जी! मै चार दिन के लिए अपने मैके हो आती हूँ।
शिव —गौरा! तुम्हारी रात दिन मैके जाने की यह हठ कैसी हठ है?
सती —श्रीमान्, आपने क्या सुना नही है कि मेरे माता-पिता का विराट् यज्ञ हो रहा है?
मेरी बडी और छोटी सभी बहिनें मैके पहुँच चुकी हैं।
शिव —गौरा! तुम्हारी बडी और छोटी सभी बहिनो को नेवता गया है। तुम्हें नेवता नही मिला।
सती —स्वामी जी! मैका तो अपना घर होता है। वहाँ जाने के लिए निमंत्रण की प्रतीक्षा क्या करनी है?
शिव —गौरा! तुम्हारा दूध पीने वाला शिशु है, उसको किसके पास छोड

जाओगी ?

सती —दूध पीने वाले बालक के लिए किसी दूध पिलाने वाले को रख दूँगी।

शिव —गौरा ! तुम्हारे पास धन-सम्पति का जो अतुल भंडार है, उसको किसके पास छोड जाओगी ?

सती —अतुल सम्पत्ति की देख-रेख के लिए एक भडारी रख छोडूँगी।

शिव —अपनी गायो से भरी गोष्ठ को किसके पास सौंप जाओगी ?

सती —गायो की गोष्ठ की रक्षा के लिए एक ग्वाला रख लूँगी।

शिव —गौरा ! तू अपने मैके से मेरे लिए क्या 'समूण' लायेगी ?

सती —स्वामी जी ! मेरे मैके मे बावन रसो से परिपूर्ण, रसीली वस्तुएँ होती हैं।

'**शिवपुराण**' के अनुसार कनखल मे जो दक्षयज्ञ हुआ, उसमें दक्ष ने शिव को वेद से वहिष्कृत, स्त्री मे आशक्त रहने वाला तथा रति कर्म मे ही दक्ष कह कर शिव की भर्त्सना की थी। उनके प्रमुख पुरोहित भृगु आदि ऋषियो ने भी दक्ष का स्पष्टत समर्थन किया था। वस्तुत भृगु आदि ऋषियो द्वारा प्रभावित होने के कारण दक्ष भी शिव के कट्टर विरोधी हो गये थे। भृगु को दक्ष-यज्ञ मे प्रमुख पौरोहित्य-पद पर प्रतिष्ठित किया गया था। वे यज्ञ मे ऋत्विज-पद पर नियुक्त थे। सती के यज्ञ मे प्राणत्याग करने पर, जब शिव के आठ हजार स्नातको ने यज्ञ-विध्वस करने का प्रयत्न किया तो शिव-विरोधी भृगु ने, उनके विरुद्ध युद्ध मे भी प्रमुख भाग लिया। अनेक शिवगण मारे गये तथा शेष भाग खडे हुए। उनके भागने के बाद मणिभद्र ने घटनास्थल पर पहुँच कर, भृगु की खूब मरम्मत की। उसने भृगु को पृथ्वी पर पटक कर, उसकी दाढी-मोछ नोच डाले। इस युद्ध मे नर और नारायण, इन्द्र एव अन्य देवताओ का भी दक्ष की ओर से शिव के विरुद्ध युद्ध करने का उल्लेख है।

दक्ष-यज्ञ के इस कथानक मे दक्ष और सप्त ऋषियो की, शिव के प्रति घोर असंतोष की स्पष्ट अभिव्यक्ति है। सप्तर्षि केवल दक्ष के दामाद ही नही थे, वे परम सम्माननीय वैदिक ऋषि और अनेक आर्य-नरेशो के कुल-पुरोहित भी थे। राजा और राज्य दोनो पर कुल-पुरोहितो का उस युग मे असाधारण प्रभुत्व स्थापित था। असंतुष्ट भृगु आदि सप्तर्षियो ने दक्ष-यज्ञ मे शिव को आमन्त्रित न करने के लिए दक्ष को विवश किया है परन्तु कनखल मे, दक्ष-यज्ञ मे हुए इस भीषण हत्याकाड से शिव-विरोधियो पर शिव और उनके अनुयायियों का पुन आतंक छा गया। शिव सती का शव कन्धे पर लेकर ससार से विरक्त होकर विक्षिप्त-से वनो में भ्रमण करने लगे (**केदारखड १०५।८४**)।

शिव अश्लील-पूजा-पद्धति के समर्थक होने के बावजूद अनेक लोक-हितकारी विद्याओं-कलाओं के भी आचार्य थे। इसीलिए जनता के सर्वांगीण-विकास के लिए सुर और असुर आर्यों की दोनो शाखाओं को उनका आचार्यत्व स्वीकृत था। उनकी दीर्घकालीन विरक्ति से, जब लोक-कल्याणकारी अनेक विद्याओं कलाओं का भी लोप होकर, सर्वत्र सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक अशांति की आशंका हो उठी, तारकासुर आदि दानवों द्वारा प्रजा पीडित होने लगी, तो तत्कालीन आर्य मनीषी चितातुर हो उठे। सबको सार्वजनिक रक्षा-व्यवस्था के लिए, शिव द्वारा उचित मार्ग-प्रदर्शन की आवश्यकता अनुभव होने लगी। सब शिव के इस सामाजिक बहिष्कार के लिए सप्तर्षियो को दोष देकर शिव को पुन ससार के कर्मक्षेत्र मे आमन्त्रित करने के लिए उन्हे विवश करने लगे। अन्त मे ससार से विरक्त शिव को पुन विवाह-बन्धन मे बाँधने के लिए, लोकानुग्रह से विवश सप्तर्षियो को, गन्धमादन पर्वत क्षेत्र मे स्थित, हिमालय-नरेश की परम रूपवती कन्या पार्वती की खोज करनी पडी। सप्तर्षियो ने स्वयं नगाधिराज के यहाँ जाकर, उनसे कन्यादान के लिए प्रार्थना की। इस प्रकार हिमालय-नरेश की परम गुणवती एव रूपवती कन्या पार्वती से पाणिग्रहण कर, शिव पुन ससार के कर्मक्षेत्रो मे प्रविष्ट हुए।

शिव के प्रति भृगु का विरोध तब भी जारी था। जब उन्होने पार्वती के साथ शिव-विवाह की चर्चा सुनी तो वे शिव के विरोध मे, स्वय हिमालय की पुत्री उमा के प्रणयप्रार्थी हो उठे। हिमवान की अस्वीकृति के कारण वे दोनो के और भी कट्टर शत्रु हो गये (महा० शांति० ३४२।६२)। महाकवि कालिदास के कथनानुसार बदरीनाथ के निकट, गन्धमादन पर्वत-क्षेत्र के मध्य में पार्वती के पिता हिमालय-नरेश की राजधानी थी। यही कैलास मे शिव का निवासस्थान था। यही के तपोवनो मे सप्तर्षियो के आश्रम थे। इसी पावन-प्रदेश मे तारकासुर का वध करने के लिए कुमार कार्तिकेय का जन्म हुआ। कालिदास ने 'कुमारसम्भवम्' मे हिमालय के इस पावन प्रदेश की श्री-सम्पन्नता का जिस प्रकार विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, वह विश्व-साहित्य मे अद्वितीय है। दक्ष-यज्ञ और शिव-पार्वती के इस विवाह- वर्णन मे, पूर्व वैदिक काल की इस पर्वत-प्रदेश को सामाजिक स्थिति का चित्रण है। यह आर्यावर्त्त के अस्तित्व में आने से पूर्व उस युग का एक घटना-चित्र है, जब तराई-भावर मे समुद्र लहरा रहा था।

शिव-पार्वती के इस विवाह-सस्कार के पश्चात् शिव पुन वैदिक रुद्र के स्थान पर प्रतिष्ठित हो गये। हिमालय की पुत्री पार्वती (दुर्गा) गढवाल के दुर्गों की देवी (गढदेवी) बन कर नवदुर्गाओ के रूप में, गढवाल के प्रत्येक गढ में

पूजी जाने लगी। देवी का रुद्राणी रूप दुर्गा है। गढ़वाल मे आज भी 'गढ़देवी' (दुर्गा) अत्यन्त भयकर रूप मे अवतरित होती है और उसकी विध्वसक शक्ति से सब भय खाते है। शिव-पत्नी उमा भी आर्य-जगत् की अधिष्ठात्री बन गयी। 'केन उपनिषद्' मे हिमालय की पुत्री उमा का आर्य-ऋषियो को उपनिषदो के गूढ़ रहस्यो को समझाने का उल्लेख है। पुराणो और 'महाभारत' मे भी, हिमालय और कैलास, शिव और पर्वत-पुत्री पार्वती, गंगा और भागीरथी, गढवाल की सस्कृति के तीनो मुख्य प्रतीक शिव-शरीर के अभिन्न भाग बन कर कालान्तर में, आर्य और अनार्य दोनो के परम पूज्य आराध्यदेव बन गये।

देवासुर सग्राम

हम इससे पूर्व लिख चुके है कि उत्तर गिरि-प्रदेश मे आर्यों की जो शाखा निवास करती थी वे दिति, दनु और कद्रू से उत्पन्न आर्य-महर्षि कश्यप की ही सतान थे और इस प्रकार आर्यो के ही सजातीय थे। उस युग मे मातृप्रधान प्रथा के कारण, उनको भू-सम्पति के सौतिया बाँट मे उतरी-गिरि का सीमान्त क्षेत्र मिला। बँटवारा होने पर उत्तर-गिरि मे बसने के बाद भी इन सौतेले भाइयो मे पारस्परिक मनोमालिन्य जारी था।

ये असुरोपासक आर्य भी पर्याप्त धन-सम्पन्न और ऐश्वर्यशाली थे। वे विस्तृत भू-भाग के अधिपति थे। उनके घरो मे एक-एक द्रोण के काष्ट-कलसो मे सोम भरा हुआ रहता था। उनके अनेक शक्तिशाली सामन्त वृत्र और शम्बर के समान उन्नत पर्वत-पृष्ठो पर विशाल प्रस्तर खडो से निर्मित अत्यन्त दृढ दुर्गों मे निवास करते थे।

उत्तर गिरि प्रदेश मे, इन असुरोपासक आर्यों की जीवनचर्या अब तक अविचलित रूप से निर्विघ्नतापूर्वक चल रही थी, परन्तु अकालिक जलप्लावन के कारण दक्षिण गिरि से सहसा सम्यताभिमानी आर्य-शरणार्थियो ने वहाँ पहुँच कर उनकी सामाजिक, धार्मिक एव आर्थिक परम्पराओ को झकझोर डाला। पहले तो इन शरणार्थियो ने उत्तर गिरि के आदि निवासियो को रहने-बसने योग्य, गृह-अन्न-धन द्वारा आर्थिक एव सामाजिक सुविधाएँ देने के लिए काफी खुशामद की। ऋग्वेद आठवें मडल के २७, २८, २९, ३० और ३१ सूक्तो मे उन्होने उन्हे वासदाता, पिता, भाई-बन्द, स्वजातीय, प्राज्ञअसुर, सर्व धन-सम्पन्न, द्रोहशून्य, अहिंसक और देवता कह कर आदरपूर्वक सम्बोधित किया, अपने छोटे-बडे यज्ञ-यागो मे उनका सहयोग, स्नेह और सहानुभूति प्राप्त करने के लिए, उन्हें उनके कुल-पुरोहितो-सहित सादर आमत्रित किया गया। जल-प्रलय से त्राण पाने पर, भगवान् के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए सबसे प्रथम इस क्षेत्र मे जो विराट्

यज्ञ आयोजित किया उसमे असुरो सहित उनके कुलपुरोहित किलात-आकुली भी आमन्त्रित किये गये। परन्तु शीघ्र सुव्यवस्थित एव संगठित होने, एव उनके खेतो, घरो, चारागाहो पर साम, दाम, दड, भेद द्वारा अधिकार करने के पश्चात् वे जब उन्हें मृद्वाक्, अब्राह्मण, अव्रता, असुर, अकर्मा, अन्यव्रती, अयाज्ञिक, अमानुष, अनार्य, अदेव और असभ्य कह कर दुतकारने लगे (ऋग्वेद १०।२२।८)। बार-बार अपमानित करने लए तो वे बिगड खडे हुए। परम्परागत मनोमालिन्य में इन नवीन सामाजिक, धार्मिक एव आर्थिक सघर्षों ने प्रज्ज्वलित अग्नि मे पुन घी का काम कर दिया।

उत्तर गिरि प्रदेश के निवासियो के लिए रहने-बसने योग्य भूमि एव चारागाहो का अभाव तो था ही, इन आर्य शरणार्थियो ने अचानक वहाँ पहुँच कर, उनकी अनेक सामाजिक, धार्मिक आस्थाओ पर भी आक्रमण करके, उनके स्वच्छन्द जीवन-पथ मे एक भयकर अर्थसकट भी उत्पन्न कर दिया। उनकी उदर-पूर्ति के एकमात्र साधन भी उनके हाथो से छीने जाने लगे। केवल आर्थिक ही नही, वरन् उनके सामाजिक एव धार्मिक जीवनचर्या मे भी इन सभ्य आगन्तुको द्वारा बार-बार ठेस पहुँचने लगी।

आर्य और असुर दोनो के धर्म-कर्म, रीति-रस्म अधिकाश एक थे, परन्तु उनका आहार-व्यवहार विशेष पर्वतीय परिस्थियो के कारण दक्षिण गिरि के आर्य-बन्धुओ से कुछ बातो मे भिन्न हो गया था। वे दक्षिणी आर्यों के समान चतुर और व्यवहार-कुशल नही थे। दोनो अग्नि और उसके समस्त प्रतीको उषा, सविता आदि के कट्टर उपासक थे। इन्द्र स्तवन से पूर्व ऋग्वेद के जिस भाग मे अग्नि-उषा आदि से सम्बन्धित जितने मत्र है, वे दोनो के लिए पूजनीय थे। और यही ऋग्वेद का सबसे प्राचीन अश है। तब भारतीय आर्य और पारसियो के पूर्वज साथ-साथ रहते थे। ऋग्वेद अग्नि-स्तवन से ही आरम्भ होता है, और उसमे अग्नि-देव के सम्बन्ध मे ढाई हजार मत्र हैं।

अग्नि और उसके प्रतीको पर ऋग्वेद मे सबसे अधिक मत्रो की रचना हुई है। अग्नि का उन्होने देवताओ के देवता (देवो देवाना ऋ० १।३१।१) कह कर आह्वान किया है। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के प्रथम सम्पूर्ण सूक्त मे अग्नि का स्तवन है, परन्तु शीतप्रधान प्रदेश के निवासी होने के कारण, असुरोपासक आर्य, दक्षिण गिरि से आये हुए इन आर्य-शरणार्थियो से अधिक कट्टर अग्नि-पूजक थे। वे मृतक शवो को गाडते थे। अभी तक गढवाल की कई जातियो में मुर्दे गाड़ने की यह प्राचीन प्रथा प्रचलित है। पवित्र अग्नि मे जो उनकी एकमात्र जीवन-रक्षक, मगलमय, अभीष्ट, फलदायक, पूजनीय और नमस्कार योग्य है, मुर्दे जलाकर निस्सकोच अपवित्र कर देने वाले दक्षिण गिरि के इन धर्मभ्रष्ट

आर्यों का उन्ही के घर मे, उन्ही का अन्न-जल खाकर उन्हे बार-बार असुर, अदीक्षित, अधर्मी एव अनार्य कहना, उन्हें असह्य होने लगा।

असुर स्वय आर्थिक एव धार्मिक दृष्टि से अपनी सास्कृतिक मान्यताओ, कट्टर वैदिक परम्पराओ के आधार पर इन आर्य आगन्तुको को आक्रामक, अधार्मिक एव पतित समझते थे। वे भी दक्षिण गिरि से आये हुए इन आर्य-शरणार्थियो को, राक्षस समझते थे और उन्हें राक्षस कहते थे। वे उनके कुलपुरोहित आर्य-गुरु वशिष्ठ तक को राक्षस कहते रहे हैं। ऋग्वेद (७।१०४।१५,१६) में ऋषि वशिष्ठ असुरो को कोसते हुए प्रार्थना करते है कि—'ये राक्षस, मुझ अराक्षस को राक्षस कहते है। यदि मै राक्षस हूँ तो मै मर जाऊँ, अन्यथा ये जो मुझे राक्षस कह कर सम्बोधित करते है और अपने को शुद्ध दूध का धोया समझते है, इनके दस वीर पुत्र मर जायें।'

असुरोपासक आर्यों का सबसे कट्टर शत्रु इन्द्र था। वह भी स्वयं असुरो का सजातीय था (ऋ० १।१७४।१। उसने सरस्वती के तट पर, इसी क्षेत्र मे १०० यज्ञो का अनुष्ठान किया था (महा० शल्य पर्व ४८।१८)। उत्तर-गिरि मे अलौकिक प्रकृति-श्री से सम्पन्न गन्धमादन पर्वत-क्षेत्र के आस-पास उसका राज्य था। हिमालय के सुमेरु (सतोपथ) मे उसकी राजधानी अमरावती थी। उसके राज्य के उत्तराधिकारी भी—स्वर्गाधिपति इन्द्र के ही नाम से पुकारे जाते थे, उस राज्य के चारो ओर नागपुर मे नागो, असुरों और दैत्यो तथा पूर्वोत्तर क्षेत्र मे दानवो का बाहुल्य था। इन्द्र की पत्नी शची, पुलोमा नामक असुर की पुत्री थी। चारो ओर शक्तिशाली असुर शत्रुओ से घिरा होने के कारण इन्द्र सदैव उनसे भयभीय रहता था। उसके चारो सीमान्त क्षेत्र असुरक्षित थे। कई बार हिरण्यकशिपु, नहुष, और बलि आदि असुरो द्वारा उसके स्वर्गराज्य पर बलपूर्वक अधिकार कर दिया गया था। वे कब और किस ओर से आक्रमण करके पुनः उसको स्वर्ग से निकाल बाहर कर दें, रात दिन इसी चिन्ता से चिन्तित इन्द्र उन्हें पूरी तरह से समूल नष्ट कर, चिन्तामुक्त होना चाहता था। परन्तु चारो ओर प्रबल शत्रुओ मे घिरा होने के कारण वह एकाकी उसका स्थायी निराकरण करने मे असमर्थ था। केवल अनार्यों एव असुरो का ही वह विरोधी नही था, वरन् अनेक पौराणिक कथाओ मे प्रमाणित होता है कि इस क्षेत्र में किसी की भी (वह सुर हो या असुर, आर्य हो या अनार्य) भौतिक एव आध्यात्मिक उन्नति उसे असह्य थी।

इसी बीच जलप्लावन की घटना घटित होने के कारण दक्षिण से आर्य शरणार्थियो ने उत्तर गिरि के असुरोपासक आर्यों के क्षेत्र मे पहुँच कर उनके लिए जो सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एव आर्थिक असुविधाएँ उत्पन्न कर दी,

उससे इन आर्य शरणार्थियो और यहाँ के आदि निवासी इन असुरोपासक आर्यों में देवासुर-सग्राम की स्थिति उत्पन्न होने लगी। दोनों पक्षो के उत्तरोत्तर बढते हुए असतोष से कूटनीतिज्ञ इन्द्र की बन आयी। वह वर्षों से इससुअवसर की ताक में था। आर्य-शरणार्थी भी स्वय अपनी रक्षार्थ असुरो के विरुद्ध, उनके सबसे प्रबल शत्रु इन्द्र को आमत्रित करने लगे। ऋग्वेद के अधिकाश मत्र इन्द्र की इन पूजाओ, प्रशसाओ और प्रार्थनाओ से ओत प्रोत हैं। उन्होने इन्द्र को अपने सब देवी-देवताओ से अधिक सम्मान देकर उसे पूरी तरह अपने पक्ष मे करके असुरो का कट्टर शत्रु बना दिया था।

इन्द्र अत्यन्त चतुर, बडा विद्वान् और शक्तिशाली था। उसने ५०० महिषो का मास भक्षण किया था (ऋ० ५।२९।७,८)। मूल निवासी होने के कारण वह इस क्षेत्र की भौगोलिक परिस्थितियो से पूर्ण परिचित था। उसे यहाँ के नदी-नालो और घाट-बाटो का पूर्ण ज्ञान था। वह सेनासहित सहर्ष आर्य शरणार्थियो से जा मिला। उनके नेतृत्व मे नये-नये अस्त्र-शस्त्रों में पारगत, सुसगठित आर्यों को, यहाँ के सरल असगठित युद्ध-कलाओ एव नये अस्त्र-शस्त्रो से सर्वथा अपरिचित असुरोपासक आर्यों पर विजय प्राप्त करना आसान हो गया था। अपने सजातीय घर के भेदू इस कुल-द्रोही महिषभक्षी इन्द्र का विदेशी शत्रु-पक्ष में मिलना और उसको आर्यों द्वारा पूज्य वैदिक देवताओ से अधिक सम्मान देना असुरो को असह्य हो उठा। इन्द्र के प्रति यह घोर घृणाभाव भारत से निर्वासित असुरो द्वारा अवेस्ता मे सुरक्षित है। आर्यों के इन्द्र, मित्र, वरुण, यम, वायु और अग्नि आदि वैदिक देवताओ मे, जिस इन्द्र का स्थान सर्वोपरि है वह पारसियो के धर्म-ग्रन्थ मे सर्वथा उपेक्षित है। उसको वहाँ बुरी आत्माओ का राजा कहा गया है।

डॉ० सम्पूर्णानन्द **'आर्यों का आदि देश'** मे लिखते है कि—"ऋग्वेद के भीतर ऐसी पर्याप्त सामग्री है। जिससे विदित होता है कि किसी समय या यो कहिये कि दीर्घ-काल तक आर्यों मे आपस मे घोर युद्ध हुआ है। यह युद्ध किन कारणो से हुआ यह ठीक-ठीक नही कहा जा सकता, परन्तु उन कारणो मे उपासना विधि को प्रधान स्थान मिल गया यह निर्विवाद है। उसमें कोई समझौता सम्भव नही था। एक को अपने असुरोपासक होने का गर्व था, दूसरे को देव पूजक होने का अभिमान था। एक इन्द्र को देवराज मानता था और उसके नाम पर लडता था। दूसरा मित्र, वरुण, अग्नि, वायु और यम के साथ किसी दूसरे का नाम लेना नही चाहता था। एक पुरानी पद्धति से टलना नही चाहता था, दूसरा धार्मिक विश्वास का समर्थक था। दोनो पक्षो मे खूब युद्ध हुआ। कभी असुर-पक्ष जीता कभी देव-पक्ष, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अन्त मे देव-याजको की ही जीत हुई।"

एक अन्य स्थान मे डाक्टर साहब ने देवासुर-सग्राम के कारणो मे आर्यों द्वारा पवित्र अग्नि मे मुर्दे जलाना भी बतलाया है, जिसके प्रायश्चित का कोई विधान ही नही है। 'अवेस्ता' की प्रथम पुस्तक 'वेन्दीदाद' के प्रथम अध्याय १७ में लिखा है कि आग मे मुर्दे जलाने के पाप का कोई प्रायश्चित नही है। आठवें अध्याय में अहुरमज्द कहते है कि मज्द के उपासक यदि किसी को मुर्दे जलाते हुए देख लें तो तुरत उसका वध कर डालें। इसमे कोई सन्देह नही कि धार्मिक मत-भेदो पर ईसाई-मुसलमानो के 'क्रूसेड' की भाँति, समय-समय पर अनेक सग्राम हो चुके है, परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नही कि इन देवासुर-सग्राम के कारणो मे जैसा हम ऊपर लिख चुके है, केवल धार्मिक असतोष ही नही, वरन् सामाजिक, धार्मिक एव आर्थिक असतोष भी सम्मिलित है। दोनो जातियो मे परस्पर धार्मिक मत-भेद, सामाजिक भेद-भाव और असतोष उत्तरोत्तर उग्रतर होता चला गया। मानव-समानता के आधार पर यह युद्ध समान धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक एव आर्थिक अधिकार प्राप्त करने के सघर्षो का श्रीगणेश था, जिसकी अस्वीकृति के परिणाम-स्वरूप दोनो दलो मे दीर्घकालीन सघर्ष का सूत्रपात हो गया, जो कालान्तर मे भयकर देवासुर-सग्राम के रूप मे फूट पडा।

महापडित राहुल साकृत्यायन ने रुहेलखण्ड से ऊपर, हिमालय के इसी प्रर्वत-प्रदेश मे इन देवासुर-सग्रामो के होने का उल्लेख किया है। वेदो के भाष्यकार स्वा० दयानन्द सरस्वती ने भी 'सत्यार्थ प्रकाश' अष्टम समुल्लास मे इसकी पुष्टि की है।

आर्य जहाँ चतुर शिल्पी, अनेक अस्त्र-शस्त्रो के निर्माता और व्यवहार-कुशल एव सगठित थे, वहाँ असुरोपासक आर्य, असगठित, सीधे-साद, अस्त्र-शस्त्रो से अनभिज्ञ (अनायुधो सो असुरा अदेव) और युद्ध-कलाओ से कोरे थे। वज्रधारी इन्द्र के नेतृत्व मे सगठित होकर आय समय-समय पर इन असुरोपासक आर्यो पर आक्रमण करने लगे।

इन्द्र ने असुरो के विरुद्ध, सेनासहित आय-शरणार्थियो से मिल कर देवासुर-सग्राम की भीषणता मे वृद्धि कर दी। वस्तुत स्वर्गाधिपति इन्द्र के नेतृत्व के कारण ही असुरो की पराजय और देवताओ की विजय सम्भव हो सकी है। मालूम होता है कि इन्द्र की पूजा-प्रार्थनाओ से सम्बन्धित ऋग्वेद का अधिकाश भाग, जलप्लावन के बाद की रचना है। इन्द्र की उपासना प्रारम्भ होने से पूर्व, ऋग्वेद मे मित्र, वरुण, अग्नि, वायु और यम की पूजा-प्रार्थना दोनो शाखाओ मे समान रूप से प्रतिष्ठित थी। तब तक दोनो आर्य-शाखाएँ साथ थो उनके दवी-देवता भी एक थे, परन्तु जलप्लावन के बाद, देवासुर-सग्राम मे इन्द्र द्वारा प्रमुख भाग लेने और असुरो के युद्ध मे पराजित होकर देशत्याग करने के

कारण, इन्द्र असुरो के वैदिक देवताओंके रजिस्टर मेंसम्मिलित नहीं हुए, वहाँ वे आर्यो के वैदिक देवी-देवताओ में, विशेष सम्मानसहित सम्मिलित किये गये।

आर्यों ने इन्द्र, सुदास और सुश्रवा आदि के नेतृत्व में सगठित होकर असुरो के विरुद्ध जिहाद बोल दिया। असुर भी वृत्रासुर, शम्बर, कृष्णासुर, वरशिख, शुष्णासुर, तुग्र, चुमुरि, पिप्रु, नमुचि, कुत्स आदि बलशाली असुरो के नेतृत्व मे आर्यों से भिड गये। पर्वत-प्रदेश इन देवासुर-संग्रामों से रक्तरजित हो उठे। इन्द्र ने वृत्र का वध किया। नागराजा कृष्ण जो सूर्य के समान अवस्थान करता था, द्रुतगामी और दीप्तिमान देह धारण कर सकता था, अंशुमती नदी के तट पर सेना सहित पराजित हो गया (ऋ० ८।८५।१३,१४,१५)।

इन्द्र के वज्र-प्रहार से नब्बे नदियाँ और इक्कीस पर्वत-तट काँप उठे (ऋ० १०।१०६।८)। उसने तीस हजार असुरो का वध किया (ऋ० ५।१०।३)। उसने शरत असुर की सात पुरियो का विध्वश किया, इसलिए उसका नाम पुरन्दर हुआ (ऋ० ६।६६।१०)। उसने राजा सुश्रवा के विरुद्ध लडने वाले बीस राजाओ और उनके साठ हजार निन्यानवें सैनिको को पराजित किया (ऋ० १।५३।६)। उसने चालीस वर्ष से पर्वतो मे छिपे हुए शम्बरासुर को खोज निकाला तथा अहि-नागो का विनाश किया। उसने असुरराज शम्बर के विशाल प्रस्तर-खडो से निर्मित निन्यानवें सुदृढ दुर्गों को भूमिसात् करके उसके सौवें दुर्ग पर अधिकार कर लिया (ऋ० ७।६७।५)। उसकी कट्टर-रक्त-पिपासा से अमानुषिक हृदयहीनता के कारण अनेक आर्य-पुरुष भी उसके विरुद्ध हो गये। उसने उनका भी निस्संकोच निर्दयतापूर्वक वध किया (ऋ० १०।८३।१, ६।३३।३)। उसने सरयू नदी (कुमाऊँ की एक बडी नदी जो गढवाल और कुमाऊँ के सीमान्तक्षेत्र से निकलती है) के उस पार रहने वाले आर्यत्वाभिमानी अर्ण और चित्ररथ नामक आर्य-नरेशो को भी मार डाला (ऋ० ४।३०। १८)। आर्यगण दस्युओ और आर्य-शत्रुओ को पराजित करने के लिए बार-बार इन्द्र से प्रार्थना करते है (ऋ० १०।३८।३)। 'महाभारत' (आदि० प० १६।१६) के अनुसार, इस देवासुर-सग्राम मे अग्रवैदिक ऋषि नर और नारायण ने भी, जिनका आश्रम बदरीनाथ के निकट था, देवपक्ष की ओर से असुरो के विरुद्ध सक्रिय भाग लिया था। इससे गढवाल में ही देवासुर-सग्राम को भौगोलिक वास्तविकता भी प्रमाणित होती है।

देवासुर-सग्राम के बाद

इन देवासुर-संग्रामो में कितने असुरो का वध हुआ इसकी कोई गिनती नही। मालूम होता है कि चालीस वर्ष से अधिक समय तक देवासुर-सग्राम जारी रहा। अन्त में असगठित एव युद्ध-कलाओं से अपरिचित नवीन अस्त्र-शस्त्रो से रहित

असुरोपासक आर्यों का दल आर्यों के द्वारा पराजित हो गया। वे बलपूर्वक अपनी जननी-जन्मभूमि से बाहर निकाल दिये गये (ऋ० ७।५।६)। कुछ आर्य-धर्म में, दीक्षित किये गये, कुछ ने विजयी आर्यों के सम्मुख आत्म-समर्पण कर दिया और कुछ दास बनाये गये। शेष जो प्रतिष्ठित आत्मसम्मानी असुर-सामन्त थे, वे आर्यों की अधीनता स्वीकार न कर, अपने शेष अनुयायियो सहित सदल बल, भारत से बाहर निकल गये। उस समय भी तराई भावर मे समुद्र लहरा रहा था। अत उनका शक्तिशाली अभियान दक्षिण की ओर न जाकर पश्चिमोत्तर प्रदेशो को होता हुआ, ईरान की ओर चला गया।

पारसियो के पैगम्बर भी ऋग्वेद (७।५।६) में वर्णित आर्यो द्वारा बलपूर्वक निकाले जाने की बात का समर्थन करते हैं★। वे भी कहते हैं कि वे बलपूर्वक अपने मातृदेश से बाहर निकाले गये। 'उस्तन्वेतिगाथा' मे, असहाय जरदुस्त जो विलाप-प्रलाप करते है, उसमे भी उनके इस देश-निर्वासन की करुणस्मृति सुरक्षित है

"मै किस देश को जाऊँ? कहाँ शरण लूं? कौन देश मुझको और मेरे साथियो को शरण दे रहा है? न तो कोई सेवक मेरा सम्मान करता है और न देश के दुष्ट शासक। मै जानता हूँ कि मै नि सहाय हूँ। मेरी ओर देख, मेरे साथ बहुत-थोडे मनुष्य हैं। हे अहुरमज्द! मै तुझसे विनीत प्रार्थना करता हूँ।"

अनेक इतिहासकारो के मतानुसार लगभग ४५०० ई० पू० से लेकर ३६०० ई० पू० की यह घटना है।

असुरोपासक आर्यों के इस शक्तिशाली अभियान ने ईरान (आर्यन) आदि देशो में पहुँच कर दजला और फरात-नदी प्रदेश में अत्यन्त समृद्धिशाली सुमेरियन एवं असीरियन साम्राज्यो की स्थापना की। वहाँ व्यवस्थित होने पर उन्होने अपने आदि देश की कई सुखद और दु खद अनुभूतियो को लिपिबद्ध कर सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया। असुरो के इसी अभियान द्वारा मित्र, वरुण, अग्नि, वायु, यम आदि वैदिक देवी-देवताओ के नाम, जलप्लावन की घटना, तथा वैदिक उपाख्यान, वैदिक—शब्द-भडार, और आसुरी-सस्कृति, एशिया-माइनर होती हुई यूरोप तक जा पहुँची। उनके आदि देश सप्तसिन्धु की परम पावनी सिन्धु, सरस्वती और सरयू, भी हप्तहिन्दु सिन्दु, हरह्वती और हैरायू के रूप में वहाँ भी उनके द्वारा स्मरण होती रही। 'साइन्स ऑफ लेंग्वेज' (पृ०२७६) मे प्रो० मैक्समूलर लिखते है —"उत्तरी भारत में एक-एक उपनिवेश जोराष्ट्रियन

★जरदुस्त का समय ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व निश्चित है। इस हिसाब से वे आज से (३००० + १९६५) ४९६५ वर्ष पूर्व, आर्यावर्त से निकाले गये थे।

लागो का भी स्थापित था। वे कुछ समय तक उन साथियो के साथ भी रहे जिनकी पवित्र ऋचाएँ हमारे लिए वेदो मे सुरक्षित हैं, परन्तु किसी मतभेद के कारण जोराष्ट्रियन लोग पश्चिम की ओर ईरान को चले गये।"

'लास्ट रिकल्टस ऑफ दि पर्सियन रिसर्चेज' (पृ० ११२, ११३)में लिखा है कि "जोराष्ट्रियनो ने तथा उनके पूर्व पुरुषो ने वैदिक युग में भारतवर्षसे ईरान में प्रवेश किया, इसके समर्थन मे कई प्रमाण उपलब्ध हैं। जिन देवी-देवताओं के नामो से यूरोप-निवासी अपरिचित है वे सस्कृत भाषा और पारसियो की जेन्द में, एक ही नाम से पूजे जाते हैं। भारतवर्ष-फारस के प्राचीन धर्म और पुराणो में भी विचित्र साम्य है। सस्कृत के कुछ पूज्य देवताओ के नाम जेन्द में निकृष्ट रूप में वर्णित हैं। अत देवी-देवताओ के सम्बन्ध में जहाँ उनमें कुछ मत-भेद प्रमाणित होता है, वहाँ यह भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि वे किसी समय आर्यों के साथ रहते थे और किसी सामाजिक अथवा धार्मिक मत-भिन्नता के कारण एक-दूसरे से पृथक् हो गये।"

कुछ इतिहासकारो का यह कथन कि आर्य ईरान होकर भारतवर्ष में पहुँचे, उपहास्यास्पद है। पारसियो के धर्मग्रन्थो में जो सप्तसिन्धु, सरस्वती और सरयू (हरयू) आदि गढवाल और अल्मोडे की प्रमुख नदियो का उल्लेख है, उससे उनका गढवाल से प्रयाण प्रमाणित होता है। इसके विपरीत भारत के वैदिक साहित्य में न तो किसी ईरानी नदी का नाम है और न वहाँ के किसी स्थान का उल्लेख है। नेहरू जी **'डिस्कवरी ऑव इडिया'** (पृ० १८०)में लिखते हैं कि "अवेस्ता में भारत का उल्लेख है और उसमे, उत्तर-भारत का भी वर्णन है।" इसके विपरीत वैदिक साहित्य मे, ईरान का कोई उल्लेख नही है। अत स्पष्ट है कि वे सरस्वती और सरयू के तटवर्ती क्षेत्र से ईरान को गये हैं, क्योकि यदि वे ईरान होकर भारत मे आये होते तो वैदिक-वाड्मय मे, प्राचीन आर्यों द्वारा ईरानी नगर एव नदियो का अवश्य उल्लेख होता। इस प्रकार प्राचीन ईरान की असीरियन एव सुमेरियन सभ्यता एव सस्कृति आर्य-सभ्यता एव सस्कृति द्वारा स्पष्टत प्रभावित है।

डॉ० हौग **'ऐतरेय ब्राह्मण'** की भूमिका (पृ० २, ३) मे लिखते हैं कि "ब्राह्मण और पारसियो के पूर्वज सजातीय के रूप मे निर्विघ्नतापूर्वक साथ-साथ रहते थे। वह देवासुर-सग्रामो के पूर्व का समय था, जिनका उल्लेख प्राय ब्राह्मण-ग्रन्थो मे हुआ है। इनमे ब्राह्मणो के लिए देव शब्द तथा ईरानियो के लिए असुर शब्द प्रयुक्त हुआ है।" उत्तर वैदिक वाड्मय मे आर्यों द्वारा व्यक्त असुर शब्द मे जो घृणा-भाव है वही भाव पारसियों द्वारा देव शब्द मे अभिव्यक्त है। पारसीधर्म मे मित्र, यम, वरुण, वायु, अग्नि आदि वैदिक देवताओ को असुर और

असुरो के कट्टर शत्रु इन्द्र को बुरी आत्माओ अर्थात् देवो का राजा कहा गया है। देवासुर-संग्राम के बाद, देवो और असुरो का कट्टर मनोमालिन्य पारसी धर्म-ग्रन्थो में अकित है। जोरास्टर यस्न (१२ (१)) में लिखते हैं —"मुझ जोरास्टर (अहुरमज्द के पूजक को) देवो का शत्रु और असुरो का भक्त बनना स्वीकार है। मै दुष्ट, बुरे, असत्यवादी और असत्य एव बुराई के जन्मदाता उन देवो का परित्याग करता हूँ जो अत्यन्त विषाक्त, सघातक तथा सम्पूर्ण जीवो से अधिक पतित है। मै उन पतित देवो के धर्म की अपेक्षा इस धर्म का प्रशसक हूँ, वह मुझे प्रिय है और स्वीकृत है।"

देवताओ को सोम प्रिय था, परन्तु इन्द्रदेव सोम के बहुत शौकीन थे। उसने घडो सोम पान कर असुरो का वध किया था। इसीलिए सोम के आध्यात्मिक महत्व को स्वीकार करते हुए भी, पारसियो की 'अहुनवैतीगाथा' (यस्न ३२) में वैदिक देवताओ के उस अत्यन्त प्रिय सोम के विरुद्ध लिखा है —"हे देवो! तुम उसी बुरी शक्ति से उत्पन्न हो जो सोम की मादकता के द्वारा तुम पर अधिकार कर लेती है। मानव जातिको ठगने और उनकी हिंसा करने के लिए वह तुम्हे अनेक उपायो द्वारा प्रेरित करती है, जिसके लिए तुम लोक विख्यात हो।"

पारसियो की '**स्पेंटा मैन्यूस**' गाथा मे भी देवो के उस सर्व प्रिय सोम के विरुद्ध लिखा है कि—हे बुद्धिमान्! उस उन्मत्तकारक मद्य (सोम) को भ्रष्ट करने के लिए साहसी और दृढनिश्चयी पुरुष कब जन्म लेंगे। यह पैशाचिक कर्म मूर्ति पूजने वाले पुरोहितो को अत्यन्त घमडी बना देता है। और वह पतित आत्मा देश पर शासन करती हुई उस अभिमान में वृद्धि करती है (डॉ० हौग द्वारा पारसी धर्म, पृ० १४६)।

उपर्युक्त उद्धरणो से स्पष्ट है कि उत्तराखण्ड से पराजित असुरोपासक आर्यों का एक शक्तिशाली दल ईरान की ओर गया और वह जल-प्रलय और उसके बाद होने वाले देवासुर-सग्राम की कटु स्मृति भी साथ लेता गया। असीरियन साम्राज्य की स्थापना के बाद उक्त प्रलय-वृत्त तथा आर्यों के देवताओ के प्रति 'असुरो' का उग्र असतोष उनके धर्म-ग्रन्थो में भी सुरक्षित है। स्मरण रहे कि उपर्युक्त विद्वान् भारतीय आर्यों को जोराष्ट्रियनो के ईरान से होकर भारत मे आने का उल्लेख नही करते, वरन् जोराष्ट्रियन-आर्यों का भारत से जाने का उल्लेख करते है।

कुछ इतिहासकारो का कथन है कि जल-प्लावन की घटना और 'देवासुर-संग्राम' का उल्लेख भारत से बाहर विदेशियो के प्राचीन साहित्य में भी मिलता

है*, इसलिए उनका अनुमान है कि आर्यों की हिन्द-इरानी शाखा दक्षिण रूस से निकल कर भारत में पहुँचने से पूर्व, जब वे ईरान अथवा उसकी पूर्वी सीमाओं में साथ-साथ रहते थे, उक्त दोनो घटनाएँ घटी। उसके बाद इनकी दो शाखाएँ हो गयी। एक शाखा ने भारत मे आकर वेदो की रचना की, और दूसरी शाखा ने जो ईरान में ही ठहर गयी थी, 'जेन्दावस्ता' ग्रन्थ की रचना की। 'जेन्दावस्ता' में और ऋग्वेद की भाषा-व्याकरण में बहुत साम्य है।

ईरानियो के धर्म-ग्रन्थो (वेन्दीदाद) में भारतीय नदियो और आर्यों के आदि देश के रूप में सप्तसिन्धु, सरयू और सरस्वती को सप्तहिन्दु, सरयू और सरस्वती के नाम से क्रमश स्मरण किया गया है, (अवेस्ता की भूमिका १-८)। आर्यों की जो शाखा रूस से चल कर ईरान में ही रह गयी और भारत में नही पहुँच सकी, यदि उक्त इतिहासकारो का यह कथन सत्य है तो उनके धार्मिक ग्रन्थो मे भारतवर्ष की सरस्वती, सरयू और सप्तसिन्धु का उल्लेख क्यो है ? इन सब वास्तविकताओ को नजरअन्दाज कर, इन इतिहासकारो का यह कथन कि आर्य, ईरान आदि पश्चिमी प्रदेशो से भारत में पहुँचे, जलप्लावन और देवासुर-सग्राम की घटनाएं जिनका भारतीय साहित्य में विस्तारपूर्वक वर्णन है, इन दोनो शाखाओ के बीच भारतवर्ष में पहुँचने से पूर्व यात्रा-मार्ग में ही जब वे दोनों साथ-साथ रहते थे, घटित हुई है, मेरे विचार से युक्तियुक्त नही हैं। अपने मूल-स्थान दक्षिण रूस से हजारो वर्ष तक चलकर, भारतवर्ष मे पहुँचने वाली आर्य-जाति के पास के ऋग्वैदिक शब्द-भडार की इतनी अधिक विरासत आज तक सुरक्षित रह सकी है, परन्तु पश्चिमोत्तर प्रदेशो मे वे जो मूलस्थान मे ही रह गये तथा मूलस्थान के आस-पास ही थोडो दूर चलकर ठहर गये, उनके पूर्वजो के पास वैदिक विरासत दुष्प्राप्य हो गयी, यह कष्ट-कल्पना सर्वथा असंगत है। जिन भारतीय आर्यों ने वेदो के प्रत्येक अक्षर, शब्द और स्वर को अत्यन्त परिश्रमपूर्वक हजारो वर्ष तक —आश्चर्यजनक रूप से नितान्त शुद्ध रखकर विश्व-साहित्य के इतिहास मे अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत किया है, उनको वैदिक सम्पत्ति के वास्तविक वारिस न कह कर, दो-चार वैदिक शब्दो को भ्रष्ट रूप में रखने वालो को वैदिक सम्पति के वास्तविक वारिस घोषित करना निरा पक्षपात नही तो क्या है ?

यद्यपि ईंटों मे अंकित इस प्रलय-वृत्त के कथावस्तु मे साम्य होते हुए भी, वर्णित व्यक्तियों के नामों मे साम्य नहीं है, परन्तु इस क्षेत्र के प्राचीन अधिकारियों द्वारा भारतीय साहित्य में वर्णित, 'बाइबल' मे वर्णित नूह और भारतीय वाङ्मय का मनु एक ही व्यक्ति है। इससे प्रलय-वृत्त के मुख्य नायक मनु की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है।

इन इतिहासकारो का यह कथन भी कि "ब्रह्मावर्त्त की भूमि आर्यों को इतनी सुखदायिनी प्रतीत हुई कि जो जाति यहाँ एक बार आकर बस गयी उन्होंने इस स्वर्ग को छोड कर बाहर जाने का नाम नहीं लिया। अत यहाँ आकर पुन पश्चिमी देशो की ओर उनका प्रयाण सम्भव नही है।" वे यह भूल जाते हैं कि★ देवासुर-संग्राम में संगठित आर्य-शत्रुओ द्वारा पराजित होकर अयाज्ञिक असुरोपासक आर्यों ने अत्यन्त अनिच्छापूर्वक अपना देश-त्याग किया है। ऋग्वेद (६।२५।२,३ और ६।६०।६) में उन्हें बार-बार वध करने, पराजित करने तथा देश से निकाल बाहर करने का स्पष्ट उल्लेख है। अवेस्ता में भी लिखा है कि वे बलपूर्वक अपनी मातृभूमि से बाहर निकाले गये। केवल पश्चिम मे ही नही, वरन् अपनी स्वर्गभूमि से सुदूर पूर्व, जावा, बोर्नियो, श्याम आदि देशो मे भी जाकर प्राचीन काल मे भारतीयो ने अपना साम्राज्य स्थापित किया था।

पारसी-भाषा एवं 'अवेस्ता' में प्राय 'स' का उच्चारण 'ह' किया जाता है। 'जेन्दावस्ता' मे सप्तसिन्धु को 'हप्तहिन्दु' सोम को होम, सर्व को हर्व, असुर को अहुर, दस को दह, सप्ताह को हप्ताह, सम को हम, सरस्वती को हरह्वैती और सरयु को हरैयु कहा गया है। पाठको को यह जानकर आश्चर्य होगा कि कुमाऊँ की सरयू से, उत्तर-गढवाल मे सरस्वती के तटवर्ती क्षेत्र से लेकर, टिहरी की विष्ट, गमरी और नगुण पट्टियो में आज भी प्राय 'स' का उच्चारण 'ह' किया जाता है। वे सडक को हडक, साग को हाग, सगवाडा को हगवाडा, सौरा को

★ ऋग्वेद मे पणियों का कई स्थान पर उल्लेख है। पणिक एव वणिक शब्द वनिक् (व्यवसायियो) के लिए रूढ सा हो गया है। पणिक आसुरी सभ्यता के अनुयायी थे, जो प्राचीन काल मे उत्तर गढ़वाल की मुख्य सभ्यता थी। डा० सम्पूर्णानन्द आदि कुछ विद्वानों का कथन है कि सप्तसिन्धु मे चलकर इन्हीं पणिकों ने (जो कालान्तर मे प्यनिक फिनिक कहलाये) ईरान, मिश्र और भूमध्य सागर के समुद्र तटो पर व्यापार सम्पर्क स्थापित कर वहाँ प्राचीन आर्य सभ्यता और संस्कृति का प्रचार-प्रसार किया है।

कुछ विद्वानों के कथनानुसार यूरोप के जिप्सी भी मूलत भारतीय बंजारों की सन्तान हैं। वे अपने को डोम कहते है। उनका रंग गहरे ताँबे से जैतून तक का होता है। और वे भारतीय डोमों का पेशा चटाई-टोकरी बीनना, बढ़ईगीरी, बेंत और बाँस का काम करना, रस्सियाँ बटना, साँप नचाना और गाना-बजाना करता है। इनका जीवन घुमक्कड़ का जीवन है। वे दास भी कहलाते हैं। उनका 'डोम' शब्द संस्कृत के 'डोम्ब' और प्राकृत डोम्भ से निकला है।

हौरा, सासू को हासू, सिन्धुओं को सिद्दो, मसाला को महाला, शुरू को हुरू, वास को वाह, सैव को हैव, सुरया को हुरया और सैंधी को हेंधि कहते हैं।

भाषा-साम्य के साथ उत्तराखण्ड से गये इन असुरोपासक आर्यों द्वारा पश्चिमोत्तर एशिया में कई सांस्कृतिक एवं धार्मिक विश्वासों की भी स्थापना हुई है। हजरत मोहम्मद से १६५ वर्ष पूर्व, पाँच स्वर्णपत्रों पर अंकित अरबी के 'सयारे-उल-उकूल' नामक एक प्राचीन काव्य के ३१५ पृष्ठ पर तत्कालीन कवि विनतोय ने राजा विक्रमादित्य की प्रशसा में लिखा है—'इस दयालु राजा के विद्वानो ने यहाँ पहुँच कर अपने सूर्य जैसे प्रकांड पाडित्य से हमारे अज्ञान अंधकार को दूर किया है और हमे सत्य और ज्ञान का मार्ग दिखाया है।' इसी काव्य में अरबी के अन्य कवि अबुलहकम ने भी वेदो और भारतवर्ष की प्रशसा करते हुए लिखा है—'हे भगवान्! एक दिन के लिए मेरा भारत में वास हो जाय, जहाँ पहुँच कर मनुष्य जीवन-मुक्त हो जाता है।' ऋग्वेद के अनुसार असुरोपासक आर्य शिश्नों—लिंगों के उपासक थे। वे रुद्र के उपासक होते हुए भी शिव की संस्कृति से प्रभावित उसकी अश्लील-पूजा-पद्धति के भी कट्टर अनुयायी थे। गढवाल के प्रत्येक भाग मे पत्थर के विशाल शिश्नों-लिंगों तथा ३६० महादेवो का अस्तित्व प्रमाणित हैं। भारत और पश्चिमी एशिया में प्राप्त अनेक मूर्तियो और शिव-लिंगो में भी साम्य है। मक्का के निकट हाल ही मे ३६० शिव-लिंग प्राप्त हुए हैं। कावे के पूजा-स्थल मे, ३६० मूर्तियाँ इस्लाम के जन्म पर नष्ट कर दी गयी थी। मक्का का 'संगे असवद' केदारनाथ धाम की काली शिला और पारसियों को 'आतिशे वहराम' त्रियुगीनारायण की त्रेता-युग से प्रज्वलित अखण्ड अग्नि की प्रतीक है। हज को जाने वाले प्रत्येक मुसलमान यात्री जिस प्रकार काबे की इस काली शिला 'सगे असवद' का भक्तिपूर्वक चुम्बन, आलिंगन एव सात बार परिक्रमा करता है, ठीक उसी प्रकार केदारनाथ को जाने वाले प्रत्येक हिन्दू-यात्री केदारनाथ की काली शिला का भक्तिपूर्वक आलिंगन एव सात बार परिक्रमा करने की परम्परा प्रचलित है। काबा पूजा-गृह के ऊपर की गुम्बद पर, भारत की स्थापत्य कला की छाप है। कुछ विद्वानो का मत है कि मक्का का प्राचीन नाम 'महाकाव्य' था। केदार क्षेत्र की भाँति मक्का मे भी शिवलिंगों के रूप मे असुरोपासना-पद्धति प्रचलित थी। मुहम्मद पैगम्बर तथा उनके अनुयायियो द्वारा उक्त 'बुतपरस्ती' विनष्ट की गयी। भारतवर्ष की साकारोपासना की इस पद्धति की काबा की बुतपरस्ती से तुलना करते हुए इसीलिये महाकवि अकबर ने भारतीय बुतपरस्ती के विरुद्ध जिहाद बोलने वाले मुसलमानो को कहा है

बतलाते हैं बुत जलवए मस्ताना किसी का।
है काबए मकसूद भी बुतखाना किसी का॥

प्रलयकाल के बाद आर्य शरणार्थियो ने जनसख्या की वृद्धि के कारण इस ऊबड-खाबड पर्वत-प्रदेश की विषम प्रकृति के विरुद्ध यत्र-तत्र छोटे-बडे सीढ़ीनुमा खेतो का निर्माण कर जीवन-सघर्ष छेड दिया था। वे लगभग चालीस से अधिक बरसो तक उत्तर-गिरि-प्रदेश मे प्रलय-जल घटने की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करते रहे। इस बीच उन्हे स्थानीय असुरोपासको के विरुद्ध देवासुर-सग्रामो मे भी जूझना पडा। प्रतिकूल जलवायु एव स्थानीय विघ्न-बाधाओ से अधिकाश लोग तग आ गये थे। वे ऋग्वेद (८।३०।३) के अनुसार सदैव यह कामना करते रहे हैं कि वे पिता मनु से आये हुए मार्ग से भ्रष्ट न हो, ताकि जल-अवतरण पर वे उसी मार्ग से पुन दक्षिण-गिरि-प्रदेश को निर्विघ्नतापूर्वक वापस लौट सकें।

इस प्रकार '**कामायनी**' के अनुसार 'उत्तर चला था तब जल-प्लावन और निकलने लगी मही—' जिस क्रम से जलप्लावित उपत्यकाओ का जल सूखता गया और भूमि-भाग ऊपर निकलने लगा उसी क्रम से आर्यों ने हिमालय के उत्तर गिरि से उतर कर पुन दक्षिण गिरि की ओर बढना आरम्भ कर दिया। शतपथ मे मत्स्य भगवान् ने मनु को आदेश दिया था कि यदि पर्वत के निवास-काल मे तुम्हारा जल सम्पर्क बना रहेगा तो ज्यो-ज्यो जल नीचे उतरेगा, उसके साथ उसी क्रम से तुम भी नीचे उतर सकते हो। सम्भव है कि प्रलय-जल के उतरने पर, आर्यों के दक्षिणी अभियान तक वैवस्वत मनु जीवित नही रहे परन्तु मनु-पुत्रो और अन्य आर्य-नेताओ को मत्स्य भगवान् का यह आदेश स्मरण था। जैसे-जैसे और जिस क्रम से प्रलय-जल उतरता गया आर्यगण पर्वत-शिखरो से उतर कर हिमालय की उपत्यकाओ मे होते हुए जहाँ कही समतल भूमि प्राप्त हुई, उस ओर बढने और बसते हुए चलते गये।

प्रलय-जल के अवतरण पर किसी भौगर्भिक परिवर्तन के कारण तराई-भावर और उत्तरी भारत का अधिकाश भू-भाग, जो इससे पूर्व समुद्र-गर्भ में अदृश्य था, ऊपर निकल आया। आर्यों का यह दक्षिणी अभियान इस बार उसे निर्विघ्नता पूर्वक पार कर ब्रह्मावर्त्त से भी आगे गगा के मैदान आर्यावर्त्त मे उतर आया। आर्यों की इस नयी दुनिया, नयी भूमि, नये चारागाह और अनुकूल जलवायु की खोज में, ब्रह्मावर्त्त से आगे उत्तर भारत तक लौट आने का नाम आर्य-आवर्त है। जलप्लावन से पूर्व उनके देश का नाम सप्तसिन्धु था। जलप्लावन के बाद, सप्तसिन्धु के स्थान पर उनके आदि देश का नाम ब्रह्मावर्त्त' और उसके बाद तराई-भावर से आगे गगा के मैदान मे पहुँचने पर 'आर्यावर्त्त' हो गया। ब्रह्मावर्त्त का आवर्त शब्द भी उनका वहाँ सप्तसिन्धु से जाने का सूचक है।

परन्तु अपने पितृ देश सप्तसिन्धु गढवाल के उत्तर गिरि (ब्रह्मावर्त्त) के प्रति उनका जो असीम आदर भाव था, उसको उन्होंने समस्त आर्य-साहित्य में, वेद और पुराणों द्वारा, आज तक सुरक्षित रक्खा है। इतना ही नही, आर्यावर्त्त मे बसने के बाद वहाँ भी उन्होने अपने आदि देश में प्रचलित, अपने प्रिय स्थानों, व्यक्तियो, ग्रामों और नगरो के नाम पर ही अपने नये स्थानों एवं नये परिवारो का भी प्राय नामकरण किया है।

ब्रह्मावर्त्त के कई नगर, पर्वत और नदियो—जिनका आर्यावर्त्त में कोई अस्तित्व नही था उन्होने—आर्यावर्त्त मे—अपनी पवित्र स्मृति के आधार पर उनका भी, नामकरण किया। आर्य-साहित्य में सरस्वती नदी की तरह उनका भौगोलिक अस्तित्व न पाकर, लोग आज अपने अनुमान के आधार पर जगह-जगह उनका अस्तित्व प्रमाणित करते हैं। फिर भी, इस भू-भाग की प्राचीनता एवं उसके आध्यात्मिक महत्व से कोई इनकार नही करता। यही कारण है कि आज भी भारतवर्ष के प्रत्येक भाग से प्रति वर्ष लाखो यात्री यहाँ आकर अपने पितृ देश की यात्रा करना अपने जीवन का अनिवार्यत पुनीत कर्तव्य समझते हैं।

श्री नारायण पावगी लिखते है कि महा हिम युग मे जब जलप्रलय ने उत्तरी ध्रुव देश को जल-मग्न कर दिया था, तो हमारे तृतीय कालीन पूर्वज हिमालय के मार्ग से आर्यावर्त्त की ओर लौटने को विवश हो गये। वे लोग अपने आदि देश सप्तसिन्धु से ध्रुव देश मे गये थे। मनु ने उस सर्वोच्च हिमालय के मार्ग से उन्हे दक्षिण की ओर खींच लेने का प्रयत्न किया था, जिसका उत्तर गिरि के नाम से शतपथ मे वर्णन है। श्री पावगी ने उत्तर गिरि को हिमालय बताकर उत्तरी ध्रुव से दक्षिण दिशा की ओर लौट आने की जो कल्पना की है वह वस्तु-स्थिति से सर्वथा प्रतिकूल है। आर्य उत्तर से दक्षिण गिरि की ओर नही, वरन् शतपथ के अनुसार उत्तर गिरि की ओर भागे थे, जिसका सीधा और स्पष्ट अर्थ यह है कि वे दक्षिण गिरि प्रदेश में रहते थे। जलप्लावन होने पर उन्होने दक्षिण गिरि-प्रदेश से उत्तर गिरि की ओर प्रयाण किया। और प्रलय-जल उतरने पर वे पुन. उत्तर गिरि से दक्षिण दिशा की ओर, आर्यावर्त्त को लौट पडे।

श्री अविनाशचन्द्र दास भी इसे स्वीकार करते है। वे कहते है "मत्स्य मनु को उत्तर गिरि की ओर ले गया। उत्तर मे हिमालय की ऊँची चोटियाँ हैं, जहाँ रक्षा हो सकती थी। उत्तर गिरि जाने में यह भी सकेत है कि मनु कही दक्षिण की ओर से गये थे।"

पुराणो में लिखा है कि दक्षिण मे पहुँचने के लिए अगस्त्य ऋषि ने समुद्र का आचमन कर लिया था और विन्ध्याचल को नीचे कर दिया था। इसका वास्तविक अर्थ यह है कि शिवालिक पर्वत के नीचे और विंध्याचल पर्वत से

ऊपर तराई-भावर में उस समय एक समुद्र था, जो उत्तर में रहने वाले भारत-वासियों को दक्षिण के भारतीयों से पृथक् करता था। जलप्लावन के प्रवतरण पर उक्त समुद्र सूख गया। ऋषि अगस्त्य के नेतृत्व में उत्तर गिरि से आर्य जाति का यह निष्क्रमण, तराई-भावर से होकर गंगा के मैदान को पार करता हुआ प्रथम बार विन्ध्याचल से आगे निर्विघ्नतापूर्वक दक्षिण भारत तक पहुँचने में सफल हुआ था। अगस्त्य ने प्रथम बार अपने इस ऐतिहासिक अभियान द्वारा उत्तर और दक्षिण भारत के बीच सदियों से पड़ी हुई उस खाई को पाट दिया था।

अगस्त्य ऋग्वेद के मन्त्रद्रष्टा ऋषियों में एक थे। उत्तर गिरि में मंदाकिनी के तट पर 'अगस्त मुनि' नामक स्थान पर उनका आश्रम था। परगना नागपुर में आज भी उक्त स्थान उसी नाम से विख्यात है। दक्षिण में आर्य-संस्कृति का सफलता पूर्वक प्रचार-प्रसार करने के लिए अगस्त्य ऋषि ने वहाँ की लोक-भाषा तमिल का विधिवत् अध्यापन कर उसमें व्याकरणकी रचना की। दक्षिण देश में आर्य-सभ्यता का प्रचार-प्रसार का श्रेय ऋषि अगस्त्य को ही है जिनकी स्मृति आर्य ग्रन्थों में इस महत्वपूर्ण आख्यान के रूप में आज तक विद्यमान है। 'दक्षिण देश' की मातृ-प्रधान परम्परा और मन्दिरों की देवदासी प्रथा उत्तर गिरि प्रदेश की पम्पराओं की प्रतीक हैं। गढवाल के प्रमुख देवताओं बदरीनाथ और केदारनाथ का पौरोहित्य-पद उस क्षेत्र में विद्यमान अनेक विद्वान् ब्राह्मणों के बावजूद, जो दक्षिणी ब्राह्मणों के लिए सुरक्षित है, हो सकता है कि उसका कारण भी यही हो। दक्षिण देश में गणपति प्रधान देवता के पद पर प्रतिष्ठित हैं। पार्वती पुत्र गणपति का उत्पत्ति-स्थल भी नागपुर में अगस्त आश्रम के निकट है।*

इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि उत्तर गिरि का यह क्षेत्र प्रलय-जल उतरने पर तथा देवासुर-संग्राम के बाद सभ्य आर्यों एवं असुरोपासक आर्यों से

*रुद्रप्रयाग के लगभग ११ मील की दूरी पर स्थित अगस्त मुनि नामक विशेष नगर है, जहाँ पर प्राचीन भारत के एक महान् ऋषि अगस्त्य मुनि को समर्पित एक मन्दिर है। अगस्त्य मुनि का नाम न केवल उत्तर भारत में ही, अपितु दक्षिण भारत में लगभग सब जगह बड़े सम्मान से लिया जाता है। क्योंकि वह उन सन्तों में से एक थे, जिन्होंने विन्ध्याचल को पार किया तथा एक प्रकार से उत्तर व दक्षिण भारत को समान धार्मिक व सांस्कृतिक तन्तु में बांधा। अत भारत की उत्तरी सीमा के समीप स्थित उनके मन्दिर का मुझ पर बहुत प्रभाव पड़ा। यहाँ से केदारनाथ के मुख्य मार्ग पर त्रियुगी-नारायण हैं।

सर्वथा रिक्त हो गया था। प्रलय-जल के उतरने पर जब निरन्तर हिमपात आदि कठिन परिस्थितियों से पीडित अधिकाश आर्यगण पुन. आर्यावर्त्त को लौट गये तो पर्वतीय परिस्थितियों से अभ्यस्त उत्तर गिरि के शेष स्वाभिमानी असुरोपासक अपने आदि देश में ही रह गये। प्राचीन इतिहासो एव स्थानीय लोक गाथाओं से विदित होता है कि हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, प्रह्लाद, बलि, बाणासुर, भस्मासुर, तारकासुर आदि अनेक असुरराज इसी क्षेत्र में समय-समय पर नवीन शक्ति सचित कर इन सभ्यताभिमानी आर्य-शत्रुओ से भिडते रहे हैं। वे आर्य भी जो अपनी परिस्थितिवश अपने आर्य बन्धुओं का साथ देने में असमर्थ थे, अल्प सख्यक होते हुए भी इस उत्तर गिरि-प्रदेश में ही रह गये। उत्तराखण्ड के वर्तमान निवासियो में अधिकतर उन्ही आदिकालीन आर्य जाति के वशज हैं। इसीलिए उत्तराखण्ड से चलकर आर्यावर्त्त मे बस जाने के बाद उनके आचार-विचार, रीति-रस्मो मे समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। उनसे वे प्राय अछूते रहें हैं।



देवासुर शासन और संस्कृति

देवासुर-संग्राम के बाद जलप्लावन के अवतरण पर जब मत्स्य भगवान् के निर्देशानुसार ब्रह्मावर्त्त से कठिन शीत और अनेक पर्वतीय असुविधाओं से पीड़ित अगस्त्य के नेतृत्व में आर्यों का दक्षिणी अभियान आरम्भ हुआ तो हिमालय की इन पर्वतीय परिस्थितियों से जो स्वाभिमानी असुर-परिवार अभ्यस्त थे, वे आर्य-प्रभुओं का साथ न देकर अपने मूलस्थान मे ही रह गये। वे अपने गत-वैभव और सुदृढ़-दुर्गों को भूले नही थे। आर्य शरणार्थियो ने दक्षिण गिरि-प्रदेश से आकर, बलात उनके घरों, खेतो और चरागाहो पर अधिकार कर उनके सुदृढ़-दुर्गों एवं राजनीतिक स्वाधीनता का अपहरण किया था, वह उन्हे स्मरण था। आर्यों के सम्पर्क में आकर उन्होने उनकी शिक्षा-दीक्षा, युद्ध-कौशल, अस्त्र-शस्त्रो का संचालन एव सगठन-शक्ति से भी जहाँ लाभ उठाया वहाँ अपने प्रबल शत्रु आर्यों से पृथक्, अपने अधिकाश धार्मिक आचार-विचार एव सास्कृतिक परम्पराओ को भी सुरक्षित रखा। आर्यों के ब्रह्मावर्त्त से चले जाने के बाद उन्होने बाणासुर आदि असुरो के नेतृत्व मे अपनी खोई हुई शक्ति सचित कर मध्य हिमालय के उत्तर-गिरि-प्रदेश पर पुन अपना राज्य-शासन स्थापित कर लिया। शक्तिसम्पन्न होने के बाद शीघ्र चिर शत्रु आर्यों के साथ उनके धार्मिक एव राजनीतिक संघर्ष जारी हो गये।

मै इससे पहिले भी लिख चुका हूँ कि जलप्लावन से पूर्व भी आर्यों की दोनो शाखाओ, सौत-पुत्रो में परस्पर युद्ध जारी थे। उत्तरी हिमालय के पर्वतीय क्षेत्र में कश्यपपुत्र असुरराज हिरण्याक्ष का राज्य-शासन था। उसने शक्तिसम्पन्न होने के बाद जब दक्षिणी आर्यों के सीमान्त क्षेत्रो पर आक्रमण किया तो वह आर्य-नेता 'वराह' द्वारा वध किया गया। हिरण्याक्ष के तीनो पुत्रो ने कैलास-क्षेत्र मे शिव के आश्रम पर भी आक्रमण किया, परन्तु शिव-स्नातको द्वारा उन तीनो के तीनो पुर भस्म कर दिये गये। इसीलिये शकर को त्रिपुरारि भी कहा जाता है।

हिरण्याक्ष की मृत्यु के बाद उसके भाई हिरण्यकशिपु ने राज्य की बागडोर संभाली। गद्दी पर बैठते ही उसने भी आर्य-शत्रुओ पर आक्रमण आरम्भ कर दिये। उसने सबसे पहले अपने पडोसी देवराज इन्द्र पर आक्रमण कर, उसके स्वर्ग राज्य पर अधिकार कर लिया। पराजित आर्यों को जब हिरण्यकशिपु के विरुद्ध सीधे संग्राम में विजय प्राप्त करने की आशा नहीं रही तो उन्होने उसके पुत्र प्रह्लाद को उसके परम्परागत धर्म एव सस्कृति के विरुद्ध, आर्य-संस्कृति में

दीक्षित करके अपने पक्ष मे कर लिया। अपने कट्टर शत्रुओ के साथ अपने पुत्र की यह कुलद्रोही घनिष्ठता हिरण्यकशिपु को अत्यन्त अनिष्टकारी प्रतीत हुई। अपने माता, पिता एवं गुरु द्वारा बहुत समझाने-बुझाने पर भी प्रह्लाद किंचित् भी अपने दृढ निश्चय से विचलित नही हो सका। अन्त में हिरण्यकशिपु अपने विद्रोही पुत्र के प्राण लेने पर उतारू हो गया, परन्तु आर्य-शत्रुओ की अप्रत्यक्ष सहायता के कारण, प्रह्लाद का कोई अनिष्ट न हो सका और वह स्वयं आर्य-जाति के नेता 'नरसिंह' द्वारा मार डाला गया।

कुछ विद्वानो के कथनानुसार असुरराज हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु असीरियन वश के सम्राट् थे। भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशो मे कश्मीर तक उनके राज्य की सीमा थी। मुलतान और उसके बाद स्यालकोट उसकी राजधानी थी। इस दृष्टि से गढवाल, कश्मीर का निकटतम पर्वतीय पडोसी होने के कारण उत्तरी गढवाल का यह क्षेत्र उनके राज्यान्तर्गत होना भी असम्भव नही है परन्तु उनके इस आधार की प्रामाणिकता विवादास्पद है।

भारतीय वाड्मय के अनुसार वैदिक युग से पौराणिक युग तक अविच्छिन्न रूप से ऊत्तर गढवाल, नागपुर, दशोली और बधान क्षेत्र में असुरो का राज्य-शासन प्रमाणित होता है। कतिपय स्थानीय स्मारकों एवं लोक गाथाओ से इसके अधिकाश भाग मे हिरण्यकशिपु के राज्य-शासन की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। गढवाल मे प्राचीन काल से प्रचलित इन लोकगाथाओं मे यद्यपि वृत्रासुर और शम्बर का उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु उनमे हिरण्यकशिपु के बाद, बाणासुर तक वशक्रमानुसार सब असुर शासको का जो वर्णन आता है, वह निराधार नहीं है। 'विष्णुपुराण' (१।७।२, ६, २१।२) मे ब्रह्मा के मानसपुत्र कश्यप से दिति के हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु दो महावीर पुत्र उत्पन्न हुए। ये दैत्य कुल के आदि पुरुष कहलाये। हिरण्यकशिपु ने ब्रह्मा से वर प्राप्त कर त्रिलोक-विजय कर स्वर्ग के इन्द्रासन पर भी अधिकार कर लिया। देवतागण उसके त्रास से स्वर्ग छोड कर इधर-उधर बनो में मनुष्य रूप धारण कर घूमने लगे। 'भागवत' के सातवें स्कन्ध मे भी हिरण्यकशिपु का स्वर्ग मे आने-जाने का उल्लेख है। उसका पुत्र प्रह्लाद, प्रह्लाद से विरोचन, विरोचन से बलि और बलि से बाणासुर हुआ। पुराणो में यह भी लिखा है कि हिरण्यकशिपु ने अपनी देह को चार भागों में बाँट कर, स्वर्ग का राज्य-शासन किया था। स्वर्ग के तीन भाग (त्रिविष्टप) प्रसिद्ध ही हैं, जिसका मुख्य भाग वेद और पुराणो के अनुसार हरिद्वार से ऊपर की भूमि है। हिरण्यकशिपु की राजधानी उत्तर गढवाल मे अवस्थित इसी स्वर्ग क्षेत्रान्तर्गत, ज्योतिषपुर जिसको प्राग्ज्योतिषपुर, ज्योतिर्धाम, ज्योतिर्मठ या जोशीमठ भी कहते हैं, थी। इसका प्राचीन नाम 'नरसिंहपुरी' भी

है। आर्य-नेता नरसिंह और हिरण्यकशिपु के युद्ध की स्मृति में वहाँ नरसिंह का प्राचीन मन्दिर आज तक सुरक्षित है। गढ़वाली लोक गीत में कहा है '—डौंड्या नरसिंह रहलो ऊँचा जोशीमठ। दूध्या नरसिंह रहलो शमशानी-घाट। अर्थात्, नरसिंह—भयंकर रुद्र रूप में, जोशीमठ में और उदार रूप मे श्मशान मे निवास करते हैं।

इसी गन्धमादन पर्वत क्षेत्र मे इन्द्र का स्वर्ग भी था। इसी क्षेत्र विष्णुप्रयाग मे इन्द्र के छोटे भाई विष्णु भी रहते थे। यही अलकनदा के उस पार असुर और नागराजाओ का राज्य भी था। प्रह्लाद और बलि के साथ 'महाभारत' (शा० २२२, २२३, २२५) मे इन्द्र का बार-बार उल्लेख हुआ है।

जोशीमठ में ही नही, बदरीनाथ क्षेत्र में भी वाराह नृसिंह प्रह्लाद से सम्बन्धित अनेक प्राचीन स्मृति-चिन्हो का 'केदारखंड' (५८।११८, १३६) में उल्लेख है।

गढवाल के एक परगने का नाम वाराहस्यूँ है। हो सकता है कि आर्य नेता वाराह द्वारा हिरण्याक्ष के बध की स्मृति-स्वरूप उक्त क्षेत्र का नाम 'वाराहस्यूँ' रखा गया हो। जलप्लावन के समय, अनेक गूलो और नालियो का निर्माण कर जलमग्न स्थलों का जल सुखा देने की सार्वजनिक व्यवस्था करने के सम्बन्ध मे भी 'वाराह' भगवान् को स्मरण किया जाता है। 'वाराह पुराण' (१४१) मे लिखा है कि वाराह अवतार का गुप्त स्थान हिमवन्त की पीठ पर है।

गढवाल के प्रत्येक परिवार के कुलदेवताओ में अन्य सब दैवी-देवताओं से प्रथम नरसिंह देवता अधिक पूजित और प्रतिष्ठित हैं। शत्रु का सर्वनाश करने के लिए परपीडित गढवाली ग्रामीण आज भी उसका आह्वान करते हैं। नरसिंह के पश्चात् प्रत्येक गढवाली परिवार मे नागराजा का स्थान भी सुरक्षित है, परन्तु नरसिंह प्रत्येक ग्रामीण द्वारा नागराजा से अधिक पूजित और प्रतिष्ठा प्राप्त है। लोक-गीतो और लोक-नृत्यो मे आज भी उसका प्रभावशाली स्थान स्पष्ट है। यहाँ के कुशल जागरी (धामी) गीत और वाद्यो द्वारा प्रत्येक घर में किसी स्त्री अथवा पुरुष पर समय-समय पर उसका अवतरित करके उसकी पूजा करते है। पीढियो से गढवाल के घर-घर मे विशेष श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रचलित इस अटूट लोक-परम्परा के साथ इस देश की कोई महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना की स्मृति अवश्य सुरक्षित है, जो जनता के जीवन के साथ इतनी गहराई से घुल-मिल गयी है कि अनेक शताब्दियो की सामाजिक एवं धार्मिक क्रांतियो के बावजूद भी सर्वथा अप्रभावित रह सकी हैं।

पराजित असुरो के इतिहास मे प्रह्लाद का आर्य-धर्म मे दीक्षित होना एक इतिहास-प्रसिद्ध घटना है। उस गरीब ने आर्यों को प्रसन्न करने के लिए अपनी

जाति से विश्वासघात किया और कुलद्रोह करके अपने बाप तक को मरवा डाला, तथा आजीवन अपनी चाटुकारिता एवं भक्तिपूर्वक सेवा-सत्कार से इन आर्य-प्रभुओं को कभी अप्रसन्न नहीं होने दिया। परन्तु वह सदैव उनका दास (दस्यु) ही रहा। उस अभागी का जीवन 'हाँ हजूरी' में ही व्यतीत हुआ। सर्व प्रभुत्व-सम्पन्न, विजयी आर्य-प्रभु उसको और उसके जातीय बन्धुओं को अपना 'भक्त' एवं अनुचर बनाने को तो सहमत थे परन्तु उनको अपने समकक्ष स्थान देने में वे रात-दिन हीला-हवाला ही करते रहे। वे उन्हें द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य) तो कहाँ, उनके असंख्य बलिदानों, त्याग और तपस्याओं के बावजूद, कभी मनुष्य मानने के लिए भी तैयार नहीं हुये !! उन्होंने सर्व गुण-सम्पन्न परम शक्तिशाली रावण तक को, जो आर्य-ऋषि पुलस्त्य का पौत्र और विश्रवा मुनि का पुत्र था, ब्राह्मण-कुमार था, मनुष्य के रजिस्टर से खारिज करके, साधिकार राक्षस करार दे दिया।

रावण का सौतेला भाई कुबेर शुद्ध आर्य-रक्त से उत्पन्न होने के कारण आर्यों द्वारा जहाँ आर्य-जाति के चार दिक्पालों के पद पर अभिषिक्त हो चुका था, वहाँ असुर-माता से उत्पन्न होने के कारण रावण राक्षस का राक्षस रखा गया। स्वाभिमानी रावण ने भी इन जात्याभिमानी आर्यों की शासन-सत्ता समाप्त करने में अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग किया। उसने एक बार लंका से लेकर उत्तर-गढवाल हिमालय के अंतिम छोर दशोली, अलकापुरी और कैलास तक अनेक आर्य-नरेशों को, यहाँ तक कि अयोध्यापति राम के प्रपितामह का युद्ध में वध कर डाला था। उसने राक्षसों की सेना लेकर आर्य दिक्पालों यम, वरुण, इन्द्र और कुबेर को पराजित किया, और असुरों के कट्टर शत्रु इन्द्र को तो वह बन्दी बना कर लंका ले गया था। दक्षिण भारत में खर और दूषण उसके दो पराक्रमी राजदूत नियुक्त थे। उसने इन गर्वोन्मत्त आर्यों की इस वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध केवल कृपाण का ही नहीं, कलम का भी—जिसका वह भी धनी था—प्रभावशाली प्रयोग किया। उसने आर्य जाति की परम पूज्य पुस्तक वेद पर भाष्य लिख कर आर्यों के द्वारा विशेष प्रतिपादित वर्ण-व्यवस्था पर भी जो आक्रमण किया वह उसके वेद-भाष्य 'कृष्णयजुर्वेद' में व्यक्त है, जिसमें आर्यों के द्वारा अधिकार पूर्वक प्रचारित, न शाखा-भेद है और न गोत्र-विस्तार।

राक्षसराज प्रह्लाद ने ही नहीं, विभीषण ने भी इन आर्य-प्रभुओं के लिए क्या-क्या नहीं किया। उसने अपने आर्य-प्रभु को प्रसन्न करने के लिए, सर्व प्रभुत्व सम्पन्न अपने समस्त परिवार की बाजी लगा दी, परन्तु उसके इस विलक्षण बलिदान से भी आर्यों के जातीय अभिमान में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। आर्यगण असुरों को, वे अलौकिक देवगुणों से भी सम्पन्न क्यों न रहे हों, अनार्य, अमानुष

एव राक्षस बताकर अपमानित ही करते रहे हैं। उनके पैतृक-पक्षपातपूर्ण भेद-भाव में कोई अन्तर नहीं आया। असुरों की सम्मानपूर्ण सह-अस्तित्व की माँग आर्य-अधिकारियों द्वारा सदैव अस्वीकृत होती गयी। आत्म-सम्मानी और बुद्धिमान् असुर-युवको में आर्यों की इस कट्टर धर्मान्धता से असन्तोष उत्पन्न होना स्वाभाविक था। यद्यपि वे पराजित, अल्पसख्यक और असगठित होने के कारण प्रत्यक्ष सक्रिय प्रतिरोध करने मे असमर्थ थे, परन्तु उनमे अदृश्य रूप से एक उग्र असतोष की ज्वाला सुलगती ही रही।

प्रह्लाद के पीछे विरोचन और विरोचन के पश्चात् जब उसका पुत्र राजा बलि सिंहासन पर बैठा, तो उसके प्रभावशाली शासन मे आर्यद्विजो के विरुद्ध वह विद्रोहाग्नि एक सशक्त रूप मे भड़क उठी। राजा बलि एक शक्तिशाली और महत्त्वाकाक्षी शासक था। उसने अपना राज्य-विस्तार कर अनेक यज्ञ-यागो द्वारा महर्षि भृगु के पुत्र आचार्य शुक्र के निर्देशानुसार, अनेक बुद्धिजीवियो को अपने पक्ष मे कर, अपने राज्य मे आत्याभिमानी इन तीनो वर्णों की सर्वोच्चता समाप्त कर, आर्यों की कट्टर-वर्णव्यवस्था के विरुद्ध हिंसात्मक और अहिंसात्मक आन्दोलन छेड दिया। बलि के इस शक्तिशाली अभियान से आर्य-जगत् प्रकम्पित हो उठा। विद्वानो के मतानुसार आर्यों द्वारा अदिति पुत्र वामन के नेतृत्व में, राजा बलि से तीन पग पृथ्वी माँगने का अर्थ, सर्वोत्तम कहे जाने वाले इन तीन सवर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) के जन्म-जातिगत अधिकारो को राजा बलि से पुन हस्तगत करने का सघर्ष है। आर्यों ने जिस प्रकार नैतिक और अनैतिक साधनो द्वारा हिरण्यकशिपु का वध किया, उसी प्रकार छल-कपट, साम, दाम, दड, भेद द्वारा उन्होंने दानी, वीर राजा बलि को भी पराजित कर दिया।

पुराणो से विदित होता है कि आर्य-अधिकारियो द्वारा वर्ण-व्यवस्था मे असुर जाति की सामाजिक स्थिति अत्यन्त विवादास्पद कर दी गयी थी। वे उन्हे द्विजो, तीनो सम्माननीय वर्णो (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) के समकक्ष तो कहाँ, मनुष्य श्रेणी मे भी स्थान देने के लिए तैयार नही थे। इसका सम्मानपूर्ण समाधान किसी भी स्वाभिमानी। किसी भी व्यक्ति एव जाति के लिए, जिसकी शक्ति और सर्व गुणसम्पन्नता अन्य किसी भी वर्ण से न्यून न रह गयी हो, अत्यन्त आवश्यक था। राजा बलि ने आर्य-द्विजो के इन जन्म-जातिगत स्वत्वो को सर्वथा अस्वीकृत कर दिया था। उसकी इस साधिकार घोषणा से आर्य-जगत् आन्दोलित हो उठा। उन्होंने अनुनय-विनय द्वारा तीनो वर्णों के परम्परागत अधिकार पुन प्राप्त करने की चेष्टा की। उनकी सर्वथा अस्वीकृति पर अदितिपुत्र विष्णु वामन के नेतृत्व मे आर्यों ने व्यापक-जन आन्दोलन कर असुरराज बलि को छल-कपट द्वारा राजसिंहासन से पदच्युत करके पुन हिमालय में अलकनन्दा (सिन्धु) पार केवल

इसी नागपुर मढ़वाल का (जिसको भौगोलिक ज्ञान में सर्वथा अपरिचित भाष्यकारों द्वारा नागलोक एवं भ्रमवश पाताललोक भी कहा गया है) शासक बनने के लिए बाध्य कर दिया। राजा बलि को भी, विवश होकर अपने इस सीमित क्षेत्र पर, अपना पितृदेश समझ कर सतोष करना पड़ा।

पौराणिक गाथाओं के अनुसार असुरराज बलि ने त्रिलोक (त्रिविष्टप) विजय कर अपने सीमान्त क्षेत्र पर भी आक्रमण कर इन्द्र से गन्धमादन पर्वत क्षेत्रान्तर्गत इसका स्वर्ग राज्य भी हस्तगत कर लिया था। विष्णु ने अपनी माता अदिति का मनोरथ पूर्ण करने मे लिए वामन का रूप धारण कर, छल-कपट से केवल तीन पग पृथ्वी माँगने के बहाने बलि को पराजित कर, उसका राज्य, उसकी स्वर्ग भूमि उससे छीन कर अपने बडे भाई इन्द्र को नागलोग (नागपुर) भेज दिया। ऋग्वेद में भी सूत्र एव काव्य रूप से कई स्थानो पर वामनावतार विष्णु के इन तीन पादो का उल्लेख है (ऋ० १।२२।१७, १।१५४।१,२,३,४, ३।५४। १४, ८।१२।२७ और ८।२६।७)।

अदिति के पुत्रो मे इन्द्र सबसे बडा और विष्णु-वामन सब से छोटे थे। जेष्ट होने के नाते इन्द्र को गन्धमादन पर्वत क्षेत्र के अन्तर्गत स्वर्ग का राज्य मिला। उसका छोटा भाई विष्णु वामन भी, गन्धमादन पर्वत क्षेत्र के आस-पास, विष्णुप्रयाग मे रहते थे और वही निकट ही में दूसरी ओर अलकनन्दा के उस पार नागपुर मे बलि का राज्य था। अदिति और दिति दोनो के सौतिया पुत्रो की राज्य-सीमाएँ परस्पर मिलती थी। शासन-भार ग्रहण करते ही बलि ने, आक्रमण कर, इन्द्र के स्वर्गराज्य पर अधिकार कर लिया। अत बलि के विरुद्ध अदिति पुत्रो इन्द्र और विष्णु वामन तथा अन्य आदित्यो (देवो) के सघर्षों का, अन्य कारणो के साथ, एक यह भी कारण था।

हरिद्वार से ऊपर की स्वर्ग भूमि तीन भागो (त्रिविष्टप, उत्तर गिरि और दक्षिण गिरि) मे विभाजित थी। विष्णु के तीन पादो का अर्थ यह भी हो सकता है कि राजा बलि ने त्रिविष्टप (स्वर्ग) से देवताओ को निकाल कर, उसके इन तीनो भागो पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया था। यह बात देवताओ को सहन नही हुई। उन्होने विष्णु वामन के नेतृत्व मे राजा बलि को पराजित कर, उसको त्रिविष्टप के तीनो क्षेत्रो से वंचित कर केवल नागपुर (नागलोक) क्षेत्र पर ही सन्तोष करने के लिए विवश कर दिया था। जो कुछ भी हो, आर्यों की धर्म-व्यवस्थानुसार तीनो वर्णों के पैतृक अधिकारो को पुन प्राप्त करने के सामाजिक एवं धार्मिक जन-आन्दोलन के साथ, बलि के विरुद्ध अदिति पुत्र इन्द्र और वामन के सघर्ष के अपने राजनीतिक कारण भी थे।

कुछ विद्वानो ने हिरण्यकशिपु को, असीरियन वश का सम्राट् और कुछ ने

बलि को दक्षिण में महाबलिपुर का राजा करार दिया है। उनके कथन की प्रमाणिकता का आधार क्या है, यह वही जानें, परन्तु जहाँ तक प्राचीन ऐतिहासिक स्मारक भौगोलिक वास्तविकता का प्रश्न है, हम गढवाल मे उनके प्राचीन अस्तित्व के सम्बन्ध में इससे पूर्व पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत कर चुके हैं। गढवाल की लोकगाथाओं मे, राजा हिरण्यकशिपु प्रह्लाद और बलि के उपाख्यान सर्वत्र आज भी मुखरित हैं। जब विष्णु वामन के रूप में, असुरराज बलि के दरबार मे पहुँचते हैं तो गढवाल को प्रचलित लोकगाथाओ मे उनका परस्पर जो वार्तालाप होता है, उसका सक्षिप्त अश यह है

बोला, बोला बरमा ! क्या दान चंद ?
ले-लेवा बरमा ! सोना को दान।
सोना को दान नी चैंद राजा !
गौंको सुनार गड़ी नि देन्दो।
दुवलो गढलो हरि देलो आधो।
ले-लेवा बरमा जी ! तामा को दान।
तामो तमोटो पूरो नि देन्दो।
आधो हरलो, आधो गढ़लो।
बोला बोला बरमा ! क्या दान चंद।
दे देवा राजा जी ! वचन को दान।
ले-लेवा बरमा ! वचन को दान।
दे देवा राजा जी ! तिखुटी धरती।
तिखुटी धरती देए तीन लुटा जगा।
या क्या मागे बरमा तिखुटी धरती।
छाँट-छाँट बरमा ! तीन लुटा जगा।
बरमा न दुई लुटा धरती मा धार्या।
नापीने बरमा ! तिन तीनी लोक।
एक लुटो रंगे बरमा को खालो।
कख धारू राजा जी ! मै तीजो पैर ?
नी रंगे राजा जी धरती मा ठौर।
धरि देवा बरमा जो ! कांधि मा पैर।

बलि —ब्रह्मणदेव ! कहिए, आपको किस वस्तु का दान चाहिए ? क्या आप सोने का दान स्वीकार करेंगे ?

वामन —नही राजन्, मुझको स्वर्ण की आवश्यकता नही है। क्योकि गाँव

का सुनार उसे ठीक तरह नहीं गढ़ता। वह उसे दुर्बल गढता है और उस पर भी आधा चोर देता है।

बलि .—तो ब्राह्मणवर ! आप ताम्बे का दान ग्रहण करें।

वामन —नहीं राजन् ! तमोटा पूरा ताम्बा नहीं देता, वह भी आधा चोर लेता है, और आधे का बर्तन गढता है।

बलि —तो ब्राह्मणदेव ! आपको क्या दान दूँ ?

वामन —राजा ! मुझे आप वचन दें।

बलि :—ब्राह्मणदेव ! मैं आपको वचन-दान देता हूँ।

वामन —राजा ! आप अपने वचन के अनुसार तीन पैर धरने को भूमिदान दीजिए।

बलि —ब्राह्मणदेव ! आप केवल तीन पैर भूमि लेकर क्या करेंगे ? आप तीन पैर से नाप कर कही पर भी भूमि छांट ले।

वामन ने अपने दोनो पैर पृथ्वी मे धरे और केवल दो कदमो से तीनो लोको को नाप लिया। ब्राह्मण का जब तीसरा कदम शेष रह गया तो वह राजा बलि से बोला —राजन्, बताइये, अब मैं अपना तीसरा पग कहाँ धरूँ ? क्योकि अब पृथ्वी मे तीसरा पैर धरने को कोई ठौर शेष नही रह गयो है। बलि बोले — ब्राह्मण देव ! आप अपना तीसरा कदम मेरे कधे पर रखें।

इस प्रकार राजा बलि की यह पराजय गढवाल की लोकगाथाओं में प्राचीन काल से गायी जाती रही है। आर्यों के इस विजयोत्सव का नाम गढवाल मे बलिराज और बग्वाल है। गढवाल मे भाद्रपद शुक्ला एकादशी को आज भी वामन अवतार की पूजा होती है। इन लोकगाथाओ मे राजा बलि और बाणासुर की गीत-गाथा विभिन्न रूपो मे प्रचलित है। राजा बलि के इस लोकगीत मे, ब्राह्मण से स्वर्ण के पश्चात् चान्दी का दान न कह कर, जो सीने ताम्बे का दान माँगने का आग्रह करते हैं, उससे उनके राज्य मे, चान्दी का सर्वथा अभाव एव ताम्बे की अधिकता का एक महत्वपूर्ण ऋग्वैदिक ऐतिहासिक तथ्य भी प्रकट होता है। हम इसमे पूर्व, गढवाल मे, विशेषकर बलि के राज्य नागपुर क्षेत्र मे, चाँदी का अभाव और सोने तथा ताम्बे को प्रचुरता सप्रमाण सिद्ध कर चुके है। अलकनन्दा (सिन्धु) जिसको ऋग्वेद मे (हिरण्यवर्तिनी) अर्थात् सोना देने वाली नदी कहते हैं, आज भी सोना निकलता है और नागपुर क्षेत्र मे ताम्बे की सबसे अधिक खानें हैं।

राजा बलि की पराजय से असुरो की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति और भी दयनीय हो उठी। विजयी आर्यों के समक्ष उनकी सामाजिक और आर्थिक अवस्था निकृष्ट वर्णों से भी बदतर होती गयी, परन्तु एक शक्तिशाली जाति को,

जिसका आदि स्रोत एक ओर अतीव गौरपूर्ण रहा हो, पददलित कर उसको समान मानवीय अधिकारो से कब तक बलात् वंचित रखा जा सकता था। राजा बलि की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र बाणासुर नागलोक (नागपुर) का राजा बना।+।उसने अपने चिर शत्रु विजयोन्मत्त आर्यों के ब्रह्मावर्त्त छोड कर, आर्यावर्त्त मे चले जाने के बाद, अपनी आर्थिक एव राजनीतिक शक्ति सुदृढ कर, अनेक विध्वंशकारी युद्धास्त्रो से सुसाज्जित होकर, आर्यों के विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी। बाणासुर का यह विकट सग्राम प्राचीन लोकगीतो द्वारा गढवाल में आजतक प्रतिध्वनित है। मैखडा (नागपुर) जहाँ पर भगवती महिषमर्दिनी ने महिषासुर का वध किया था और बामसू (बाणासुर) मे बाणासुर द्वारा निर्मित अनेक ऐतिहासिक स्मारक सुरक्षित हैं।

ससार के सर्वोत्तम प्राकृतिक सौंदर्य से सम्पन्न देवनदी मदाकिनी की यह उपत्यका अनेक प्राचीन तीर्थों और ऐतिहासिक स्मारको से अलकृत है। यही गुप्तकाशी के सम्मुख मन्दाकिनी के वाम पार्श्व मे आचार्य शकर द्वारा स्थापित मठ के पास उखीमठ-बामसू मे बाणासुर द्वारा निर्मित उसकी पुत्री उषा का मन्दिर है। लमगौरी स्थान मे उषा के प्रियतम श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध का भी मन्दिर है। बामसू गाँव मे यादव सेना के साथ बाणासुर के युद्ध में अगणित सैनिको का शोणित बहा था। इसलिए वह स्थल आजतक शोणितपुर के नाम से विख्यात है। इसी के निकट बाणासुर के प्राचीन दुर्ग के भी अवशेष हैं।

शक्तिशाली आर्य-शत्रुओ के ब्रह्मावर्त्त से चले जाने के बाद, बाणासुर ने

+ केदार १६४।१०

वैदिक काल के पूर्वार्द्ध मे पैतृक धन और सम्पत्ति के असमान सौतिया बाँट से असहमत सौतपुत्रों (देवो और दानवो) के पारस्परिक मनोमालिन्य के फलस्वरूप ऋग्वेद में असुरराज हिरण्याक्ष से लेकर राजा बलि तक, देवताओं के विरुद्ध असुरो के युद्धों का वर्णन है। ये युद्ध जलप्लावन से पूर्व हो चुके थे। जलप्लावन के अवसर पर, आर्य शरणार्थियों के अप्रत्याशित प्रवेश से उत्पन्न सामाजिक और आर्थिक भेद-भावों के कारण, उनका परम्परागत मनोमालिन्य देवासुर-सग्राम के रूप मे फूट पड़ा। मालूम होता है कि देवासुर सग्राम मे बन्द जल-अवतरण पर जो पराजित असुर-परिवार ब्रह्मावर्त्त को छोड कर न तो अपने साथियो के साथ पश्चिमोत्तर देशों को गये और न आर्यों के दक्षिणी अभियान के साथ आर्यावर्त्त को ही जा सके, उनमे राजा बलि की सतति भी थी, जिसने ब्रह्मावर्त्त मे अपनी शक्ति सचित कर अपने पिता, प्रपितामह के शत्रु आर्यों के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी।

निष्कंटक होकर अपने राज्य का विस्तार, गढ़वाल-कुमाऊँ में ही नहीं, वरन् हिमालय के पर्वत-प्रदेश में बहुत दूर तक, फैला दिया था। कुमाऊँ में लोहगढ़ को भी (शोणितपुर) बाणासुर को राजधानी कहा जाता है। श्री बदरीदत्त पांडे ने 'कुमाऊँ का इतिहास' (पृष्ठ १४) में कौटौलगढ़ को भी बाणासुर द्वारा स्थापित बताया है।

प्राचीन काल में रुद्रप्रयाग से लेकर रुद्रनाथ तक इस समस्त मन्दाकिनी उपत्यका मे सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन पर ऋग्वैदिक रुद्र का एकछत्र शासन था। इस क्षेत्र में स्थान-स्थान पर रुद्र के ऐतिहासिक स्मारकों के बाहुल्य से इसकी पुष्टि होती है। इसी क्षेत्र में उनके आचार्यत्व में कहीं एक महत्वपूर्ण विश्वविद्यालय स्थापित था, जिसके स्नातकों में देव और असुर दोनो को शिक्षा-प्राप्त करने का समान अधिकार था, परन्तु असुरों के राज्यान्तर्गत होने के कारण वहाँ शिव के अहियों और असुर-भक्तो का बाहुल्य होना स्वाभाविक था। ऋग्वेद में अहियों का देवों से पराजित होने के बाद, रुद्र की शरण, जाने का उल्लेख है। इस प्रकार यह मन्दाकिनी-उपत्यका कैलास का यह क्षेत्र स्थानीय आचार्य शिव और पार्वती की संरक्षता से शिव-संस्कृति से प्रभावित असुरो एवं शैव-सभ्यता का ही मुख्य केन्द्र नही रही है, वरन् इसी क्षेत्रान्तर्गत मैखंडा (महिष-खडा) में शाक्तो की उपास्य देवी शक्ति भी महिषमर्दिनी, महिषासुर बध के लिए अवतरित हुई थी।

महादेव और पार्वती बाणासुर के संरक्षक और कुलदेव थे। केदारनाथ, रुद्रनाथ, मदमहेश्वर, तुंगनाथ, गुप्तकाशी, ऊखीमठ और रुद्रप्रयाग में उनके आश्रम थे। कई विद्वानों का मत है कि शिव का 'केदार' नाम केदार क्षेत्र के असुर निवासियों द्वारा ही प्रचलित हुआ है। जो कुछ भी हो केदार नाम पर, हरिद्वार से ऊपर सारे पर्वतीय प्रदेशो का केदारखंड नाम होना, मंदाकिनी-उपत्यका की इसी शिव-संस्कृति के व्यापक प्रभाव का स्पष्ट परिचायक है। इन्ही आश्रमो में यहाँ के असुर निवासियो के साथ बाणासुर ने शिव और शक्ति की उपासना कर उनसे सर्वशक्ति-सम्पन्न होने का वरदान प्राप्त किया था। उसके साथ उसकी पुत्री उषा भी पार्वती से विद्याध्ययन करती थी। बाणासुर और रावण शिव के शिष्य, लिंग के उपासक और शैव-सम्प्रदाय के कट्टर भक्त होने के कारण आपस मे घनिष्ट मित्र एवं गुरु-भाई थे। दोनो सहपाठियों ने आचार्य शंकर के चरणो में बैठ कर उनसे साथ-साथ शस्त्र-शास्त्रो का अध्ययन किया था।

बदरीनाथ के निकट, गन्धमादन-पर्वत-प्रदेशान्तर्गत सरस्वती के तट पर अलकापुरी मे लंकापति रावण का भाई कुबेर, गन्धर्व, किन्नर, यक्ष और राक्षसो सहित राज्य करता था। रुद्र के साथ कुबेर की मैत्री थी (महाभारत, शा० प०

४७।२८।१)। वह रावण से पहले लंका का अधिपति था परन्तु रावण के बार-बार आक्रमणों से तंग आकर उसने अपने पिता की सलाह लेकर रावण के लिए लंका का राज्य त्याग दिया था और स्वयं कैलास में अलकनन्दा के तट पर अलकापुरी में अपनी राजधानी बना कर रहने लगा था। हिमालय के भौतिक विप्लवों, विशेषकर १८०३ के ऐतिहासिक भू-कम्प द्वारा गढ़वाल के अनेक प्राचीन स्मारक और प्राचीन नगरों के भग्नावशेष भी यत्र-तत्र भूमि-गर्भ में विलीन हो गये, परन्तु गढ़वाल की जनपदीय लोक-गाथाओं के साथ स्मृतिस्वरूप उनकी नामावली तथा अनेक ऐतिहासिक वृत्त अभी तक सुरक्षित हैं।

रावण का पिता आर्य विश्रवा और माता असुरराज सुमाली की पुत्री कैकेसी थी। यह भी उल्लेखनीय बात है कि रावण का भाई कुबेर विश्रवा मुनि और आर्य-ऋषि भारद्वाज की पुत्री से उत्पन्न था। विशुद्ध आर्य-रक्त से उत्पन्न होने के कारण कुबेर आर्यों द्वारा उनके चार दिक्पालों में, धनेश कुबेर के नाम से प्रतिष्ठित किये गये। कुबेर का पुष्पक-विमान प्रसिद्ध था। ऋषि भारद्वाज, जिनका आश्रम हरिद्वार में था (महाभारत, आदि० १२६।६), अनेक दिव्य शस्त्र-शास्त्रों के आचार्य थे। उनके द्वारा रचित प्राचीन ग्रन्थ **'यंत्र सर्वस्व'** जिसमें अनेक प्रकार के विमानों के निर्माण और उनके सचालन से सम्बन्धित अनेक वैज्ञानिक रहस्यों का वर्णन है, इन्हीं भरद्वाज ऋषि की रचना है। मालूम होता है कि अपने दौहित्र कुबेर को यह विलक्षण पुष्पक-विमान इसी **'यंत्र-सर्वस्व'** के रचयिता आचार्य भरद्वाज द्वारा ही दिया गया था।

इसी कैलास-क्षेत्र के अन्तर्गत दशोली (दशमौलि) वैरासकुंड में रावण ने अपने दसों मौलियों को काट कर उन्हें शिव जी को समर्पित किया था और उनसे तीन वर प्राप्त किये थे। इसी क्षेत्र में रावण ने वेदों का पांडित्यपूर्ण अध्ययन किया और उन पर अपना प्रसिद्ध **'कृष्ण-यजुर्वेद-भाष्य'** लिखा। यहाँ से वे कभी-कभी नागलोक (नागपुर) जाकर अपने परम मित्र बाणासुर के उत्सवों में भी सम्मिलित हो जाता था। पुराणों में रावण का कई बार नागलोक में बाणासुर के पास जाने का उल्लेख है। **'रामायण'** में भी राम-लक्ष्मण के विरुद्ध रावण और मेघनाद का हिमवन्त में बार-बार शिव-पूजन के बहाने शस्त्र-शास्त्रों के आचार्य शंकर से युद्ध-कला से सम्बन्धित आवश्यक आदेश-निर्देश प्राप्त करने के लिए पधारने का उल्लेख है। पुराणों में तुंगनाथ-पर्वत पर रावण-शिला स्थान के निकट रावण का शिव की तपस्या और उनसे वरदान प्राप्त करने का वर्णन है (**केदारखंड** ८१।१६,१७)।

सुदूर द्वारिका-धाम से श्रीकृष्ण और अनिरुद्ध का, बात-की-बात में हिमालय के उत्तर में पहुँचने से पाठकों को कुछ आश्चर्य होगा। **'महाभारत'** के अनुसार

श्रीकृष्ण जी का गढ़वाल में कई बरसों तक निवास-स्थान रहा है। वे कई बार रुक्मिणी सहित गढ़वाल में पधारे हैं। महाभारत, (सौप्तिक पर्व १२।३०,३१) में लिखा है कि हिमालय के इसी क्षेत्र में रहकर कृष्ण ने रुक्मिणी के गर्भ से प्रद्युम्न को जन्म दिया। भगवान् कृष्ण ने सायगृह मुनि होकर १० हजार वर्ष तक निवास किया था (महा० वन० १२।११)। उन्हें यह क्षेत्र इतना प्रिय था, कि यदुवंश के नष्ट होने पर उन्होंने अपने प्रिय सखा उद्धव को (विष्णुपुराण, ५।३४।३७) बदरीकाश्रम में आने का उपदेश दिया था। गढ़वाल को भगवान् कृष्ण के परममित्र पाँचो पाण्डवो की जन्मभूमि होने का ही गौरव प्राप्त नही है, वरन् उन्होने अपने वनवास का अधिक समय इसी क्षेत्र में विचरण कर व्यतीत किया था। उनके वनवासकाल में श्रीकृष्ण का बार-बार उनके पास पधारना भी असम्भव नही है। गढवाल के लोकगीतो में, प्रचलित लोक-गाथाओं के अनुसार यहाँ के नागराजाओ के साथ श्रीकृष्ण की घनिष्ट आत्मीयता के अनेक उदाहरण है, जिनसे उनके दीर्घकाल तक गढवाल-निवास पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। अत उनके इस दीर्घकालीन गढवाल-वास के समय उषा-अनिरुद्ध का प्रणय-सम्बन्ध, तथा वाणासुर-श्रीकृष्ण के युद्ध की अधिक सम्भावना है।

जो कुछ भी हो पुराणो के कथनानुसार जब श्रीकृष्ण को वाणासुर द्वारा अनिरुद्ध के बन्दी बनाये जाने की सूचना मिली तो वे तुरन्त ससैन्य व्योमयान (गरुड) द्वारा जोशीमठ जिसको विष्णुप्रयाग के निकट होने से प्राग्ज्योतिषपुर भी कहते थे, नागपुर पहुँचे। उस युग मे भी आज की ही भाँति स्थलीय यानो द्वारा इस अगम्य पर्वत-प्रान्त मे गमनागमन अत्यन्त असुविधाजनक था। केवल नागपुर—वाणासुर के राज्यान्तर्गत—गौचर अगस्तमुनि के निकट कुछ ऐसे विस्तृत समतल भू-भाग है, जहाँ आज भी हवाई-जहाज के अड्डो का निर्माण किया गया है।

कुछ विद्वान् पुराणो मे वर्णित वाणासुर की राजधानी प्राग्ज्योतिषपुर को आसाम मे बतलाते है। 'हरिवंश' के कथनानुसार श्रीकृष्ण, वाणासुर-युद्ध के पश्चात्, सत्यभामा सहित प्राग्ज्योतिषपुर से लौट कर गन्धमादन पर्वत क्षेत्रान्तर्गत, स्वर्गाधिपति इन्द्र के यहाँ स्वर्गलोक अमरावतीपुरी में गये थे जिससे प्राग्-ज्योतिषपुर की भौगोलिक स्थिति स्पष्टत आसाम में नहीं, वरन् जैसा हम इससे पूर्व भी लिख चुके हैं, स्वर्ग राज्य के निकट—गन्धमादन पर्वत क्षेत्रान्तर्गत है।

महादेव-पार्वती का सहयोग एव आशीर्वाद पाकर, उनकी संरक्षता में वाणासुर अनेक अद्भुत शस्त्र-शास्त्रो से संपन्न एक शक्तिशाली नरेश हो गया था। उसकी अनेक विशाल बाहें (आर्म्स) उसकी विशाल हवाई, स्थल और जल-सेना की सूचक थीं। अँग्रेजी में भी आर्म्स (भुजाएँ) अनेक प्रकार की

युद्ध-कुशल सेनाओं का पर्याय है। श्रीकृष्ण भी शस्त्र-शास्त्रों में परम प्रवीण और युद्ध-कलाओं के मर्मज्ञ थे। दोनों ओर से विकट संग्राम होने लगा। स्वयं वाणासुर के कुलदेव रुद्र, वाणासुर और उसकी राजधानी की रक्षा के लिए रणक्षेत्र में लड़ने लगे। रण में अनेक आश्चर्यजनक आग्नेय-अस्त्रों के अतिरिक्त शीत-पित्तज्वर, रोग-कीटाणुओं तथा सम्मोहनास्त्रों (विषैले गैसों) का भी प्रयोग किया गया था। अन्त में उषा-अनिरुद्ध के वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा वाणासुर के शैव और श्रीकृष्ण के वैष्णवों दोनों सम्प्रदायों में सन्धि हो गयी। सुर और असुरों का देव और दानवों का पीढ़ियों का मनोमालिन्य समाप्त होकर असुर-वंश पुनः अपने मूल वंश आर्य-समाज में सम्मिलित हो गया।

उत्तर-गिरि प्रदेश में मन्दाकिनी की यह उपत्यका केवल शैव-सम्प्रदाय के लिए ही नहीं, वरन् शाक्तों के लिए भी आध्यात्मिक दृष्टि से विशेष गौरवपूर्ण रही है। नागपुर—मैखंडा (महिषखंडा) के उत्तरी भाग में काली मठ स्थान पर महिषमर्दिनी देवी ने असुरराज महिषासुर एवं उसके वीर सेनापति रक्तबीज का वध किया था★। 'वाराहपुराण' के अनुसार ब्रह्मा ने महिषासुर के विनाश के लिए भगवती की हिमालय में स्थापना की, जिससे वह अत्यन्त आनन्दित हुई। इसी कारण भगवती का नाम 'नन्दा' पड़ा। अन्य ग्रन्थों में लिखा है कि भगवती देवलोक नन्दन कानन और पवित्र हिमालय में रह कर परम आनन्दित हुई, इस कारण उसका नाम 'नंदा' पड़ा (शब्दार्थ-पारिजात पृ० ४५५)। स्मरण रहे कि यहाँ का नंदा-पर्वत एवं नन्दा देवी के सर्वोच्च पर्वत-शिखर जहाँ के निकट-निवासियों द्वारा आज भी प्रत्येक बारह वर्ष व्यतीत होने पर बड़ी धूमधाम से विधिपूर्वक नन्दा देवी की पूजा होती है, पुराण प्रसिद्ध इसी ऐतिहासिक स्मृति के सूचक हैं (केदारखंड १०४।५)।

'केदारखंड' (अध्याय ८२ से ८८ तक) तथा 'देवी-भागवत' में असुरों के साथ इसी क्षेत्र में देवी-देवताओं के भयंकर युद्धों का उल्लेख है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि इस क्षेत्र में असुरों का प्राचीन काल में प्राबल्य था। इसी क्षेत्र में महाकवि कालिदास कृत 'कुमार सम्भवम' के कथानुसार स्वामी कार्तिकेय द्वारा तारकासुर का भी वध किया गया था। हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु बलि और वाणासुर की भाँति तारकासुर भी देवताओं का इतना घोर शत्रु था कि बार-बार पराजित देवताओं को कुमार कार्तिकेय की उत्पत्ति के निमित्त सती

★ प्रसिद्ध रूपकुण्ड के आस-पास जो हजारों मानव-अस्थि-पंजर पड़े हैं, वे इसी नन्दा-उत्सव के समय, यात्रा-पथ में—आकस्मिक अधिक हिमपात के कारण मृत यात्रियों के शव हैं।

की मृत्यु के पश्चात् संसार से विरक्त भगवान् शिव को पुन पार्वती से विवाह करने की प्रार्थना करनी पडी। इसीलिए गंगाजी को तारकासुर-हन्त्री (केदार० ३८।२७) कहा गया है। मंदाकिनी के तट पर गौरीकुण्ड में स्वामी कार्तिकेय की उत्पत्ति के लिए पार्वती जी ने अनुस्नान किया था* (केदार० ४२।४८)। इस क्षेत्र में कार्तिकेय-शिखर पर स्वामी कार्तिकेय का प्राचीन मन्दिर उस प्राचीन स्मृति का स्मारक है (केदार० ४२।३१)। इसी क्षेत्र में श्रीकृष्ण और वाणासुर के युद्ध में, महादेव जी और कुमार कार्तिकेय दोनो श्रीकृष्ण के विरुद्ध लडे थे।

इस प्रकार उत्तर गढवाल के परगना नागपुर, दशोली और वधाण क्षेत्र मे वेद और पुराणो के अनुसार असुरोपासक शैव और शाक्तो का बाहुल्य रहा है। वधाण के निकट जिला अल्मोडे के अन्तर्गत दानपुर यही दानव जाति की स्मृति को सूचक है। आज भी वहाँ की 'दानव' नाम की जाति प्राचीन दानवों का स्मरण दिलाती है। 'महाभारत' मे द्रौपदी सहित पाँचो पाडवो ने अपने वनवास के दस वर्ष अलकन्दा के तटवर्ती क्षेत्र मे गन्धमादन, बदरीनाथ, नर-नारायण-आश्रम, मेरु और कैलास-पर्वत पर विचरण करते हुए व्यतीत किये थे। इस पावन क्षेत्र मे जहाँ यक्ष और असुरो की अधिकता थी, वहाँ वह ब्राह्मस्थिति को प्राप्त वेद-वेदाग मे पारगत अनेक ब्राह्मण ऋषि-महर्षियो से भी सदैव परिपूर्ण रहता था। यही वसुधारा तीर्थ है, जहाँ जाने से अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है (महाभारत, वन पर्व ८२।७६)।

भीमसेन ने वनवास काल में अपने भाइयो एवं माता कुन्ती की सलाह से हिडिम्बा नामक एक असुर-महिला से यहाँ विवाह किया था। उसी से भीमसेन का घटोत्कच नामक एक असाधारण शक्तिशाली एव परम पितृभक्त पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसने अपने प्रबल पराक्रम द्वारा महाभारत के युद्ध में कौरव सेना के अनेक महारथियो के दाँत खट्टे कर दिये थे। पाँडवो ने गन्धमादन पर्वत के अगम्य वन-प्रदेश में निर्विघ्नतापूर्वक विचरण करने के लिए इस पर्वत-प्रदेश की विषमताओं से अभ्यस्त अपने इस पितृभक्त पुत्र का आह्वान किया था।

इसी क्षेत्र में भीमसेन ने विचित्र कमल पुष्पो पर आशक्त द्रौपदी के आग्रह पर कमल आदि अगणित पचरंगी सुवासित पुष्प-समूहों से आच्छादित और अनेक

* स्वर्गारोहण के समय पाँचों पांडव इसी पावन क्षेत्र में स्वर्गवासी भी हुए। इसीलिये 'महाभारत' (वन पर्व १४१।२२,२४) में इस विशालापुरी (बदरीकाश्रम) को आर्य विप्रों का उत्पति स्थल बताया गया है।

मनोहर सरोवरो से पूर्ण कुबेर के नन्दनकानन मे जिसको आज 'म्यूँधार घाटी' (भीमधार घाटी) एव फूलो की घाटी कहते हैं, कमल-पुष्पों की खोज करते हुए जटासुर और मणिमान नामक दो बलशाली असुरों का वध किया था। इसी म्यूँधार (भीमधार) शब्द मे आज तक भीमसेन की स्मृति सुरक्षित है। इसी म्यूँधार उपत्यका में विचरण करते हुए 'हनुमान चट्टी' के निकट भीमसेन को हनुमान जी के भी दर्शन हुए थे। इसी क्षेत्र से स्वर्गलोक में प्रवेश कर अर्जुन ने इन्द्र से पाश, दड, अन्तर्धान और देवाधिदेव शकर से पाशुपत तथा वरुण, कुबेर और यम से अनेक दिव्यास्त्र प्राप्त किये थे।

'महाभारत' के अनुसार महाराजा पाडु दिग्विजय करने के पश्चात् समस्त प्राप्त धन और सम्पत्ति भीष्म और सत्यवती को सौंप कर कुन्ती और माद्री को लेकर हिमालय (गढवाल) के दक्षिण पर्व मे फैले हुए रम्य शालवन मे मृगया के लिए चले गये। इस क्षेत्र मे युगल पत्नियो के साथ कामोपभोग करते रहने के कारण उन्हे राजयक्ष्मा हो गयी। इसलिए ऋषियो ने उनके लिए ग्राम्य सुख एव कामोपभोग निषिद्ध कर दिया। वे पुन हस्तिनापुर नही लौटे और आरण्यक मुनियो का धर्मव्रत धारण कर हिमालय में विचरते हुए गन्धमादन पर्वतक्षेत्र में पहुँच कर वही रहने लगे, पर उन्हे वहाँ यह चिन्ता हुई कि अपत्य के बिना सद्गति नही होती। अत उन्होने कुन्ती को बहुत समझा-बुझाकर इससे अपने लिए तीन और माद्री के लिए, दो पुत्र पाडुकेश्वर मे नियोग द्वारा उत्पन्न किये। यही पाँचो पाडव कहलाये, जो गन्धमादन पर्वतक्षेत्र मे स्थित पांडुकेश्वर में ऋषि-मुनियो द्वारा सर्म्वाद्धत हुए।

इसी बीच माद्री के प्रतिरोध के बावजूद एक दिन माद्री से सभोगरत पाडु की मृत्यु हो गयी। माद्री पति के साथ सती हो गयी। 'महाभारत' वन पर्व,★ के अनुसार पाडु के देहावसान पर आश्रमवासी तपस्वी पाडु और माद्री के अवशेष लेकर कुन्ती और पाँचो पाडवो के साथ हस्तिनापुर पहुँचे और उन्हे भीष्म, धृतराष्ट्र, बिदुर, सत्यवती, गाधारी और पौरजनपद लोगो भी सौंप आये।

सुरक्षित भाषावशेष

जल-प्रवतरण पर आर्यों के दक्षिणी अभियान के पश्चात् जो थोडे-बहुत आर्य एव असुरोपासक आर्य अपने अनुयायियो के साथ यहाँ रह गये, उनका कालान्तर मे तिब्बती, हूणो, भोटियो,शको और मगोलो के आक्रमण-प्रत्याक्रमणो के कारण रूप-रङ्ग, आचार-विचार, बोली-भाषा में उत्तरोत्तर भिन्नता आती गयी। भाषा-साम्य और सास्कृतिक विरासती से दो जातियो की मौलिक एकता का अनुमान लगाया जाता है। यद्यपि उत्तर और पूर्वी देशों के शक्तिशाली आक्रमण-प्रत्याक्रमणो से यहाँ के अल्प संख्यको द्वारा अपनी पैतृक विरासत की

पूर्णत: रक्षा असम्भव थी, तो भी प्राचीन ऋग्वैदिक भाषा-सम्बन्धी मौलिक एकता की पुष्टि के लिए ऋग्वेद के विद्वान् पं० हरीराम धस्माना के लेख का (कर्मभूमि, २० मार्च, ३६) निम्नलिखित छोटा-सा उद्धरण पर्याप्त होगा

ऋग्वैदिक शब्द	गढ़वाली	हिन्दी
स्या	स्या	वह स्त्री
केन	केन	किसने
समेति	समेत	सहित
इत्या	यत्थ-इथई	इस ओर
अध	उन्ध	नीचे
उर्द्ध	उब्ब	ऊपर
पर्वो	पर्वो	परिचय
गौरि	गौडि	गाय
मिथो	मिथई	मुझको
पृचान	पिचकाणो	निचोड़ना
विवाल्य	उमाल	उफान
वव्रि	वव्रि	निचली मंजिल
अचेति	अचेती	अज्ञान
सत्तु	सत्तु	सत्तु
माणा	माणो	१६ मुट्ठी अन्न
पाथो	पाथो	चार माणा
द्रोण	दोण	१६ पाथा
कुक्कुट	कुखडो	मुर्गी
खार्य	खार	२० द्रोण
मनसा	मनसा	इरादा
बिट	बिट	द्विज
शीर्ष्णी	सौणी	स्त्री
वस्यूरन	वस्युरनु	निवास करना
सपर्यति	सपोडना	सपसपाना
रीति	रीति	रिक्त
तृष्णा	तीस	प्यास
शुष्को	सूखो	सूखा
क	को	कौन
स:	सो	वह

भित्ति	भीत	दीवार
भृत्य	भुर्त्या	नौकर
तृषाणा	तिषालो	प्यासा
स्यमान्या	समन्या, समनन	प्रणाम
त्रिशनु	त्रुशणा	पुल्लिंग
ऐना	एना	ऐसे
एतान	एतई	इसको
कूल	कूल	गूल
बर्त	बर्त	रस्सी
कुक्कुर	कुक्कुर	कुत्ता
लवन	लौण	फस्ल काटना
मर्दन	मांडण	मांडना
सूर्प	सूप्पो	सूप
फाला	फालो	हल का अग्र भाग
बहिला	बहिलो	बाँझ
बेहत	बेत	कितने बच्चे वाली
एदिके	इथिके	इतना ही
उदिके	उथिके	उतना ही
धार	धार	पर्वत, शिखर
रुज	रुजना	भीगना
कतरा	कतरा	कितने
कति	कति	कितने
गोष्ट	गोठ	गोशाला
तमि	तमि	तुम
भोर	भोल	कल (आने वाला)
व्यय, वेला	ब्यालि	गया कल
वुज	वूज	झाड़ी
आयन	आयने	आ गये
ब्यति	विग्रन्त	अनंत
कतमत	कतमत	हड़बड़ाना
घन	छन	हैं
लट	लाटो	मूढ
पूषन	प्यूंसा	गाढ़ा दूध

पुराणो	पुराणो	पुराना
द्यौ	द्यौ	दिब
द्विपुरो	द्विपुरो	दो मँजिला
स्थूल	ढुलो	बडा
आँखु	आँखु	आँख
काणि	काणि	काना
वृथा	विरथा	व्यर्थ
पर्योति	पर्माभा	कलसे मे
गाध	गाड, गधेरा	छोटी नदी
मोत	मौत	मृत्यु
वात	वतौं	वायु
जीवसे	जीभसे	जिह्वा से
हिम	हिंव	बर्फ
श्रोसक	असेऊ	पसीना

नागवश नागलोक और नागपुर गढवाल

ब्रह्मा के मानस-पुत्रो मे सबसे जेष्ठ, दक्षिण गढवाल के आर्य-नरेश दक्ष प्रजापति की पुत्री और कश्यप ऋषि की पत्नी कद्रू से नागो की उत्पत्ति हुई। ऋग्वेद मे असुरोपासक आर्यों की जिस पर्वतीय शाखा को 'अहि' एव असुर कहा गया है,उसको नग (पर्वत) निवासी होने के कारण कालान्तर मे पुराणो मे नाग भी कहा गया है। पर्वत पर आश्रित वृत्रासुर को नागवश मे सबसे प्रथम उत्पन्न होने का गौरव प्राप्त है (ऋ० १।३२।१,२,३,५)। असुर-राज शम्बर को भी स्पष्टत अहि (नाग) और दानव कहा गया है (ऋ० २।१२।११)। नाग राजा कृष्ण अशुमती नदी के तट पर रहता था। वह सूर्य के समान द्रुतगामी और दीप्तिमान शरीर धारण कर सकता था। इन्द्र ने दस सहस्त्र नागो को मारकर नाग राजा कृष्ण को पराजित किया था (ऋ० ८।८५।१३।१४,१५)। ऋग्वेद (३।३३।७) मे भी वृत्रासुर को 'अहि' कहा गया है। यद्यपि ऋग्वेद मे वृत्र और शम्बर को दनु का पुत्र (केदार० ८।२८) कहा गया है परन्तु एक ही पिता कश्यप से उत्पन्न होने से दनु की सन्तान को ऋग्वेद मे उसके सौतेले भाइयो (अहियो) का सजातीय होने के कारण, 'अहि' भी कहा गया है। वृत्र की माता दनु का भी इन्द्र ने वध किया था (ऋ० १।३२।९)। 'आर्यों का आदि देश' मे डॉ० सम्पूर्णानन्द लिखते हैं

"मूल में अहि शब्द आया है। अहि का अर्थ सर्प भी है परन्तु यह भी

स्मरण रखना चाहिए कि वृत्रासुर की कथा मे—वेद मे वृत्रासुर को अहि कहा गया है। ऋग्वेद मे कई स्थानो पर अहियो का उल्लेख है" (ऋ० ३५।१३, ऋ० ७।३४।१७)।

ऋग्वैदिक इतिहास मे श्री हरिराम धस्माना ने (पृष्ठ ६३ से १२७ तक) इन दस सहस्त्र अहिमन्यो का नागराज कृष्ण के नेतृत्व में सप्त बुध्नों के देश मे रुद्र, मरुत और इन्द्र के साथ कई सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक सघर्षों का विस्तार पूर्वक उल्लेख किया है। ऋग्वेद (१०।१०६।३) में इन्द्र को अतरिक्ष में अहियो का नेता कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि इन्द्र और अहियो का निवास-स्थान अतरिक्ष (स्वर्ग) अर्थात् गढवाल के इसी पर्वत प्रदेश में था। गढवाल के लोक-गीतो मे, आज तक 'कद्रू का ह्वैने नाग और विनता का गरुड' की यह गीत-गाथा प्रचलित है। नागो के निवास-स्थान को नागपुर अथवा नागलोक कहते हैं। ऋग्वेद मे इस क्षेत्र को अहिक्षेत्र, अहिर्बुध्न, चाँदपुर (चन्द्रपुर) को चन्द्रबुध्न और बधाण को केवल बुध्न कहा गया है। पुराणो मे नागपुर (नागलोक) को भ्रमवश पाताल लोक भी कहा गया है। नागपुर मे रुद्रप्रयाग से ऊपर रुद्रनाथ (१२०००) और उर्गम पट्टी तक ऋग्वैदिक रुद्र के शासन काल मे दस सहस्त्र उदड नागो का निवास-स्थान था। उनकी उद्दडता और हिंसक वृत्तियो से त्रस्त हो कर राजा रुद्र ने अनेक अस्त्र-शस्त्रो से युक्त अपनी महती-सेना द्वारा सहस्रो हिंसक नागो का वध किया था। अन्त मे नागराज कृष्ण के नेतृत्व मे अहियो ने रुद्र से सधि करके उनका आश्रय स्वीकार किया था। वाल्टन **'गढवाल गजेटियर्स'** (पृ० १८७ और पृष्ठ १११) मे गढ़वाल मे अनेक स्थानो पर इस रहस्यमयी नाग जाति के प्राचीन अवशेष पाये जाने का उल्लेख करते हैं। वे लिखते हैं कि यहाँ एक ऐसी जाति थी जो नागो को पूज्य मानती थी। यहाँ की लोक-गाथाओ मे उनके अनेक प्रतीको द्वारा इस जाति के प्रतिनिधियो का परिचय प्राप्त होता है। ह्वीलर भी **'भारत का इतिहास'** में गढवाल में नागो के अनेक प्राचीन अवशेषो का अस्तित्व स्वीकार करता है, और अलकनन्दा की उपत्यका को, परम्परानुसार नागो का आदि स्थान मानता है। उसके कथनानुसार नागपुर और उर्गम पट्टियाँ नागो की प्राचीन ऐतिहासिक बस्तियो की सूचक हैं।

उत्तर गढवाल के इस क्षेत्र मे असुरो और नागो का बाहुल्य था। **'केदारखड'** के गगा-सहस्त्र नाम में भगीरथ ने गगा को नागालय निवासिनी 'नागाना जननी चैव', 'नागप्रीतिविवर्द्धिनी', 'नागेश्वरसहाया', 'कैलाशनिलया' कहा है (केदार० ३८।३२।३३)। इससे प्रकट होता है कि टिहरी और गढ़वाल के उत्तर में गगा नदी के उद्गम-स्थल एवं नागपुर-क्षेत्र तक नाग जाति का आदि

स्थान है। गंगावतरण के समय जब भगीरथ जह्नु ऋषि से मुक्ति प्राप्त करने के पश्चात् आगे-आगे भागीरथी का मार्ग-प्रशस्त कर रहे थे तो उस समय इसी क्षेत्र में नागों ने उनकी इस अनधिकार चेष्टा के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी थी। वे भगीरथ से बलपूर्वक गंगा नदी के प्रखर प्रवाह को अपने नाग-निलय नागपुर क्षेत्र की ओर ले जाने लगे। उस समय भी नाग जाति इतनी शक्तिशालिनी थी कि राजा भगीरथ, जिनकी धनुष की टंकार से अब तक शत्रुओ मे भगदड पड जाती थी, स्वयं 'किं कर्त्तव्य क्व गच्छामि को मे दु:ख निवारयेत् ?' (केदार० ३८।५) कहते हुए नागो से भयभीत हो कर, उनकी खुशामद करने लगते हैं। जब उन्होने नागो के नेता शेषनाग का, विष्णु-भगवान् कह कर पूजन किया तब नागो ने भगीरथ को मुक्त किया।

'केदारखण्ड' (अध्याय ८०) मे लिखा है कि हिमालय में अवस्थित नागपुर मे पुष्कर-पर्वत पर पुष्कर, पद्मक, वासुकि, तक्षक, कमलाश्व, शेख, शंख और पुलिस नामक नागो ने रुद्रदेव को प्रसन्न करके उनके आश्रम मे अभय दान प्राप्त किया था। 'केदारखण्ड' (८०।४,६, २१।४१।४८) मे अहियो द्वारा शिवानुग्रह प्राप्त करने की ऋग्वैदिक कथा का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन है।

श्री हरिराम धस्माना 'ऋग्वैदिक इतिहास' (पृष्ठ १०३) मे लिखते है कि "रुद्र का देश ही नागपुर प्रान्त नाग-पर्वत करके प्रसिद्ध हो गया। उनकी पद-प्रतिष्ठा ज्यो-की-त्यो रह गयी। नागवशियो का राज-चिन्ह नाग था ही। उन्होने अपने राज-चिन्ह के आभूषणो से अपने रक्षक (रुद्र) को विभूषित करके, उसकी शोभा की वृद्धि कर दी। कवियो ने भी इस प्रान्त को 'अहिर्बुध्न' नाम से प्रख्यात कर दिया और (नागराज) कृष्ण भी मूल पुरुषो की श्रेणी मे आ गया। केदार-प्रान्त मे नागवशियो की जनसख्या अधिक हो गयी। × × × कृष्णसर्प ने अपनी राजधानी पुष्कर के निकट रखी, और वह भी पुष्कर नाग करके प्रसिद्ध हो गया। पौराणिक समय का पुष्कर तीर्थ और नागनाथ का मन्दिर उसके स्मारक है। वह नाग जाति का स्वामी माना गया। यही पुष्कर तीर्थ वर्तमान समय का पोखरी ग्राम है। कुछ विद्वानो की कल्पना है कि यही पुष्कर नाग अनंतनाग है। अहि-वश मे मानवता थी, लेकिन देवो मे, सुरो से उनमे कुछ भिन्नता अवश्य थी, जिससे उनको अदेव और असुर कहते थे। सभ्यता मे वे पिछडे हुए थे। वे आयुध नही बना सकते थे, 'अनायुधासो असुरा अदेवा'। ऋग्वेद (८।९६।९) मे इनके मूल-पुरुष को 'आदि एक पादजा' कहकर अहि नाम से इनका वर्णन किया गया है।

'महाभारत' (आदि पर्व ३६।३४) में शेषनाग का हिमालय-क्षेत्र में तपस्या करने के लिए आने का उल्लेख है। रुद्रप्रयाग मे शेष आदि अनेक नाग-महात्माओ

की तपस्या का वर्णन है। 'केदारखण्ड' (६३।५, वनपर्व ८४।३३) के अनुसार हरिद्वार—कनखल से नागराज कपिल के 'नागतीर्थ' में स्नान करने से सहस्रों कपिला-दान करने का पुण्य प्राप्त होता है। नागो के इस निवास-स्थान नागपुर मे उनके परम आराध्यदेव, शिव के अनेक शिव-मन्दिर स्थापित हैं, जहाँ अनेक नागकुल निवास करते है। यहाँ सुवर्ण आदि धातुओ की खाने हैं और ताम्रमय पर्वत हैं (स्वर्णविधातुनिलयास्तथा ताम्रमया नगा)। यहो नागो ने रुद्र से यह भी वरदान प्राप्त कर लिया था कि नाग उनके आभूषण बनें। वे समस्त मनुष्यो द्वारा पूजित एव सम्मानित हो, और यह क्षेत्र नागपुर सदैव उन्ही के नाम से विख्यात हो (केदारखण्ड, ८०।३४।३५)।

देवासुर-सग्राम के बाद भी इन असुरो और अहियो का नागो के नाम से आर्य-जाति के साथ पैतृक विद्वेष जारी रहा। जय-पराजय होने पर भी दोनो वशो का पारस्परिक मन-मुटाव शान्त नही हुआ। समय-समय पर अनुकूल ईंधन मिलते ही उनका पैतृक विद्वेषानल भडक उठता था। 'महाभारत' के अन्त में जनमेजय के सर्प-यज्ञ तक महाभारत और पुराणो मे दोनो जातियो के बीच अनेक सघर्षों का वर्णन मिलता है। 'महाभारत' मे तो अनेक स्थानो पर नागवीरो, नाग-महात्माओ और नाग-तपस्वियो के कारनामो से भरा है। नागराज तक्षक ने जब इन्द्रप्रस्थ-निर्माण का विरोध किया, तो पाण्डवो ने उसे पराजित कर दिया। खाण्डव-वन मे (जिसका भौगोलिक अस्तित्व भी गढवाल के अन्तर्गत बताया जाता है*) पाण्डवो द्वारा अनेक नागो का निर्दयतापूर्वक वध किया गया। उसी पुरानी शत्रुता का बदला चुकाने के लिए तक्षक ने भी राजा परीक्षित को मार डाला। राजा परीक्षित की मृत्यु के उपरान्त उनके पुत्र जनमेजय ने सर्पयज्ञ द्वारा पृथ्वी से नागवश का मूलोच्छेदन करने का सगठित प्रयत्न किया। इस यज्ञ में केवल नागराज तक्षक जीवित बच निकले।

गुप्तकाशी से दो मील दूर नागपुर (गढ़वाल) के 'भेत' नामक गाव मे वहाँ की प्राचीन जन-श्रुति के अनुसार जनमेजय का सर्प-यज्ञ हुआ था। 'केदारखण्ड' (८०।२९) से भी स्पष्ट है कि हिमालय के इसी प्रदेश मे पुष्कर, वासुकि और तक्षक आदि नागराजाओ का राज्य स्थापित था। हो सकता है कि जनमेजय

* पौडी के नीचे ५ मील के लगभग खांडव नदी के तट पर खांडव ऋषि का स्थान आज भी 'खांडाक' नाम से प्रसिद्ध है। यह नदी बिल्व-केदार के निकट गगा से मिलती है। इस नदी का तटवर्ती क्षेत्र ही प्राचीन काल में खांडव वन कहलाता था। अर्जुन ने इसी क्षेत्र मे आकर बिल्वकेश्वर महादेव की आराधना कर पाशुपत अस्त्र प्राप्त किये थे (केदारखण्ड १८१।१७)।

द्वारा पराजित तक्षक आदि नागराजाओं को उस युद्ध में अपने अनेक सहायक नागों के मारे जाने के पश्चात् अपना राज्य-विस्तार नागपुर गढ़वाल तक ही सीमित करना पड़ा हो।

नाग-संस्कृति—नाग आर्यों के कथनानुसार प्राणियों के हिंसक ही नहीं थे, वरन् उनमें अनेक परम महात्मा और सम्माननीय भी थे।

असुरों के कट्टर शत्रु आर्य-पुरोहित वशिष्ठ ने, जो असुरों और अहियों को बार-बार अनार्य और राक्षस कहते नहीं अघाता और जो उनके विनाश के लिए इन्द्र से बार-बार प्रार्थना करता है कि "ये राक्षस मुझ अराक्षस को भी राक्षस कहते हैं, यदि मैं राक्षस हूँ तो मैं मर जाऊँ, अन्यथा ये जो मुझे वृथा राक्षस कहकर सम्बोधित करते हैं और अपने को शुद्ध दूध का धोया समझते हैं, इनके दस वीर पुत्र मर जाँय" (ऋ० ७।१०४।१५, १७)। उन्होंने भी अनेक नागों को महात्मा कहकर सम्मानित किया है। ऋग्वैदिक काल में भी अहिमानवों में अनेक नागों का स्थान, सर्व साधारण मनुष्यों से अधिक आदरणीय था। कई विद्वानों के मतानुसार ऋग्वेद (मण्डल १० सूत्र १८९) के ऋषि सर्प राज्ञी नागवंशी थे। महाराजा ययाति के पिता और पुरूरवा के पौत्र राजा नहुष को, जिसने अपने तेज और तप से देवताओं को पराजित कर, स्वर्ग के सिंहासन पर बैठ कर एक हजार वर्ष तक इन्द्र-पद का उपभोग किया था, 'महाभारत' में नागराज और नागेन्द्र कहा गया है। नागराज आर्य पृथा (कुन्ती) के पिता शूरसेन के नाना थे। दुर्योधन द्वारा गंगा में डुबाये जाने पर अपने दौहित्र के दौहित्र भीमसेन को इन्होंने नागलोक में अमृत पिला कर उसको एक हजार हाथियों के समान बलवान् बनाया था।

नाग-जाति एक शक्तिशाली जाति ही नहीं थी, वरन् वह अत्यन्त सभ्य और सुसंस्कृत भी थी। वेद और पुराणों में अनेक नाग-कन्याओं के साथ सभ्य आर्यों के विवाह-सम्बन्धों के दृष्टांत मिलते हैं। 'महाभारत' के अनुसार इस नागपुर-प्रदेश के निवासी कौरव्य नागराज की कन्या उलूपी से अर्जुन ने गन्धर्व-विवाह किया था (आदि० २१३।१२।१३)। इस उर्गात्मजा उलूपी के द्वारा अर्जुन हरिद्वार से नागलोक (नागपुर) की ओर आकर्षित हुए थे। नागकन्या उलूपी से अर्जुन का इरावन नामक पुत्र था। उलूपी अत्यन्त स्वाभिमानिनी और प्रभावशालिनी महिला थी। उसने बिना युद्ध किये अर्जुन की शरण में जाने के लिए, बभ्रुवाहन को फटकारा और वीर-पुत्र की भाँति अपने पिता अर्जुन से युद्ध करने के लिये उत्साहित किया। रणांगण में बभ्रुवाहन द्वारा मारे गये मृतक अर्जुन को उलूपी ने ही द्रोणगिरि की प्रसिद्ध संजीवनी-बूटी से पुनर्जीवित किया (अश्व० ८०।५०, ५२)। बभ्रुवाहन और चित्रांगदा के साथ उलूपी ने भी हस्तिनापुर में प्रवेश कर

शरीरान्त किया (महा० प्र० १।२७)। कालिदास ने भी 'कुमारसम्भव' में हिमालय के मैनाक नामक पुत्र से नाग कन्या के विवाह का उल्लेख किया है।

धर्म—वस्तुत नागो ने पर्वत-प्रान्त में एक शक्तिशाली राज्य स्थापित करके समस्त उत्तर भारत में अपनी एक विशिष्ट सामाजिक, धार्मिक एव राजनीतिक सत्ता सुदृढ कर ली थी। 'नाग' इस जाति का राष्ट्रीय चिन्ह था। राज-चिन्ह एवं राष्ट्रीय प्रतीको के प्रति सम्बन्धित प्रजावर्ग को भी राजकीय सम्मान प्रदर्शित करना अनिवार्य होता है। नागराजाओ का आज देश में शासन-प्रभुत्व समाप्त हो गया है, परन्तु उनके प्रतीक के रूप मे नागो का आज भी सर्वत्र सम्मान किया जाता है। नागो का वध वर्जित है। नागराजा प्रजा को चल और अचल सम्पति, गृह और भूमि के क्षेत्रपति, क्षेत्रपाल अधिपति थे। घर के भीतर तथा खेती में हल चलाते समय जब कही नागो के दर्शन हो जाते है तो उनका बध ही यहाँ वर्जित नही, वरन् उनकी पूजा भी की जाती है। अब तक समाज मे सुरक्षित उनकी यह पूजा-प्रतिष्ठा, उन्ही प्राचीन भूमिपति नागराजाओ के व्यापक राजनीतिक प्रभुत्व के प्रति परम्परागत सम्मान की सूचक है।

वेदो के असुर और अहि, 'नग' (पर्वत) निवासी होने के कारण कालान्तर मे उत्तर वैदिक काल में नाग कहलाये। अपनी वंश-परम्परानुसार वे भी वैदिक रुद्र के जो पौराणिक काल मे शिव और शक्ति के नाम से प्रसिद्ध हुए, कट्टर उपासक थे। नागराज हिमालय के आदि निवासियो के आराध्य देव होने के कारण पर्वत-पुत्री पार्वती, गगानदी और नागराज शिव-शरीर के अभिन्न भाग है। शिव के शिर मे गगा और गले मे लिपटे हुए नागराज शिव के स्थायी आभूषण हैं। मोहन-जो-दडो मे भी शिव जी की जो मूर्ति प्राप्त हुई है, उसके गले मे भी नागदत्र विराजमान हैं और उनके सम्मुख भी दो नाग-मूर्तियाँ फण फैलाये हुई है। अजन्ता के भित्ति-चित्रो मे देवताओ के साथ नाग और नागनियो की मूर्तियाँ भी निर्मित हैं। जब आर्य-अनार्यों, देव और असुरो के निरन्तर सघर्षो के बाद रुद्र की सरक्षता में दोनो दलो मे सन्धि स्थापित हो गयी, तब से वे आपस में यथा-साध्य शातिपूर्वक रहने लगे थे, परन्तु पुन नागो पर आर्यों द्वारा स्थापित सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक प्रतिबन्धो के कारण, जब एक-दूसरे के विरुद्ध, तलवारें बार-बार म्यान से निकलने लगी, तो कुछ विद्वानों के कथनानुसार बोधिसत्व आर्यावलोकितेश्वर द्वारा वैष्णव सम्प्रदाय और नागो के बीच श्रावण की नागपचमी के दिन पुन सन्धि हो गयी। तब से नागपचमी आर्य-जाति का प्रसिद्ध त्योहार बन गया। उस दिन सर्वत्र नाग-पूजा होती है और घर-घर उत्सव मनाया जाता है।

इन सन्धियो के अनुसार भागवत धर्म एवं असुरोपासक नागों के अनुयायियों

ने एक-दूसरे के राजकीय चिह्नों को स्वीकार कर लिया था। कालान्तर में आर्यों के विष्णु और नागों के नागराजा कृष्ण एवं शेष अवतार—दोनों ईश्वरावतार बन कर दोनों सम्प्रदायो के आराध्यदेव बन गये। नागो के नागधारी शकर भी वैष्णवों के शेषशायी विष्णु के समान दोनों सम्प्रदायों द्वारा सर्वत्र नि संकोच पूजे जाने लगे। पहले शिव को ही नाग प्यारे थे। वे उन्हें सदैव सोते-जागते प्रेमपूर्वक गले का कठहार बनाकर लटकाये फिरते थे, इस सन्धि के बाद विष्णु भी स्वय नागराजा शेषावतार होकर तदाकार हो गये। उस दिन से उनका भी सोते-खाते, उठते-बैठते नागों की शेष-शैया से क्षण भर भी इधर-उधर हिलना-डोलना असम्भव हो गया। वे रात-दिन चौसट पहर लक्ष्मी के साथ शेष-शय्या पर पडे-पडे आनन्द पूर्वक खुर्राटे भरने लगे।

नागमन्दिर—तब से गढवाल के प्रत्येक परिवार में कुलदेव के स्थान पर नागराजा भी प्रतिष्ठित है। गढवाल और कुमाऊँ मे नागराजा का आज भी प्रत्येक परिवार द्वारा पूजन अनिवार्य है। यह भी असम्भव नही कि ऋग्वैदिक अहिमानवो और आर्यों की सन्धि के पश्चात्, ऋग्वैदिक अहियो के अधिपति नागराजा कृष्ण वैष्णवो के आराध्य कृष्ण मे परिणत हो गये हो, क्योंकि गढ़वाल मे नागराजा के इस पूजन को सब विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण की पूजा मानते है। यहाँ के 'जागरो' और 'धामी' देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण के जीवन से सम्बन्धित लोक-गीतो और लोक-नृत्यो द्वारा नागराज का आह्वान करते हैं। प्रत्येक परिवार के विशेष व्यक्ति पर नागराजा अवतरित होते है। प्रत्येक गाँव मे नागराजा के मन्दिर हैं, जिनमे लोग नागराजा अथवा नागदेव की मूर्ति को विष्णु तथा श्रीकृष्ण भगवान् मानकर पूजते हैं। एटकिंसन ने **'हिमालयन-डिस्ट्रिक्टस'** (२) (पृ० ७०२) मे ६१ वैष्णव मन्दिरो के अतिरिक्त गढवाल में जिन ६५ स्वतंत्र नाग-मन्दिरो का उल्लेख किया है, उनमे गढवाल के ब्राह्मण, राजपूत और हरिजनो के प्रत्येक परिवार मे स्थापित नागराजा के देव स्थानो तथा गाँवो के निकट, वृक्षो के झुरमुट मे बने हुए छोटे-छोटे नागमन्दिरो की गणना नही है। मोंटेनियर **'हिमालय यात्रा'** (पृ०१८७-१८६) मे लिखता है कि लगभग-प्रत्येक पर्वत पर वृक्षो के बीच यहाँ नागराजा के मन्दिर है।

गढवाल की उर्गम और नागपुर की पट्टियो के नाम नागो के नाम से ही प्रसिद्ध है। यहाँ अनेक नाग-मन्दिरो की व्यापकता नागो के ऐतिहासिक प्रभुत्व की परिचायक है। आजकल भी शेषनाग की पूजा पाँडुकेश्वर में, भीखल नाग की रथगाँव में, मंगलनाग की तल्वर में, बनपुर नाग की कीमर गाँव में, लोविया नाग की नीतिघाटी में, पुष्कर नाग की नागनाथ में और नागदेव की पौड़ी में

पूजा होती है। दशोली में तक्षक नाग की और नागपुर में, जहाँ एक प्रसिद्ध ताल का नाम नाग-लोक के राजा वासुकिनाग के नाम से प्रसिद्ध है, वासुकी नाग की पूजा होती है।

बधान मे कैल और पिंडर नदी के संगम-स्थल के निकट, एक पत्थर पर एक नाग का आकार अंकित है। सर्प सारी शिला को लपेट कर बैठा है। प्राचीन लोक-कथानुसार इस क्षेत्र मे, नदी के आर-पार 'सांगल' और 'बौना' नामक दो नाग-राजाओ का राज्य था। दोनो में श्रेष्ठ कौन है, इसके लिए एक बार इस सर्प–शिला से अपने राज्य मे प्रथम पहुँचने की प्रतिद्वन्द्विता मे सांगल नाग ने अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित की थी। तब से कार्तिक पूर्णमासी को निकटवर्ती ग्रामीणो द्वारा यहाँ धूम-धाम से नाग-पूजा की जाती है।

गढवाल मे ही नही, कुमाऊँ मे भी अनेक नाग-मन्दिर हैं। महर पट्टी के बस्तडी ग्राम मे शेषनाग है। बेनीनाग और पुगराऊ पट्टी में आठ नाग मन्दिर है। वेनीनाग, कालीनाग, फेणीनाग, धौलनाग, करकोटकनाग, खरहरीनाग और अठगुलीनाग की आज भी वहाँ पूजा होती है। पाँडेगाँव धकाता मे करकोटक नाग है। दानपुर मे वासुकीनाग है। सालम मे नागदेव, पदमगीर तथा अन्य क्षेत्रो मे भी अनेक नाग-मन्दिर स्थापित हैं। गरुड और बैजनाथ संग्रहालय मे एक मूर्ति के नीचे 'सूत्राधार श्री जयनागस्य पुत्रेण आनन्देन घटित' अकित है। यह मूर्तिकार नागवशी श्री जयनाग का पुत्र था। एटकिंसन (११। पृ० ३७५, ६३५) के कथनानुसार कुमाऊँ में अब नागपूजा का आम प्रचार नही है परन्तु यहाँ के कई मन्दिरो और स्थानो से प्रमाणित होता है कि किसी समय यहाँ उसका व्यापक प्रचार था।

टिहरी गढवाल मे भी इसी प्रकार सर्वत्र नाग-पूजा प्रचलित है। कलिंग नाग सरबडियाड रवाई मे, स्यूडिया नाग, रैथल (टकनौर) मे, महासर नाग थाती कठुड मे और हूण नाग भदुरा मे पूजा जाता हैं। रमोली पट्टी के सेमगाँव मे गढ़वाल का सर्वाधिक प्रसिद्ध नाग-राजा का मन्दिर है, जहाँ प्रति वर्ष नवम्बर के महीने मे नाग-राज की यात्रा के लिए गढ़वाल के प्रत्येक भाग से हजारों स्त्री-पुरुष यात्री जाते है।

टिहरी के उत्तरकाशी क्षेत्र मे, प्रतापनगर मे १६, १७ मील दूर लगभग ७००० फुट की ऊँचाई पर, रमोली पट्टी में सीम-मुखीम ५०० से अधिक मवासो का एक गाँव है। इस गाँव के आस-पास आसणी सीम, वासणी सीम, गुप्त सीम, प्रकट सीम, मुख्य सीम, काला सीम और तलबला सीम आदि सात सीम प्रसिद्ध है। जहाँ लोक-गाथाओ के अनुसार गुप्तरूप से नागराज श्रीकृष्ण (नारायण रौतेला) वास करते हैं। सीम का अर्थ दल-दल वाली भूमि हैं। यहाँ इस प्रकार

की भूमि अधिक है। सीम-मुखीम में गगू रमोला द्वारा निर्मित नागराज कृष्ण का प्रसिद्ध मन्दिर है, जिसमें शिर पर पगडी पहने हुए वासुदेव की मूर्ति है। यहाँ नाग के रूप में कृष्ण की पूजा होती है, और गढ़वाल के प्रत्येक भाग से हजारों यात्री नवम्बर के महीने, चाँदी का नाग बना कर इस मन्दिर में चढ़ाने आते हैं। 'नारायण रौतेला' कितना बावरा और रसिक था, इस सम्बन्ध में अनेक लोक-गीतों में उसकी रसिकता की अभिव्यक्ति है। एक लोक-गीत में सीम-मुखीम के 'नारायण रौतेला' द्वारा अनेक हाव-भाव के साथ, अग मोड-मोडकर पगडी पहनने का मनोरम चित्र अंकित है

नारायण रौतेलो लाँद पगडी,

अग मोडी-मोडी, छैलू हेरी-हेरी लाँद पगडी।

गढ़वाल मे नाग-वीरो और नाग-वीरागनाओ की अनेक लोक-गाथाएँ गायी जाती है। एक प्रचलित लोक-कथानुसार टिहरी के सीमान्त क्षेत्र मे रमोली के आस-पास वासुकी नाग का राज्य था। उसकी धर्मपत्नी 'विमला देवी' एक परम धर्म-परायण नाग-माता थी ("जती-सती जिया छै नगीण जो भूखो देखिका भोजन नी खान्दी और नागो देखिकी आँचल नि लान्दी")। उससे वासुकी को दुधिया कौल (कुँवर), ब्रह्मो कौंल, सूरज कौंल, धर्म कौल, नीम कौल, फूल कौल, जत कौंल, सत कौंल आदि नौ नाग-पुत्र और नौ नाग-कन्याएँ इन्ही नामों की उत्पन्न हुई। एक बार पति की मृत्यु के बाद जब नाग-माता हरिद्वार से लेकर बदरीनाथ की यात्रा करने चली तो यात्रा-पथ मे वह भगवान् श्रीकृष्ण के सम्पर्क मे आयी, जो स्वयं भी रुक्मिणी सहित इस क्षेत्र की यात्रा कर रहे थे। नागमाता उनके व्यक्तित्व और उपदेशामृत से बहुत प्रभावित हुई। स्वय कृष्ण के हृदय मे भी नागमाता की धर्मपरायणता से उनके प्रति स्नेह और श्रद्धा उत्पन्न हो गयी।

लोक-गाथानुसार सीम-मुखीम मे नागराजाओ का सामन्त गगू रमोला अत्यन्त उद्दण्ड और कट्टर नास्तिक था। जब जनता गगू की नास्तिकता एवं अत्याचारो से तग आ गयी तो, अवयस्क नागकुमार नागमाता की इच्छानुसार भगवान् कृष्ण को बुला लाये। भगवान् कृष्ण ने पथ-भ्रष्ट गगू को सतपथ पर लाने के लिए बहुत समझाया-बुझाया, परन्तु उसकी उद्दण्डता कम नही हुई। उसने कृष्ण को भी ऐसे क्षेत्र मे निवास-स्थान दिया, जहाँ एक मनुष्यभक्षी राक्षसी रहती थी। कृष्ण ने राक्षसी को वहाँ से मार भगाया और वे वहाँ शांतिपूर्वक रहने लगे। उधर गगू के अत्याचार उत्तरोत्तर बढने लगे, तो उसकी धन-सम्पति सब नष्ट हो गयी और वह दाने-दाने को तरसने लगा। अत में वह भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में आ गया और उनके उपदेशामृत से वह कृत-कृत्य होकर उनका परम भक्त बन गया। उसको उसकी नष्ट हुई सम्पत्ति पुन प्राप्त हो गयी। उसने

सीम-मुखीम में भक्तिस्वरूप भगवान् कृष्ण का एक मन्दिर स्थापित किया। सीम-मुखीम के अद्वितीय प्रकृति-वैभव से चमत्कृत होकर, भगवान् श्रीकृष्ण भी स्थायी रूप से वहाँ रहने लगे।

गंगू रमोला के पुत्र का नाम चौहानी और पत्नी का नाम मैणा था। चौहानी के सिद्वा और विद्वा दो पुत्र थे। नागमाता के द्वारा भगवान् कृष्ण रमोली राज्य के नौ अवयस्क नागकुमारो के सरक्षक हुए और सिद्वा उनका मित्र तथा राज्य का प्रधान अमात्य हुआ। विद्वा को भी कुजणी मालकोट का शासन प्रबन्धक नियुक्त किया गया। प्रचलित जनपदीय गीत-गाथाओ में ब्रह्मी कुँवर और सूरज कुँवर द्वारा भोट-(तिब्बत) विजय को अलग-अलग कष्टमय, परन्तु सुखान्त प्रेम कहानियाँ हैं, जिसमे सूरज कुँवर की विजय-गाथा अधिक प्रसिद्ध है। गढ़वाल के लोक-गीतो में वीर एव श्रृङ्गार रस पूर्ण ये प्रणय-गाथाएँ विभिन्न प्रकार से गायी जाती है। ब्रह्मी कौंल की गीत-गाथा मे श्रीकृष्ण को ब्रह्मीनाग का बडा भाई, दूधिया कौंल भी कहा जाता है। जो कुछ भी हो गीत-गाथाओ से यह स्पष्ट है कि नागमाता, (जिसको सब जिया ब्वै नागीण) माता कहकर सम्मानित करते थे और उसके नौ पुत्रो के साथ श्रीकृष्ण की इतनी घनिष्ट आत्मीयता थी कि सब उन्हें ब्रह्मी का बडा भाई ही कहते थे। कृष्ण जैसे अवतारी पुरुष की सरक्षकता पाकर नागपुत्रो द्वारा जेष्ठ भ्राता के समान उनकी यह पद-प्रतिष्ठा स्वाभाविक थी।

पौराणिक कथानको मे यादवो के साथ नागो की आत्मीयता के कई दृष्टान्त मिलते है। श्रीकृष्ण की एक बहिन एकानसा को 'हरिवश' (२-४।१०१। ११-१८) में नागकन्या कहा गया है। श्रीकृष्ण के बडे भाई बलराम को नागराज शेष का अवतार कह कर स्मरण किया गया है। 'महाभारत' के (मौसल पर्व ४।१३।११) मे उनके देहावसान के समय अनेक नागो का, उनके दर्शनार्थ आने का उल्लेख है। स्वय भगवान् कृष्ण द्वारा बदरीनाथ क्षेत्र में सायग्रह मुनि के रूप मे दस हजार वर्षों तक कठोर तपस्या करने का (महाभारत, वन० १२। ११) उल्लेख है। 'महाभारत' (सौतिक पर्व १२।३०,३१) में लिखा है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने इस क्षेत्र मे कठोर तपस्या करके रुक्मिणी देवी के गर्भ से प्रद्युम्न को जन्म दिया था। 'महाभारत' (अनु० पर्व १४।४३,४५ और द्रोण पर्व ८०।२३,२४) मे भी श्रीकृष्ण का इस क्षेत्र मे आने का उल्लेख है। भगवान् कृष्ण को गन्धमादन का पर्वत-प्रदेश इतना अधिक प्रिय था कि उन्होंने यदुवशियो के विनाश के पश्चात् अपने परम मित्र उद्धव को नर-नारायण आश्रम की लोकोत्तर अद्वितीयता बतलाते हुए उन्हे तुरन्त वहाँ चले जाने का आग्रह किया था। 'विष्णु पुराण' (५।३७।३४), 'भागवत पुराण' (२,४,१८) के अनुसार, खस जो आर्य धर्म से बहिष्कृत यहाँ की एक जाति थी, कृष्ण जी की कृपा से आर्य-धर्म में दीक्षित

हुई।

अपने इस दीर्घ-कालीन निवास में भगवान् श्रीकृष्ण का इस क्षेत्र के प्रमुख नागराजाओं एवं नाग-महात्माओं से घनिष्ट स्नेह-सम्बन्धों द्वारा भाई-चारा स्थापित हो जाना स्वाभाविक है। 'गीता' में स्वयं भगवान् 'अनतश्चास्मि नागनां' सर्पाणामस्मि वासुकि कह कर इस वासुकि नाग (जिसके नौ नागपुत्रों का यहाँ उल्लेख है) और अनन्त नाग के प्रति अपनी परम आत्मीयता की घोषणा भी करते हैं।

गढ़वाल की गीत-गाथाओं, 'महाभारत' और पुराणों में वर्णित जीवन-वृत्त के अतिरिक्त श्रीकृष्ण की कुछ स्वतंत्र प्रणय-कथाएँ भी प्रचलित हैं। "छोड़ बौंपेली, बौंपेली को हाथ" के लोक-प्रसिद्ध गीत मे नारायण ठाकुर द्वारा सुन्दरी कुसुमा कोलिन पर अनेक छल-छद्मो सहित डोरे डालने की प्रणय-वार्ता है। एक अन्य गीत में साली चन्द्रावली के साथ (जो लोक-गाथानुसार रुक्मिणी की बहिन थी) उनकी प्रेम-कथा चलती है। एक बार बातों-ही-बातों में, रुक्मिणी द्वारा साली चन्द्रावली की अद्वितीय सुन्दरता का बखान सुनकर नटवर नागर कृष्ण उसका प्रेम प्राप्त करने के लिए आतुर हो उठते है। कभी भिक्षुक ब्राह्मण, हाथ देखकर भविष्य फल बतलाने वाले (फेकवाल) बन कर, तो कभी फटे-पुराने चिथड़े पहन कर, (गरीब-गत्ता चिरी-लत्ता धारण कर) नौकर के रूप में छद्म-वेश से चन्द्रावली को हरण करना चाहते हैं, परन्तु जब वह उन्हें पहचान कर दुत्कार देती है तो वे निराश होकर (लुठबुठी बौणी और तिरछी मोणी से) वापस लौट आते हैं और उसके बाद राग के से बूँद अविरल अश्रुधारा (पथेणा नेतर) छोड़ती हुई विधवा रुक्मिणी का वेश बनाकर अनेक छल-छद्मो द्वारा वे साली से प्रणय-सम्बन्ध स्थापित करने में सफल होते हैं।

गढवाल मे नागराजा की प्रत्येक घर और प्रत्येक परिवार में परम्परानुसार यह पूजा-प्रतिष्ठा भगवान् कृष्ण के जीवन-चरित्र के साथ इस प्रकार एकाकार हो गयी है कि गढवाल में नागराजा कहते ही भगवान् कृष्ण का जीवन-वृत्त सम्मुख उपस्थित हो जाता है। गढ़वाल के घर-घर में प्रचलित प्राचीन नाग-गाथाओ के साथ भगवान् कृष्ण की यह ऐतिहासिक अविच्छिन्नता अकारण नहीं हो सकती। इस प्रकार ब्रह्म कुँवर की गीत-गाथा में कृष्ण को जो बड़ा भाई कह कर सम्बोधित किया गया है, वह तत्कालीन नाग-प्रमुखों के साथ उनकी घनिष्ट आत्मीयता का स्पष्ट सूचक है।

गढवाल के लोक-नृत्य में पांडव-नृत्यो का प्रमुख स्थान है। गढ़वाल के लोग अपने लोक-गीत-वाद्यों के साथ, अपने छोटे-बड़े उत्सवो में पांडव-नृत्य का आयोजन करते है। यहाँ के अशिक्षित औजी, पाडवों से सम्बन्धित महाभारत की समस्त

छोटी-बडी घटनाओ से पूर्ण परिचित हैं। वे पाडव-नृत्य में ढोल-दमामों के साथ अपनी मर्मस्पर्शी स्वरलहरी के साथ उनकी जीवन-गाथा गाते हैं तो कई श्रोताओं पर, पाडव, कुन्ती, द्रौपदी और उनसे सम्बन्धित अनेक वीर अवतरित होकर, नाचने लगते हैं। गढवाल के घर-घर में सदियों से प्रचलित पाडव-नृत्य की यह परम्परा, गढ़वाल के लोक-जीवन के साथ, पाडवो के आत्मीय सम्बन्ध की परिचायक है। पाडवो का जन्म से लेकर, मृत्यु तक इस प्रान्त से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। वे यही पैदा हुए, यही मरे और अपने जीवन के अज्ञातवास में भी उन्होने अपना पर्याप्त समय इसी क्षेत्र मे विचरण करते हुए व्यतीत किया था। टिहरी गढ़वाल के जौनसार क्षेत्र में उनके लाक्षाभवन (लाखामडप) के अवशेष आज भी सुरक्षित हैं, जहाँ दुर्योधन ने पाडवो को कुन्ती सहित जला कर मार डालने की व्यवस्था की थी। यहाँ से बच कर निकल भागने के बाद भी वे पर्याप्त समय तक गुप्त रूप में इसी क्षेत्र मे निवास करते रहे। इसी क्षेत्र की प्राचीन काल से प्रचलित बहुपतित्व की परम्परानुसार, पाँचो भाइयो ने निस्संकोच द्रौपदी से ब्याह किया था। आज भी यहाँ वह परम्परा पूर्ववत् प्रचलित है।

गढ़वाल मे पाण्डवो के लोक-नृत्यो मे पाण्डवो के साथ भी नागो की स्थानीय गीत-गाथाओ द्वारा सूरज कुँवर और नागमल आदि नाग-वीरो का आह्वान किया जाता है। प्राचीन काल से प्रचलित यह लोक-प्रसिद्ध गाथा सूरज कुँवर आदि इन नागराजाओ के साथ पाडवो की आत्मीयता को भी सूचक है। 'महाभारत' (आदि प० १२३) के अनुसार गढ़वाल के इस क्षेत्र पाडुकेश्वर को केवल पाँचो पांडवो की जन्मभूमि होने का ही गौरव प्राप्त नही है, वरन् (महा० आश्रम पर्व ३७।३१,३२ के अनुसार) पाडु, माद्री, कुन्ती, धृतराष्ट्र, गाधारी ने भी इसी क्षेत्र मे भागीरथी के तट पर तपस्या करते हुए प्राणत्याग किये थे। पाण्डवो ने अपना वनवास का अधिकाश समय इसी क्षेत्र मे भ्रमण कर व्यतीत किया और अन्त में स्वर्गारोहण के लिए भी इसी पावन क्षेत्र मे आकर उन्होने मुक्ति प्राप्त की। पाण्डवों के लाक्षागृह में जल मरने के लिए कौरवो ने जिस स्थान पर पाण्डवो को भेजा था, जौनसार-जौनपुर का वह क्षेत्र गढ़वाल में ही है। उसके बाद द्रौपदी स्वयम्बर के समय, पाण्डवो का समस्त वनवास काल टिहरी गढवाल के जौलसार-जौनसार में ही व्यतीय हुआ था। उस समय यह समस्त पर्वत क्षेत्र द्रुपद के उत्तर पाञ्चाल राज की सीमान्तर्गत था। यहाँ की प्राचीन काल से प्रचलित बहुपतित्व प्रथानुसार, जो आज भी वहाँ उसी प्रकार सुरक्षित है, द्रोपदी का पाँचो पाण्डवो के साथ विवाह किया था। 'महाभारत' में स्वय युधिष्ठिर ने बहुपतित्व को इस प्रथा को इस क्षेत्र मे प्रचलित होने का उल्लेख किया है। गढवाल में यत्र-तत्र आजकल पाण्डवों के जीवन-वृत्त से सम्बन्धित अनेक स्मारक

सुरक्षित हैं।

'महाभारत' (विराट पर्व २।१४) में इसी वासुकि नाग की बहिन के प्रति जिसके राज्य-शासन का यहाँ उल्लेख है, अर्जुन के आकर्षित होने का भी वर्णन है। यहाँ की एक प्रसिद्ध लोक-गाथानुसार नागो की एक बहिन 'बाली वासुदत्ता' का विवाह अर्जुन के साथ हुआ है।

'महाभारत' (आदि पर्व २१३।१३) के अनुसार हरिद्वार में अर्जुन का इस प्रदेश के नागराज कौरव्य की पुत्री द्वारा आकर्षित होकर नागलोक (नागपुर) जाने का जो उल्लेख है, उससे इस प्रसिद्ध लोक-कथानक की भी पुष्टि होती है। 'महाभारत' (सभा पर्व २७।१६) के अनुसार अर्जुन ने उर्गा—(उर्गम नागपुर) नामक एक पर्वतीय नगर मे राजा रोचमान को परास्त किया था। इस पर्वतीय नगर उर्गा से उर्गात्मजा अलूपी या उसके नागवंश का सम्बन्ध प्रकट होता है। जो पावन प्रदेश पाँचो पाण्डवो का जन्म और मृत्यु स्थल है, जिन पाँचो पाण्डवो ने अपने जीवन का अधिक भाग इस क्षेत्र के आदि-निवासियो के साथ दु ख-सुख मे साथ रहकर व्यतीत किया हो, उनके साथ वहाँ उनका पारस्परिक स्नेह-सम्पर्क यदि वैवाहिक सम्बन्धो मे भी परिणत हो गया हो तो आश्चर्य ही क्या है? पाडवो के साथ श्रीकृष्ण की घनिष्टता से यहाँ के इन नाग-नरेशो के साथ उनकी आत्मीयता भी स्वाभाविक थी।

इस प्रकार प्रचलित लोक-गीतो मे वर्णित तथ्यो के आधार पर तथा पुराण-ग्रन्थो के अनुसार, नागराजाओ के साथ पाडवो का सामाजिक, धार्मिक एवं राज-नीतिक सम्बन्ध स्पष्ट है। वनवास-काल मे इन नौ नागराजाओ के क्षेत्र मे पाडवो का भी निवास-स्थान था। लोक-गाथानुसार एक बार नागो के 'सिलग' के वृक्ष (डाली) से पाडव-भवन पर 'वेद' (अशुभ प्रभाव) हो गया। पाडवो ने जाकर दूधिया नाग की इच्छा के विरुद्ध, सिलग को काट डाला, जिसके परिणामस्वरूप दोनो मे युद्धस्थिति उत्पन्न हो गयी। श्रीकृष्ण ने मध्यस्थ बनकर दोनो पक्षो में सन्धि स्थापित की। लोकगीत के अनुसार तिब्बत की राजकुमारी मोतीमाला ब्रह्मी के बडे भाई दूधिया नाग (श्रीकृष्ण की) धर्मपत्नी जो प्राय अपने ही मैके मे रहती थी पाशो के सम्पूर्ण दाँव-पेंचो मे प्रवीण एक अत्यन्त चतुर महिला थी। उसने कई राजकुमारो को पाशो में पराजित कर बन्दी बना रखा था। उसके पास अत्यन्त रहस्यमय हस्तीदन्त पाशे और चाँदी की चौपडें थी। सन्धि-शर्तों के अनुसार दूधिया नाग ने पाडवो के लिए मोतीमाला से चाँदी की चौपड तथा हस्तीदन्त पाशों के सहित, पाशों के सम्पूर्ण गुप्त गुरो की शिक्षा प्राप्त करने के निमित्त ब्रह्मी को, जो स्वय भी पाशो का कुशल खिलाडी था, तिब्बत भेजा। जिन पाशों के खेल की अकुशलता के कारण पाडव राजपाट से च्युत होकर बाहर

बरसों से वनो में विचरण कर रहे हो उन पाशों का पाडवों के समक्ष महत्व स्पष्ट था। परन्तु तिब्बत पहुँचकर ब्रह्मी भी अन्य राजकुमारों की भाँति पराजित हो कर बन्दीगृह में डाल दिया गया।

नौ भाई नागराजाओं में दो भाइयो (ब्रह्मी कुँवर और विशेषकर सूरज कुँवर) द्वारा तिब्बत के भोटन्त (हूणोदय)—विजय की गीत-गाथाएँ गढ़वाल में बहुत प्रसिद्ध हैं। लोक-कथानुसार तिब्बत के राजा की मोतीमाला, रतनमाला और ज्योतिर्माला नाम की तीनो राजकुमारियाँ पाशा खेलने तथा रूप और गुणो मे अद्वितीय थी। सूरजकुँवर को प्रसिद्ध गाथानुसार ब्रह्मकुँवर तिब्बत-विजय नही कर सके, और वहो कहीं भोट की इन चतुर राजकुमारियों द्वारा बन्दी बना कर रखे गये (तेरो दिदा ब्रह्मी गये, घर बौडो नी होय, तेरो दिदा ब्रह्मी रैगे वरमो हुणी पर)। परन्तु सूरजकुँवर तिब्बत-विजय कर, राजकुमारी ज्योतिर्माला को विवाह कर ले आये। यह अत्यन्त कष्टमय किन्तु सुखान्त विजय-गाथा गढ़वाल के पाडव-नृत्यो एव 'थडघा-गीतो' मे विविध रूपो में आज भी गयी जाती है।

ब्रह्मकुँवर की एक लोक-गाथानुसार जब एक बार द्वारिका मे भगवान् कृष्ण अपनी मित्र-मण्डली के साथ पाशा खेल रहे थे तो उन्हें नारद जी से सूचना मिली कि हिमालय काठे 'जौलाताल मे मोतीमाला नाम की राजकुमारी पाशा खेलने मे अत्यन्त' प्रवीण है, उसने पाशो के खेल में कई राजकुमारो को पराजित कर बन्दी बना दिया है। उसके पास अपराजेय हस्तीदन्त पाशे और चाँदी की चौपडें हैं। वह रूप और गुणो मे भी अद्वितीय है, तो श्रीकृष्ण उससे विवाह करने को आतुर हो उठे। परन्तु उस अलघ्य पर्वत-प्रदेश मे कौन जाय ? सहसा उन्हें हिमालय की भौगोलिक कठिनाइयो से अभ्यस्त अपने नाग-बन्धु ब्रह्मकुँवर का ध्यान आ गया। ब्रह्मकुँवर स्वय पाशो मे प्रवीण थे। अत वे हस्तीदन्त पाशे और चाँदी की चौपड के साथ मोतीमाला को प्राप्त करने के लिए, पूरी तैयारी के साथ तिब्बत भजे गये। ब्रह्मकुँवर ने तिब्बत पहुँचकर मोतीमाला की दासी, सौंली शारदा से पाशो के सम्बन्ध मे मोतीमाला के गुप्त दाँव-पेंच मालूम कर मोतीमाला को पराजित कर दिया। उसने पराजित भाभी मोतीमाला को अपने साथ द्वारिका चलने को कहा तो वह बोली कि मेरी छोटी बहिन रतनमाला जो रतनागिरि मे है, वह अत्यन्त सुन्दरी है और तेरे ही योग्य है। जब तू उसको ब्याह कर लायेगा, तब मै तेरे साथ द्वारिका चलूँगी। भाभी के उलाहने से उत्तेजित होकर ब्रह्मोकौल रतनागिरि पहुँचता है

ब्रह्मोकौल पौंछि जंकी, रतनागिरि बीच
रतनागिरि रंद नागू माँ को भूपू नाग

रौंमदी अटाली जैंकी ऊड़दी डरयाली
वाली रतनमाला होली भूपू की पियारी

भूपू नाग कहीं बाहर गया था। ब्रह्मीकौल जाकर रतनमाला के पलंग पर बैठ गया, रतनमाला बोली

केकू आई केकू बाला ! बैरी का बवास ?
बैरी का बवाण आई काल का डिसाण।
ना कर ना कर बाला ! ज्वानी को बिणास
मेरो नाग आलो बाला ! ज्यौंतै डसी वालो
वावरों बरमी बीं का पलंग बैठिगे
बाजि गवे पलग को बावड़िया बौंड
बौंड का पौंछिने सुर जैंकी नाग लोक
बबरैको बौजे भूपू भभडंकी उठे।
को बैरी ऐ होलो मेरा रतनागिरि बीच ?
को मिहुण्या पौंछे उस सात बाड़ी नांघी ?

भूपू नाग रतनागिरि पहुँच कर जब ब्रह्मी को अपने घर में धृष्टतापूर्वक घुसा हुआ देखता है तो वह आपे से बाहर हो जाता है। कहता है (कै रौंड को छई छोरा ! कुल को विणास ?) अरे ! अपने कुल का विनाशक, तू किस रौंड का छोकरा है ? दोनो मे तुरन्त युद्ध आरम्भ हो जाता है। भूपू ने ब्रह्मी को नागपाश द्वारा बन्दी बनाकर बन्दीगृह मे डाल दिया।

सूरजकुँवर की गीत-गाथा में भिमली मे ब्रह्मी के अनुज सूरजू को स्वप्न में भोट की राजकुमारी ज्योतिर्माला उलाहना देती हुई दीखती है

मेरणी को ह्वेल्यो, ऐल्यो ये बाँका भोटन्त
स्यालणी को ह्वेल्यो, रैल्यो भीमली बाजार
जो ह्वेल्यो कुँवर ! सांचो सिंहणी सपूत
तू ऐल्यो सूरजू ! मेरा ताता तुहागढ़

रूप की राशि ज्योतिर्माला के इस उलाहने के साथ उसके अद्वितीय सौन्दर्य ने सूरजकुँवर का चित्त चचल कर दिया। कवि के शब्दो मे

हीया च सुरीज जैंको पीठी चन्दरमा।
कमरी बिलेन्द जैंकी कुमाली सी डाल॥
बिणोंटी बिलेन्द बौंकी डौंड-सी बुड़ीण।
सिम्बोली बिलेन्द बौंकी जौली जैसी फाट॥
किलोरी बिलेन्द जैंकी बोकी-सी मुंगरी।
नाकुणी बिलेन्द जैंकी खांडा जसि धार॥

ओठणी विसेन्द जंकी दालिमा-सि फूल।
दांतुणी विखेली जींकी जाई जसी कली॥
दैठायूँ को रग तैको कठायूं टूटव।
सोवन सिर्पाणी जंकीं रूपा की पैंद्वाणी॥
सुसरी पलग जंकों नेलू झमकाव।
कवासुलि सेज जंको बाघड़िया धांड॥

सुन्दरी ज्योतिर्माला के उलाहने से उत्तेजित होकर सूरजकुमार किसी भी प्रकार भोटन्त-विजय कर ज्योतिर्माला को प्राप्त करने के लिए अपनी माता (जिया अर्थ नागीश) के कई प्रकार समझाने-बुझाने के बावजूद तिब्बत-विजय को चल पडा। वहाँ पहुँच कर पाशो मे ज्योतिर्माला को पराजित कर, वह विजय-गर्व से गर्वित धूमधाम पूर्वक ज्योतिर्माला के साथ अपनी भिमलो को लौट आया।

सूरजकुँवर की विजय-गाथा ब्रह्मकुँवर की विजय-गाथा से अधिक प्रसिद्ध और लोक-प्रिय है। वह विभिन्न लोकगीतो मे भिन्न-भिन्न प्रकार से गायी जाती है। उसकी तिब्बत-विजय सर्वसाधारण के समक्ष अधिक गौरवपूर्ण, असाधारण एव उल्लेखनीय रही है। ब्रह्मकुँवर की लोक-गाथा मे उसके छोटे भाई सूरज कुँवर द्वारा भोटन्त-विजय का उल्लेख नही है, वरन् उसमे ब्रह्मी के बन्दी बनाये जाने की सूचना मिलने के बाद, भगवान् कृष्ण द्वारा भेजे गये सिद्वा को तिब्बत-विजय का श्रेय दिया गया है। सूरज की विजय-गाथा और उसकी लोकप्रियता एव प्रसिद्धि को देखते हुए, इस भोटन्त-विजय मे ब्रह्मी और सिद्वा से सूरज का अधिक पराक्रम निश्चित है। सूरज कुँवर के गीत में ब्रह्मी के बन्दी बनाये जाने की बात कही गयी है। अत ब्रह्मी के पराजय के पश्चात् अपने आमात्य सिद्वा के साथ सूरज कुवर द्वारा ब्रह्मी की मुक्ति और तिब्बत को विजय करने की अधिक सम्भावना हो सकती है। गीतो मे इसका कुछ-कुछ आभास भी है। सिद्वा जहाँ भगवान् कृष्ण का परम मित्र था, वहाँ उसको सूरज की बहिन सूरजी का पति भी कहा गया है। बडे भाई का बन्दी बनाये जाने का सम्वाद पाकर, सूरजू के समान आत्म-सम्मानी युवक की निष्क्रिय होकर चुपचाप घर पर बैठे रहने की सम्भावना भी युक्तिसगत नही है। अत यह निश्चित है कि ज्योंही ब्रह्मी के बन्दी बनाये जाने की खबर सूरजू कुँवर को मिली, उसने अपने बुद्धिमान् आमात्य सिद्वा के साथ श्रीकृष्ण के परामर्शानुसार रतनागिरि-नरेश 'भूपू' पर आक्रमण कर दिया और उसको परास्त करने के बाद भाई को बन्दी गृह से मुक्त कर, भाभी रतनमाला को लेकर वह भोटन्त पहुँचा और वहाँ ज्योतिर्माला को लेकर ब्रह्मी और सिद्वा के साथ धूम-धाम से तिब्बत-विजय कर 'भिमली' लौट

ब्रह्मकुँवर और सूरजकुँवर दोनों की गीत-गाथाओं में ब्रह्मी और सूरजू द्वारा मोतीमाला को भाभी कहकर सम्बोधित किया गया है। इससे उन जागरियों के कथन की भी पुष्टि होती है कि अपने बड़े भाई कृष्ण के लिए मोतीमाला को प्राप्त करने के लिए, ब्रह्मकुँवर तिब्बत गया था। तथा जागरियो के उस कथन की पुष्टि होती है जो कहते है कि मोतीमाला ब्रह्मी के बडे भाई दूधियानाग की पत्नी थी।

यह निश्चित है कि गंगू और सिद्वा-विद्वा का निवास स्थान रमोली क्षेत्र था, परन्तु दूधिया, ब्रह्मी और सूरजू की राजधानी भिमली कहाँ थी, तथा उनका राज्य-विस्तार कहाँ तक था—यह अविदित है। तो भी यह निर्विवाद है कि टिहरी के उत्तरी क्षेत्र से लेकर, गढवाल और अल्मोडा के उत्तरी क्षेत्र में वैदिक अहियों का जो कालान्तर में नाग जाति के नाम से प्रसिद्ध हुए, प्राचीन काल मे एक शक्तिशाली राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित था, गढवाल के अल्मोडा मे ही नही, वरन् कश्मीर से लेकर सुदूर नैपाल और तिब्बत तक एक समय नाग-जाति का राज्य-विस्तार हो चुका था। नैपाल में काठमाडू के निकट नागह्रद सरोवर मे करकोटक नामक नागराजा का निवास-स्थान था, जिसके नाम पर आज भी वहाँ मेला लगता है। तिब्बत वाले तो अपने को नागवशी और अपनी भाषा को नाग-भाषा कहकर गौरव अनुभव करते है। कश्मीर का प्रसिद्ध क्षेत्र अनन्तनाग उस नाग जाति के प्राचीन प्रभाव से प्रभावित है। कल्हण की '**राजतरंगिणी**' (२०४ से २७४ प्रथम स्तरग) में भी नाग-राजाओ का वर्णन आता है। महापंडित राहुल ने अपनी '**जीवन-यात्रा**' (खड (२), पृ० ६५६-५७) मे पश्चिमी तिब्बत पर सं० १०२५ मे नागराजा (देव भट्टारक) का शासन स्वीकार किया है। यद्यपि उन्होंने नागराजा को तिब्बती नरेश लिखा है परन्तु उसके नाम से भारतीय राष्ट्रीयता स्वय बोल रही है। अत इस नाम से उसके तिब्बत का आदि निवासी होने की सम्भावना नही है। वह सर्वथा भारतीय नाम है। राहुल जी ने तिब्बत मे सतलज से ऊपर गग प्रदेश मे भी तेरहवी सदी मे जिड्मल, कल्याणमल और प्रतापमल राजाओ द्वारा शासन करने का भी उल्लेख किया है। (**कुमाऊँ**, पृ० १७४) और ये स्पष्टत हिन्दू नाम है।

पुराणो और '**महाभारत**' के अनुसार त्रिविष्टप सदैव आर्यों का क्रीडास्थल रहा है। बौद्ध काल तक भारत से अनेको राजाओ, ऋषि-महर्षियो का वहाँ आना-जाना प्रमाणित है। भारत-तिब्बत सीमा से लगभग ७० मील की दूरी पर स्थित थोलिङ् मठ में नालन्दा विश्वविद्यालय के आचार्य दीपकर श्रीज्ञान कई महीनो रहे थे।

इस बौद्ध विहार से प्रति वर्ष बदरीनाथ को निश्चित भेंट-चढ़ावा भेजे जाने

की प्राचीन परम्परा से भी पश्चिमी तिब्बत का बदरी-क्षेत्र के राज्याधीन होना स्वय सिद्ध है। जो लोग बदरीनाथ को बौद्ध विहार और उसकी मूर्ति को बुद्ध-मूर्ति कह कर पश्चिमी तिब्बतियो द्वारा थोलिङ्ग के बौद्ध-विहार से बदरीनाथ को भेंट सामग्री प्रस्तुत करने का दस्तूर प्रमाणित करते हैं, उनके इस निराधार कथन के लिए अब तक कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नही कि बदरीनाथ कभी तिब्बती राज्यान्तर्गत बौद्धों का तीर्थ स्थान एव बौद्ध-विहार था। इसके प्रतिकूल वेद और पुराणो द्वारा बदरीकाश्रम का हिन्दू-धर्मानुसार प्राचीन अध्यात्मिक महत्व बुद्ध और शंकर से हजारो वर्ष पूर्व से आज तक प्रतिपादित है। यह स्थान ऋग्वेद-काल से, ऋग्वेद के मत्रद्रष्टा ऋषि, नर और नारायण का तथा अनेक योगियो और योगीश्वरो का प्रसिद्ध तप-स्थान रहा है। बदरीनाथ की मूर्ति इन्हीं तपस्वी ऋषि-महर्षियों मे ऋग्वेद के प्रसिद्ध पुरुष सूक्त के रचयिता योगीश्वर नारायण की ध्यानावस्थित मूर्ति है। नर और नारायण ऋग्वेद के मत्रद्रष्टा ऋषि ही नही थे, वरन् हिन्दू-धर्म-ग्रन्थो मे, नर और नारायण को साक्षात् विष्णु का अवतार कहा गया है। केदार० (५८।११६) मे लिखा है कि यहाँ श्रीपति विष्णु भगवान् की अनेक मूर्तियाँ कई स्थानो पर कई मुद्राओ मे विद्यमान है।

किसी लिपिबद्ध ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव मे भी यदि बदरीनाथ को प्राचीन बौद्ध-विहार एव बौद्धो का केन्द्र-स्थान मान भी लिया जाय तो भी आचार्य शकर के बाद गत ८, ९ शताब्दियो से आज तक जब बदरीनाथ बौद्ध-विहारों की सूची से पूर्णत पृथक् होकर, कट्टर हिन्दू-मन्दिर घोषित हो चुका है, तो तिब्बत के थोलिंग-बौद्ध-विहार से पश्चिमी तिब्बतियो द्वारा अभी तक बदरीनाथ को अविछिन्न रूप से, भेंट-सामग्री प्रस्तुत करने का स्पष्ट अर्थ यह है कि पश्चिमी तिब्बत अभी तक गढवाल-राज्य की राजनीतिक सीमा के अन्तर्गत है। इतिहास मे विजयी विधर्मी-शासको द्वारा, विजित विधर्मियो से 'जजिया' आदि विशेष राजकीय कर लेने के तो अनेक प्रमाण मिलते हैं परन्तु विजयी शासको द्वारा स्वय विजित-विधर्मियो को अविछिन्न रूप ऐसा कोई राजकीय कर देते रहने का कही उदाहरण नही मिलता है। थोलिंग बौद्ध-विहार का बदरीनाथ के वैष्णव-मन्दिर के साथ कोई धार्मिक सम्बन्ध इतिहास मे अविदित है। अत थोलिंग बौद्ध-विहार पर बदरीनाथ के वैष्णव धर्मावलम्बी गढ़वाल नरेशों का प्राचीन काल से राजनीतिक प्रभुत्व ही स्पष्ट है।

तिब्बत के मठो मे सगृहीत अनेक प्राचीन दुर्लभ हस्तलिखित ग्रन्थो की उपलब्धि से तिब्बत पर हजारो वर्षों से भारतीय सस्कृति एव आचार-विचारो का गहन प्रभाव स्पष्ट है। राहुल जी का यह कहना है कि बदरी क्षेत्र पर तिब्बतियो का धार्मिक एव राजनीतिक दासत्व रहा है, तर्कसंगत एव वास्तविक

नहीं है। बदरीनाथ, नारायण आश्रम प्राचीन काल से ही ब्रह्मवेत्ता ऋषि-मुनियो का अध्ययन-केन्द्र रहा है। उसके प्रमाण अनेक ग्रन्थो मे सुरक्षित हैं।

ईसा से शताब्दियों पूर्व से, गढ़वाल का बदरी तीर्थ, प्रमुख विद्याकेन्द्र एव आर्य-तपस्वियों का आश्रयस्थल रहा है।

इस प्रकार गढ़वाल द्वारा, भोट (तिब्बत, हूणदेश) विजय के सम्बन्ध मे गढ़वाल में कई लोक-गीत प्रचलित हैं। गढवाल में हो नही, वरन् कुमाऊँ के प्रसिद्ध लोक-गीत 'मालूशाही' और 'राजुला' के अनुसार भी विराट नगर का नरेश मालूशाही जब हूणदेश मे बन्दी बनाया जाता है तो उसकी माँ ने अपने भाई 'मिरतुआ गढवाली' को भेजकर उसने तिब्बत में हूणो को परास्त किया था।

नागराजाओ के शासन काल में ही नही, वरन् गढवाल-नरेश महीपति शाह के शासन काल (सन् १६६४) तक पश्चिमी तिब्बत गढवाल राज्यान्तर्गत था। महीपति शाह ने लोदी रिखोला के सेनापतित्व मे तिब्बत के राजा दापा को मार कर, थोलिंग के बौद्ध बिहार पर अधिकार करके तिब्बत मे सतलज नदी तक अपने राज्य का विस्तार कर दिया था। श्री माधोसिंह और उसका भाई, गढवाल-नरेश की ओर से इस क्षेत्र के शासक नियुक्त किये गये थे। इतना ही नही, सतलज की घाटी मे तिब्बत से मिला हुआ भू-भाग जो उस युग मे छोटा चीन' कहलाता था, और आज हिमालय प्रदेश मे महासू जिले में सम्मिलित है, एक बार गढवाल-नरेश महीपति शाह की राज्य-सीमा के भीतर था। तिब्बत से गढवाली राजाओं को पाँच सेर सोना, एक चंवर, वार्षिक भेंट-स्वरूप प्राप्त होता था।

ऐतिहासिक प्रमाणो के अनुसार ऋग्वेद-काल मे आर्यों की जिस असुरोपासक शाखा को असुर एव अहि कहा गया है, वह उत्तर वैदिक युग मे कृष्ण-बाणासुर-युद्ध एव जनमेजय के नाग-यज्ञ के कुछ शताब्दी बाद तक नाग-जाति नाम से उत्तर भारत के पर्वतीय-प्रदेशो मे राजनीतिक उत्कर्ष को चरम सीमा पर रही है। इस प्रकार गढवाल मे नागो का शासन काल खसो, बौद्धो एव कत्यूरियो से पूर्व लगभग ३२०० ई० पूर्व से लेकर २५०० ई० पूर्व तक रहा है। कृष्ण-बाणासुर सन्धि के बाद असुर एव नागों का आर्य जाति मे विलोनीकरण आरम्भ हो गया था और अन्त में जनमेजय के सर्प यज्ञ के दो-एक शताब्दी के बाद उनका पूर्णत हिन्दू-संस्कृति मे विलीनीकरण होकर, उनके आराध्य देवो का हिन्दुओं के आराध्यो, पाडव और कृष्ण के साथ गढवाल-जनपद मे आदरणीय स्थान सुरक्षित हो गया था।

प्राचीन ग्रन्थो 'महाभारत' और पुराणों में कुछ नये नाम एव नये कथानक प्राप्त होने के कारण इतिहासकारो को उनकी प्राचीनता पर सन्देह होने लगता है। वे उस समस्त प्राचीन ग्रन्थो को निस्सकोच आधुनिक कवि की कृति करार

दे देते हैं। वे प्राय इस बात को नजर-अन्दाज कर देते हैं कि भारत में प्राचीन ग्रन्थो को पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्राय कठस्थ रखने की परम्परा प्रचलित रही है, जिसके कारण लोग उनमे प्राचीनता की मोहर लगाने के लिए, नये-नये नाम और नये-नये कथानको को भी यथासमय जोडते रहे हैं। फलत इन नये प्रक्षिप्ताशो के कारण ऐसे अनेक प्राचीन ग्रन्थो की प्राचीनता एवं मौलिकता विवादास्पद हो गयी है। लोक-गीतों की स्थिति जो आज भी जनता में मौखिक रूप से ही प्रचलित है, इस सम्बन्ध मे और भी दयनीय है। लोक-गायकों-द्वारा समय-समय पर स्वेच्छानुसार नये-नये नाम और नये-नये कथानको के सम्मिश्रण से लोक-गीतो की प्राचीनता मे भी सन्देह होना स्वाभाविक है।

सूरजकुँवर के गीत मे गोरखनाथ का भी उल्लेख है। गुरु गोरखनाथ का समय श्री परशुराम चतुर्वेदी **'उत्तर भारत की सन्त परम्परा'** (पृष्ठ ६०) में लगभग १००० ई० मानते हैं। यद्यपि गोरखनाथ का समय विवादास्पद है तो भी सूरजकुँवर की लोक-गाथा में गोरखनाथ का अर्थ भगवान् कृष्ण से परम मित्र सिद्धा से है जो युद्ध-कुशल होने के साथ-साथ तत्र-मंत्रो तथा यौगिक चमत्कारो मे प्रवीण था, क्योंकि लोक-कथानुसार तिब्बत मे उसके द्वारा शत्रु-सेना पर तलवार से तत्र-मत्रो का अधिक सफल प्रयोग किये जाने का उल्लेख है।

इसमे कोई सन्देह नही कि लोक-साहित्य मे वर्णित कथानको की कोई सर्व सम्मत, नियमबद्ध, व्यवस्थित प्रणाली न होने से एकमात्र स्वच्छन्द मौखिक परम्पराओ के कारण प्रत्येक लोक-गायक, जागरी, धामी, औजी, हुडक्या एव ढाकी, बादी अपने-अपने समय पर उनमे इच्छानुसार तोड-मरोड करने के लिए स्वतन्त्र रहे हैं। परिणामस्वरूप लोक-साहित्य की ऐतिहासिक सत्यता अत्यन्त अस्पष्ट एव विकृत होती गयी है। उपर्युक्त नागराजाओ से सम्बन्धित लोक-गाथाओ मे भी यद्यपि कथानको की यह विशृङ्खलता, असम्बद्धता, एव प्रक्षिप्तता अक्षम्य रूप से विद्यमान है। तो भी गढवाल में आज तक नागो के सर्वव्यापी एवं प्रभावशाली अस्तित्व को देखकर उनकी ऐतिहासिक वास्तविकता से इन्कार नही किया जा सकता।

कुछ लोग नागो का शासन कत्यूरी सम्राटो के साथ या उनसे पीछे बतलाते हैं, जो युक्तियुक्त नही। कत्यूर वश लगभग दो तीन शताब्दी पूर्व से लेकर आठवीं शताब्दी तक गढवाल का अत्यन्त समृद्धिशाली राजवश हो चुका है। नागो की तरह कैंतुरा भी गढवाल के विशेष वर्ग के व्यक्तियो पर अवतरित होकर नाचते हैं परन्तु नागो के प्रति बहुसख्यक जनता का जो देव-भाव है, वह कैतुरो के प्रति नही। अत नाग 'कैंतुरो' से अधिक लोकपूज्य एव प्राचीन हैं। वे आज भी पांडवो एव भगवान् कृष्ण के समकक्ष आदरणीय स्थान पर प्रतिष्ठित हैं।

कत्यूरों का उदय पाँच-चार शताब्दी ईसवी पूर्व और उनका अवसान गढ़वाल में प्रमार-वंश का प्रारम्भ-काल है। कत्यूर राज्य मे शताब्दियो पूर्व गढ़वाल मे नागो का शासन-सूर्य अस्त हो चुका था। जनमेजय का सर्प-सत्र लगभग ३१०० ई० पूर्व नागों का अन्तिम उत्कर्ष-काल है। 'महाभारत' मे स्थान-स्थान पर जहाँ नागो का वर्णन है, वहाँ दो-एक स्थान पर खसो का भी उल्लेख है, परन्तु उसमें बौद्धो का वर्णन नही है। अत नागो का ऐतिहासिक अस्तित्व बौद्धो से ही नही, खसो से भी अधिक प्राचीन है (महाभारत, द्रोण पर्व १२१।४२)। इस प्रदेश मे जब खस जाति का अरुणोदय हो रहा था, तो नागो का सूर्य अस्त हो रहा था। उसके पश्चात् असुरोपासक नाग जाति अन्य जातियो की भाँति आर्य एव खस जाति मे विलीन हो गयी। उनकी असुरोपासना-पद्धति उनकी सभ्यता और संस्कृति सम्पूर्णत हिन्दू संस्कृति मे समा गयी।

स्व० रतूडी जी ने 'गढ़वाल का इतिहास' (पृष्ट १६७-१६८) मे असवाल और राणा जाति की पूर्व जाति सज्ञा नाग बतलायी है। उनके कथनानुसार (पृष्ट ३२३) गढवाल के ५२ गढो मे नागपुर गढ और बागर गढ नागवशी राजाओ के गढ थे। असवाल (असिवाले खड्गधारी) मध्ययुगीन गढवाल में इतनी शक्तिशाली जाति थी कि गढवाल के पँवारवशीय राजाओ के शासन काल मे भी 'आधा असवाल और आधा गढवाल' की कहावत प्रचलित थी। यदि आधे-गढवाल के शासक की राजधानी का नाम श्रीनगर था तो, आधे-गढवाल के शासक असवालो की राजधानी का नाम भी 'नगर' था। नगर बारहस्यूं मे पट्टी असवालस्यूं मे एक गाँव का नाम है, जहाँ आज भी असवालो का बाहुल्य है।

महापडित राहुल ने 'हिमालय-परिचय' (१), (पृष्ठ ५१) में नागपुर गढ के अतिरिक्त दशौली और पैनखण्डा को भी नागो का गढ बताया है। उनके कथनानुसार प्रागार्यकालीन नागो के बहुत से गढ़ भारत के अन्य भागो (राजगृह आदि) में भी मिलते हैं। हो सकता है कि हिमालय के इस भाग के कितने ही पुराने गढ इन्ही नागो (अहियो) के रहे हो। हम राहुल जी के इस कथन से पूर्णत सहमत हैं। ऋग्वेद में वर्णित असुर-राज शम्बर भी नागवंशी (अहिमानव) था। गढवाल के पर्वत शिखरो पर प्राचीन गढो के अधिकाश खण्डहर शम्बरासुर के १०० ऋग्वैदिक गढो के अवशेष है। राहुल जी भी गढवाल और कुमाऊँ मे शम्बरासुर के साथ आर्यों के युद्धो का अन्यत्र उल्लेख कर चुके हैं।

सारांश यह है कि गढ़वाल, टिहरी और कुमाऊँ में ही नही, हिमालय-प्रदेश के प्रत्येक गाँव में एक बार इन असुर-अहियो एवं नागों का सामाजिक, धार्मिक एव राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। आर्यों के सामूहिक आक्रमण-प्रत्याक्रमणो एव घृणा और द्वेष के बावजूद अपने आदि देश हिमालय से उत्तर

कर नागों ने आर्यावर्त के अनेक भू-भागों पर भी अधिकार कर लिया था। गौतम बुद्ध के जीवन-काल में भी नागो का थोडा-बहुत अस्तित्व पाया जाता है। जैनों के एक तीर्थंकर तो नागवशी ही थे। प्रयाग के किले के भीतर के स्तूप पर लिखा है कि सम्राट् समुद्रगुप्त ने गणपति नाग को पराजित किया था (वह जाति हिमालय के पार, सम्भव है इसी नागपुर गढ़वाल की थी)। सिकन्दर के यात्रा विवरण में तक्षशिला के राजा द्वारा नागों की पूजा का उल्लेख है। विक्रम सम्वत् १५० तथा २५० के बीच मथुरा से लेकर भरतपुर, ग्वालियर, उज्जैन आदि प्रान्तो में आठ नागवशी राजाओं का जिन्हे गुप्तवश ने पराजित किया था, राज्य-शासन था। शको को विध्वस करने मे आर्य जाति के जिन राजाओ ने सक्रिय भाग लिया था, उनमें विदिशा के नागो के राजा रामचन्द्र नाग भी एक थे।

ह्वानचाँग आदि पर्यटको के कथनानुसार पजाब और गगा की उपत्यका मे पाँचवी-सातवी शताब्दी मे भी नाग-सस्कृति का अस्तित्व पाया जाता है। अजन्ता के भित्ति-चित्रो मे देवताओं के साथ नाग और नागनियो की मूर्तियाँ भी निर्मित हैं। इतना ही नही, महात्मा बुद्ध की मूर्ति के ऊपर फन फैलायी हुयी नागमूर्ति का तात्पर्य स्पष्टत यह है कि बौद्धो के व्यापक विस्तार एवं सफल प्रचार और प्रसार का पूर्णत श्रेय नागजाति को ही है।

प्राचीन काल मे दो सम्प्रदायो एव दो विरोधी राज्यो मे जब धार्मिक एव राजनीतिक सधियाँ होती थी, तो वे एक-दूसरे के धार्मिक एव राष्ट्रीय चिन्हो को भी अपने धार्मिक एव राष्ट्रीय चिन्हो के साथ सम्मिलित करना स्वीकार कर लेते थे। मौर्यवश के पतन के पश्चात् पश्चिमोतर प्रदेशो से जब शक तथा हूणो ने टिड्डीदल की भाँति भारतवर्ष पर आक्रमण किया, और भारतीय बौद्ध, शैव एवं वैष्णव आदि सम्प्रदाय धार्मिक विवादो में पडकर लड रहे थे, उस समय ईसा से ५७ वर्ष पूर्व वैष्णव और शैव ने एक-दूसरे के राष्ट्रीय चिन्हो को स्वीकार कर एक राष्ट्रीय ध्वज के नीचे सगठित होकर शक और हूणों को आत्मसात कर मालव-गणतत्र की स्थापना की थी। बहुत सम्भव है कि तत्कालीन आर्यों ने बौद्धो को वेदो के विरुद्ध होते हुए भी इसी राजनीतिक एव धार्मिक समन्वय के लिए उनके भगवान् को भी अपने दस अवतारो मे सम्मिलित कर लिया हो। गणपति—द्रविड के मुख्य आराध्य है परन्तु गणपति और उनके भाई कार्तिकेय का जन्म केदारनाथ के निकट नागपुर क्षेत्र मे हुआ था।

कुछ विद्वानों का मत है कि आर्यों मे गणेश-पूजन की प्रथा का श्रीगणेश आर्यों और द्रविडों के युद्धो, धार्मिक एवं राजनीतिक संघर्षों का समन्वयात्मक परिणाम है। हाथी द्रविड जाति का राष्ट्रीय चिह्न था। द्रविड-गण-राज्य के

नायक (गणनायक, गणपति, गणेश) के साथ सन्धि होने के पश्चात् आर्यों ने अपने प्रत्येक धार्मिक कार्यों में गणेश-पूजन अनिवार्य करके उनके राष्ट्रीय चिह्न को सम्मानपूर्वक अपने धर्म में सम्मिलित कर दिया था। यह सन्धि गणेश-चतुर्दशी को हुई थी, तब से गणेश-चतुर्दशी भी आर्यों का एक प्रसिद्ध त्योहार हो गया। उस दिन विशेष कर दक्षिण भारत मे घर-घर आनंदोत्सव मनाये जाते है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरो तथा धार्मिक एवं राजनैतिक वाद-विवादों से पीडित तत्कालीन भारत के सामाजिक, धार्मिक एव राजनीतिक एकीकरण के निमित आर्य-नेताओं ने शैवो के शिव, नागों के शेष, बौद्धो के गौतम-को विष्णु के अवतारो मे, तथा द्रविडों के गणेश-पूजन को अपने धार्मिक उत्सवो मे सम्मिलित कर, देश के विभिन्न विरोधी तत्वो को आत्मसात कर दिया था।

दक्षिण भारत के द्रविड देश मे आर्य और द्रविडो की सभ्यता, सस्कृति और साहित्य के इस समन्वय का श्रेय आर्य-ऋषि अगस्त्य और विश्वामित्र को था। इन दो ऋग्वैदिक ऋषियो के आश्रम उत्तर गढवाल मे थे। इन दोनो आर्य-ऋषियो और उनके शिष्यो-प्रशिष्यो ने जलप्लावन के अवतरण पर गढवाल के उत्तर-गिरि से चलकर दक्षिण-गिरि और आर्यावर्त्त से आगे विन्ध्याचल को पार कर सुदूर दक्षिण देश में पहुँच कर द्रविडो के साथ आर्य-जाति का धार्मिक एव राजनीतिक सामंजस्य स्थापित किया। तब से आज तक गढ़वाल के प्रमुख तीर्थों केदारनाथ और बदरीनाथ का पौरोहित्य-पद सुदूर दक्षिण की द्रविड जाति के लिए सुरक्षित है। पूना के निकट पुरन्दर का सर्वोच्च पर्वत-शिखर आज भी केदार के नाम से विख्यात है, (एटकिन्सन हि० द्वितीय खड पृ० ७३०)।

उत्तर-गिरि-प्रदेश 'केदारखड' की अनेक धार्मिक एव सामाजिक आस्था में सुदूर दक्षिण देश मे, उनके मठ-मन्दिरो मे प्रचलित हैं। इस उत्तरी केदारक्षेत्र की देवचेली प्रथा, और दक्षिण में प्रचलित देवदासी प्रथा में पूर्ण साम्य है तेलगु और तामिल मे इस 'उत्तराखड' के माहात्म्य से ओत प्रोत कई प्राचीन ग्रन्थ है। वैष्णव ग्रन्थ 'अलावार' मे 'कडवेनु कडिनगरे' के नाम मे देवप्रयाग का विस्तार-पूर्वक आध्यात्मिक महत्व प्रतिपादित है। 'अलावार' मे बदरीकाश्रम के प्राचीन माहात्म्य का भी श्रद्धापूर्वक उल्लेख है। उत्तर और दक्षिण भारत के एकीकरण के लिए आर्य और द्रविड दो परस्पर प्रतिद्वन्द्वी जातियो के सामाजिक, धार्मिक एव राजनैतिक समन्वय के लिए उक्त आर्य ऋषियो का यह दूरदर्शितापूर्ण प्रयास स्तुत्य है। गढवाल में, इस देश के ही योग्य ब्राह्मण-पंडितो के होते हुए भी गढ़वाल के प्रमुख मन्दिरो, प्रति वर्ष लाखो रुपयों की आय के एकमात्र और

निश्चित स्रोतो—केदारनाथ और बदरीनाथ का स्वामित्व गढ़वाली द्विजो को न देकर सुदूर दक्षिण के नम्बूदरी और जंगम जाति के लिए ही सुरक्षित रखना अकारण नही है। गत सदियो से—हजारो बरसो से उत्तर-गिरि-प्रदेश हिमालय मे स्थित गढवाल निवासियो की धार्मिक, सामाजिक एव राजनैतिक सहिष्णुता, आज दक्षिण-भारतीयो के इस दावे को, डके की चोट से व्यर्थ प्रमाणित कर रही है कि उत्तर भारत के लोग दक्षिण भारतीयो पर हावी हैं। गढ़वाल के इन सर्वोत्तम और सुदृढ आय के एकमात्र स्रोतो पर, सुदूर दक्षिण के नम्बूदरी और जगम जाति के लोगो की नियुक्ति, दक्षिण के द्रविडो के साथ उत्तर गढ़वाल के आदि निवासियो के आदि कालीन सास्कृतिक, सामाजिक एव धार्मिक सम्बन्धो का स्नेह-सूचक एव विभिन्न आर्य सस्कृतिको के एकीकरण का राष्ट्रीय प्रतीक है।

आज से हजारो वर्ष पूर्व मध्य हिमालय के इस उत्तर गिरि-प्रदेश के अगस्तमुनि स्थान से महर्षि अगस्त्य ने विंध्याचल से आगे सुदूर दक्षिण में पहुँच कर जिस प्रकार उत्तर भारत और दक्षिण भारत के बीच भेद-भाव की दीर्घ दीवारो को तोड कर समस्त आर्यावर्त्त मे सामाजिक, धार्मिक एव राजनैतिक एकता की स्थापना का स्तुत्य प्रयास किया था, उसी प्रकार दक्षिण देश से चल कर ईसवी सन् ८वी शताब्दी मे आचार्य शकर ने आर्यावर्त्त मे सर्वत्र घूम-घूम कर, उसके चारो कोनो पर चार-धामो की स्थापना कर भारत का पुन राजनैतिक सीमा-निर्धारण किया है। भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तो, जातियो, उपजातियो के एकीकरण का अगस्त्य ऋषि के बाद, भारत के इतिहास में यह द्वितीय शक्तिशाली प्रयास था। इस एकीकरण के निमित्त आचार्य शकर ने चार धामो की पैदल यात्रा की, जनता की अनेक धार्मिक एव राजनैतिक शकाओं का समाधान किया, चारो धामो मे भात-रोटी के झूठे भेद-भावो को दूर किया। वे सुदूर दक्षिण देश से, उस युग मे जब यातायात की अनेक असुविधाएँ मार्गों में थी स्थान-स्थान पर चोर-डाकुओ का भय एव अनेक भौगोलिक विघ्न-बाधाएँ मुँह बाये खडी थी वे सुदूर दक्षिणदेश से पैदल चल कर, दो बार बदरी-केदार पहुँचे और वही केदारनाथ के समाधिस्थ हुए। भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए, राजनैतिक दृष्टि से उनका यह महत्वपूर्ण प्रयास उनकी आध्यात्मिक सेवाओ से अधिक चिरस्मरणीय रहेगा।

●●

मध्य हिमालय के वर्तमान निवासी

प्राचीन काल में जब आर्यावर्त्त समुद्र-गर्भ में था, उस युग में हरिद्वार से ऊपर, शिवालिक पर्वतमाला से लेकर मानसरोवर तक का समस्त गिरि-प्रदेश सप्तसिन्धु कहलाता था। इसके उत्तरी भाग को उत्तरगिरि, मध्य को अन्तर्गिरि और दक्षिणी भाग को दक्षिणगिरि भी कहते थे। इस प्रदेश की सौतियाबाँट प्रथा के अनुसार उस मातृप्रधान युग में उत्तरगिरि का अधिकाश भाग दिति के दैत्यो, दनु के दानवो और नागों के हिस्से में था। जोशीमठ, ऊखीमठ उनकी राजधानियाँ थी। अन्तर्गिरि के सर्वोत्तम प्रकृति-श्री से सम्पन्न गन्धमादन पर्वत क्षेत्र (स्वर्गराज्य) पर सबसे ज्येष्ठ होने के नाते (इस क्षेत्र की प्राचीन प्रथानुसार ज्येष्ठवश (जेठुन्डा) के रूप मे) इन्द्र ने अधिकार कर लिया। इन्द्र देवो मे सबसे ज्येष्ठ होने के कारण देवराज कहलाते थे। ज्येष्ठ भाई को प्राचीन शास्त्रकारों ने पिता की मृत्यु के बाद भाई-बाँट में विशेष पैतृक अधिकार प्रदान किये है। ज्येष्ठ भाई को ज्येष्ठाश के रूप मे अन्य भाइयों से अधिक भाग देने का आदेश है। गढवाल में धर्म-सस्थापक मनु का मूलस्थान होने के कारण प्राचीन काल से इस प्रथा का दृढतापूर्वक पालन होता रहा है। यहाँ पैतृक परम्परानुसार ज्येष्ठ भाई को उसके सिकमियो द्वारा पैतृक प्रतिष्ठा के मौलिक अधिकारो के साथ 'जेठुन्डा' के रूप मे बँटवारे के समय सबसे बडा खेत देने की प्रथा रही हैं। एल० डी० जोशी को हिन्दू ससार में इस प्रथा का अस्तित्व प्राप्त नही हुआ है। अत केवल गढवाल में ही सौतियाबाँट की भाँति उक्त प्राचीन प्रथा के प्रवर्तित रहने के कारण उन्होने अपनी 'खस फैमिली ला' पुस्तक मे हिन्दू ससार से अतिरिक्त अलग खस जाति करार दिया है। बडे भाई के इन विशेष अधिकारो एवं इन जेठुन्डा और सौतियाबाँट की प्राचीन प्रथाओ की अनिवार्यता के सम्बन्ध में सिकमियो में असंतोष उत्पन्न होने के समय पीढियो के बाद भी कानूनी विवाद उठते रहे हैं।

देवराज इन्द्र के विरुद्ध भी इन विशेष शास्त्रीय सुविधाओं के कारण केवल असुरों में ही नही, वरन् इन्द्र और देवताओ के बीच अनेक बार युद्ध-स्थिति उत्पन्न होती रही है। फिर भी धर्मशास्त्रो द्वारा ज्येष्ठ भाई को उसे अन्य भाइयो से अधिक सामाजिक एवं आर्थिक सुविधाएँ प्रदान करने के साथ अपने छोटे भाइयो की आवश्यकता पडने पर उचित सहायता करने का प्रतिबन्ध था। देवासुर-संग्रामो मे जब कभी देवों ने इन्द्र से सहायता की याचना की है, उसने

सदैव देवताओ का नेतृत्व कर, अपने कर्त्तव्य का पालन किया है। शेष दक्षिण-गिरि प्रदेश अदिति के अन्य आदित्यो के हिस्से में आया। कनखल, हरिद्वार के आस-पास उन्होंने अपनी राजधानियाँ बसायीं।

उस युग में आर्यावर्त्त के अस्तित्व मे आने मे पूर्व हरिद्वार से विन्ध्याचल पर्वत के नीचे जो समुद्र था उसमें अनेक आकस्मिक भौगर्भिक उपद्रव हो रहे थे, जिनका वह भयंकर प्रलयो के रूप मे आर्य-ग्रन्थों में वर्णन मिलता है। सातवें मन्वन्तर में जब इस दक्षिण गिरि-प्रदेश पर सप्तम वैवस्वत मनु का राज्य था, पुनः तराई का समुद्र ऊपर उठा और उसके प्रलय-जल ने सप्तसिन्धु का लगभग ७-८ हजार फुट ऊंचा समस्त गिरि-प्रदेश जलमग्न कर दिया। तत्कालीन भूगर्भ-शास्त्रियों की अग्रिम घोषणाओ से सतर्क आर्य शरणार्थी मनु के नेतृत्व में अपनी पूर्व निर्धारित योजनानुसार, नावो में बैठ कर उत्तर गिरि की ओर भागे और वहाँ सरस्वती नदी के उन्नत तटवर्ती प्रदेश में शरण ली। दक्षिण सप्तसिन्धु देश से उत्तर गिरि-प्रदेश मे आने (आवर्त्त) के कारण उसका जो सर्वोच्च गिरि-प्रदेश उस समुद्री बाढ़ से ऊपर रह गया था, उसका नाम ब्रह्मावर्त्त पड़ा।

दक्षिणगिरि से आये हुए आर्य शरणार्थियो के आकस्मिक आगमन से उत्तर-गिरि के आदि निवासी इन असुरोपासक आर्यों और इन नये आचार-विचार वाले आर्य शरणार्थियो में सीमित क्षेत्र मे केन्द्रित होने के कारण, कई सामाजिक, धार्मिक एव आर्थिक सघर्ष शुरू हो गये, जो ऋग्वेद के अनुसार चालीस वर्ष मे अधिक समय तक देवासुर-सग्राम के रूप मे जारी रहे। इन्द्र के नेतृत्व मे सुसंगठित आर्यों द्वारा पराजित, अनेक आत्मसम्मानी असुरोपासको के दल अपनी पितृभूमि सरस्वती नदी का देश त्याग कर पश्चिमोत्तर देशो की ओर भाग खडे हुए। जो यहाँ रहे उन्हे विजयी आर्यों ने अपना दास बना लिया। लगभग एक सौ वर्ष प्रलय-जल के अवतरण तक अनेक भौगोलिक यातनाओ को सहते हुए देव और असुर ब्रह्मावर्त्त मे निवास करते रहे। प्रलय-जल के उतरने पर मत्स्य भगवान् के आदेशानुसार आर्यों का दक्षिणी अभियान इस शीतप्रधान प्रदेश से ऊब कर अगत्स्य आदि नये नेताओ के सरक्षण मे पुन धीरे-धीरे दक्षिणगिरि प्रदेश की ओर लौटने लगे। जो देव और असुर आदिकाल से ब्रह्मावर्त्त की जल-वायु एव उसकी जीवनचर्या से अभ्यस्त थे उन्होंने आर्यों के इस दक्षिणी अभियान का साथ नही दिया। वे अपने आदि देश में ही रह गये।

इस बीच हरिद्वार और विंध्याचल के बीच समुद्र सूख गया और आर्यावर्त्त का मैदान ऊपर निकल आया। आर्यों का यह दक्षिणी अभियान नयी भूमि और नये चरागाहो की खोज करता हुआ तराई पार कर आर्यावर्त्त के इस

नव-निर्मित मैदान में आ पहुँचा। उसने इसका नाम आर्यावर्त्त रखा। आर्यावर्त्त में बसने के उपरान्त अपने पूर्वजों की परम्परागत स्मृति एवं उनके द्वारा कथित कथानको के आधार पर अपने इस नये देश आर्यावर्त्त में ही उन्होंने कई ऐसे राजाओं, स्थानों, नगरों और नदी-पर्वतो की कल्पना की, जिनका भौगोलिक अस्तित्व आर्यावर्त में नही था, वरन् उनके पूर्वजो के मूलस्थान सप्तसिन्धु और ब्रह्मावर्त्त में था। आज वे आर्यावर्त्त के ही इतिहास से आर्य जाति की प्राचीनता का आरम्भ करते हैं तथा पचनद देश पजाब—सप्तसिन्धु के और प्रयागराज और कुरुक्षेत्र मे ब्रह्मावर्त की पुण्यतोया सरस्वती के भौगोलिक अस्तित्व की भी स्थापना करते हैं।

जो इतिहासकार आर्य जाति के आर्यावर्त्त मे बसने के बाद उसकी प्राचीनता के सम्बन्ध मे अनुमान लगाते हैं, वे इस वास्तविक तथ्य को बिल्कुल नजर-अन्दाज कर देते हैं कि आर्य जाति उस समय जब पृथ्वी मे आर्यावर्त्त का कोई अस्तित्व ही नही था और वह (आर्यावर्त्त) समुद्र-गर्भ में था, ब्रह्मावर्त्त मे रहती थी। ब्रह्मावर्त्त सप्तसिन्धु का वह उत्तरगिरि प्रदेश था जो सप्तम मन्वन्तर मे सप्तसिन्धु के प्रलय-जल से ढक जाने के बाद, प्रलय-जल से ऊपर रह गया था। यह सप्तसिन्धु देश हरिद्वार से ऊपर मानसरोवर तक मध्य हिमालय के इस गिरिप्रदेश मे फैला हुआ था, जहाँ बसे हुए आर्य जाति को, आर्यावर्त्त में आने से पूर्व, छह मन्वन्तरो के हजारो वर्ष व्यतीत हो चुके थे।

प्रलय-जल के अवतरण पर जो देव, असुर और नाग परिवार अपनी परिस्थितियो के कारण, अपने आर्य साथियो के साथ नही जा सके और अपने देश ब्रह्मावर्त्त में ही रह गये, वे ही गढ़वाल के वर्तमान निवासियो के पूर्वज हैं। हम इससे पूर्व लिख चुके है कि देव, असुर और नागो के आचार-विचारो मे परस्पर भिन्नता होते हुए भी सब एक ही पिता के पुत्र हैं और एक ही देश के निवासी और सजातीय थे। सौत और सौतेले भाइयो की परस्पर घोर शत्रुता आदिकाल से प्रसिद्ध है। ऋग्वेद मे भी इसका उल्लेख है। महाभारत काल तक गढवाल मे आर्य-द्विजों के साथ अनेक सघर्षो के बावजूद असुर और नागो का स्वतत्र अस्तित्व पाया जाता है। यद्यपि समर्थ आर्य द्विजो ने अपने इन सौतेले भाइयो को मानवी अधिकारो से भी वचित रखने का सदैव प्रयत्न किया है, जिसके फलस्वरूप महाभारत काल तक इन तीनो आर्य जातियो मे सदैव देवासुर सग्राम की स्थिति बनी रही। कभी देवताओ की विजय हुई तो कभी असुरो की। परन्तु वाणासुर-कृष्ण के युद्ध मे असुर और जनमेजय के नाग यज्ञ मे नागों का भी रहा-सहा स्वतंत्र राजनैतिक अस्तित्व समाप्त हो गया। सगठित आर्य द्विजों से बार-बार पराजित असुर और नागो ने अपने शक्तिशाली आर्य-

सामन्तों के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। उनकी सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति दयनीय होती चली गयी। आर्य प्रमुखों द्वारा उनको निकृष्ट दास एव शूद्रों की नीच श्रेणी में स्थान मिला।

उत्तर वैदिक काल से महाभारत काल तक कर्मकांडी ब्राह्मणों ने अपने कट्टर धार्मिक विधि-विधानो, स्मृति-ग्रन्थों द्वारा हिन्दू समाज की व्यापकता को सीमित और सकुचित कर दिया। ज्यो-ज्यो वर्ण-व्यवस्था की कट्टरता में वृद्धि होती गयी, ब्राह्मण पुरोहितो द्वारा जरा-जरा से विरोधी आचार-विचारो के कारण अनेक आर्य-द्विज धर्मच्युत करार दिये जाने लगे। आज भी हिन्दुओं में इस कट्टरता का यथासाध्य पालन होता है और सब इसको धर्माचरण कहते हैं। केवल यज्ञोपवीत धारण न करने के कारण ब्राह्मण और क्षत्रिय भी व्रात्य घोषित किये गये (मनु १०।२०)। 'मनुस्मृति' आदि स्मृति-ग्रन्थो में इस धार्मिक कट्टरता के कारण द्विजो के बहिष्कारो की अनेक घोषणाओ से आर्य सम्यता से इस प्रकार समय-समय पर बहिष्कृत, धर्मच्युत एव सस्कारच्युत आर्य द्विजो का महाभारत काल तक खस जाति के रूप मे एक स्वतत्र समुदाय बन गया। इसमे भी हिन्दू धर्म-व्यवस्था के अनुसार वर्ण-व्यवस्था की कट्टरता सुरक्षित रखी गयी। धर्मच्युत ब्राह्मण, खस ब्राह्मण और धर्मच्युत क्षत्रिय, खस राजपूत करार दिये गये और आर्य-द्विजो ने अपने पारिवारिक सेवको के रूप मे उनका स्थान सुरक्षित कर दिया (मनु ४०।४६)। महाभारत काल के बाद आर्यों द्वारा पराजित एवं बहिष्कृत असुर और नाग भी इसी खस जाति मे विलीन होकर खस जाति इस क्षेत्र में एक बहुसख्यक जाति बन गयी। गढवाल में आर्य द्विजो के साथ खस जाति के रूप मे, महाभारत काल से आज तक उनका सामाजिक स्थान अपरिवर्तित है।

विदेशी इतिहासकारो ने हिन्दुओ को परमुखापेक्षी एव प्राचीन आत्मगौरव से वचित करने के लिए अंग्रेज और मुसलमानो की तरह, यहाँ के आर्यों एव खसो को आर्यावर्त्त मे बाहर, विदेशो से आया हुआ कह कर, उनमें हीन भावना एव अराष्ट्रीय मनोवृत्ति उत्पन्न करने का कुत्सित प्रयास किया है। कुछ विदेशी इतिहासकारो के कथनानुसार गढवाल के वर्तमान निवासियो के पूर्वज भी खस हैं, जो आर्यों से पूर्व विदेशो से यहाँ आये। अनेक भारतवासियो ने भी उनका समर्थन कर विदेशी रक्त से निस्संकोच अपनी उत्पत्ति स्वीकार की है। केवल विदेशो मे आर्यावर्त्त से बाहर सुसस्कृत मानवो का निवास था और आर्यावर्त्त में मनुष्य जाति का सर्वथा अभाव था, विदेशियो की वह घोषणा उनके धार्मिक एवं राजनैतिक स्वार्थ की स्पष्ट परिचायक है। आर्य एवं खस जाति अपने आदि देश से अपना सर्वस्व लेकर आर्यावर्त में आ पहुँची। उसने मूल स्थान में अपना कोई

नाम-निशान, भाषा, साहित्य, अपना एक भी स्मृति-चिह्न नही छोड़ा। उनका यहाँ कोई नामलेवा-पानीदेवा शेष नही रहा—यह कथन उपहासास्पद है। आर्यावर्त्त के आर्यों के पास इतनी समृद्ध एवं इतनी प्राचीन वैदिक विरासत होते हुए, उन्हें विदेशों के उन स्थानो से आया हुआ घोषित करते हैं, जहाँ उनकी प्राचीनता का एक भी चिह्न नही मिलता। गढ़वाल मे वेदो से पूर्व आयी हुई खस जाति का नाम आज भी यहाँ ज्यो-का-त्यो है, परन्तु मध्य एशिया में, जहाँ इन इतिहासकारो के कथनानुसार, खसो का मूलस्थान था—खस जाति एव उनका कोई उल्लेखनीय स्मृति-चिह्न सुरक्षित नहीं है। आर्यों की एव खसो की अपने मूलस्थानो मे इस आर्यावर्त्त से अधिक अपनी भाषा और साहित्य की पैतृक विरासत सुरक्षित रहनी चाहिए थी। आर्यावर्त्त में कुछ अंग्रेजी शब्दो के प्रचार-प्रसार से यदि हम अंग्रेजो को भारतवासियो की सन्तान नही कह सकते तो ठीक उसी तरह संस्कृत के दो-चार भाषा शब्दो के अस्तित्व से यूरोप अथवा मध्य एशिया को आर्यों का मूलस्थान घोषित करना बुद्धिमानी नही है। कई शताब्दियों तक भारतवर्ष मे रहने वाले मुसलमान और अंग्रेजो की साहित्यिक एव सास्कृतिक विरासत भारतवर्ष से अधिक अरब और इंग्लैण्ड मे सुरक्षित है और यह अरब और इंग्लैण्ड उनका आदि देश होना प्रमाणित करता है। ठीक उसी प्रकार आर्यावर्त्त से आर्यों की, अन्य सब देशो से अधिक जो वैदिक विरासत है, वह उनके आर्यावर्त्त का आदि निवासी होने का स्पष्ट प्रमाण है।

भारतीय आर्य ही आर्य जाति के सर्वोत्तम प्रतिनिधि हैं, जिनके पास उनका वैदिक वाङ्मय के रूप मे प्राचीन सास्कृतिक एवं पैतृक विरासत सुरक्षित है। जो उनके अतीत गौरव की स्पष्ट साक्षी है, फिर भी पाश्चात्य इतिहासकार उन्हे योरोप, मध्य एशिया, ईरान आदि देशो से भारतवर्ष में आया हुआ बताते हैं। खस जाति का रूप-रग, आचार-विचार भी आर्यों से मिलता-जुलता है। भारतवासियो की हीन भावना तथा विदेशियो के लिए उनमे वशगत सजातीयता उत्पन्न करने के लिए उन्होने आर्यों की तरह खस जाति को भी आर्यों की आदि शाखा के रूप मे योरोप, एशिया और उत्तरी अफ्रीका से आया घोषित किया है।

सर अथल्स्टेन बेन्स यहाँ के खसो को वैदिक आर्यों से पूर्व आये हुए, आर्यों की आदि शाखा की सन्तान कहता है (कास्ट एण्ड ट्राइब्स, पृ० ४६-५०)। सर जार्ज ग्रियर्सन अपने भाषा सर्वेक्षण के पृष्ठ २३६ मे खसो को जो हिमालय के मुख्य निवासी हैं, आर्य कहता है (लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, पृष्ठ ६)। अटकिंसन यहाँ के खसों को मध्य एशिया से आने वाली एक शक्तिशाली आर्य-शाखा की सन्तान बताते हैं। वे वैदिक आर्यों से पूर्व या पश्चात् आने वाली उसी

आर्य-शाखा से सम्बन्धित हैं, यह सब अविदित है (**अटॉकिसन क्योटिवर्स,'** खण्ड १२, पृ० ४४०) । जो कुछ भी हो विदेशी इतिहासकारों के मतों से भी खसियो की भाषा, आकृति एव शारीरिक संगठन मैदानी क्षेत्र में रहने वाले किसी विशुद्ध आर्य से किसी प्रकार भिन्न नहीं है (**खस फेमिली लॉ**, पृ० ३२५) । वाटसन भी गढवाल-निवासियो की शक्ल-सूरत आर्यों की तरह गोरी और सुन्दर घोषित करते हैं । ओकले साहब भी खसो का शारीरिक गठन आर्यों की भाँति और उनकी भाषा को शुद्ध हिन्दी कहते हैं । '**कलकत्ता रिव्यू**' (१८५२) में यहाँ के वर्तमान निवासियों मे अधिकाश को खसिया और एक हजार वर्ष पूर्व उनके राजा को खसो का राजा कहा गया है । डॉ० जोशी के कथनानुसार यहाँ के खस बाहर से आये हुए आदि आर्यों की आदि शाखा की सतान है और उनका शारीरिक सगठन आर्यों की ही भाँति है ।

इन इतिहासकारो के पास उनके ऐतिहासिक विवरणो मे मेरी निम्नलिखित शंकाओ का कोई समाधान नही है

१ खसो के आदि देश के सम्बन्ध में इतिहासकारो ने मध्य एशिया, योरोप और अफ्रीका का नाम लिया है । तीनो देश जो एक-दूसरे से सब प्रकार भिन्न हैं, खसो के आदि देश नही हो सकते । अत उनकी घोषणाएँ अवास्तविक एव अमान्य हैं ।

२ इन देशों में खस जाति की उत्पत्ति-सम्बन्धी ऐसी कौन विशेष सुविधा है, जो उत्तरखड मे नहीं है ?

३ क्या तीनों देशो के खसों ने सगठित होकर, एक साथ आकर उत्तराखंड के आदि निवासी डोमो और दस्युओ पर आक्रमण किया ?

४ क्या वे इतने महासागरो, महाद्वीपो को लाँघ कर भारतवर्ष के उत्तर मे स्थित पर्वतीय प्रदेश मे पहुँचे और कही भी किसी देश मे नही रुके ? तथा रोके नही गये ?

५ क्या उन सब खस आक्रामको के धर्म, वर्ण, बोली, भाषा एव विचार-आचार समान थे ?

६ क्या उन देशो मे भी, भारतवर्ष की भाँति वर्ण-व्यवस्था प्रचलित थी ?

७ क्या उन देशो मे आज भी खस जाति रहती हैं अथवा उनका वहाँ कोई ऐतिहासिक प्रमाण शेष भी है ? यदि नही तो उनका उस देश में समूल विनाश होने का क्या कारण है ?

८ क्या हिमालय के इस पर्वत प्रदेश मे उस समय काले वर्ण के डोम और दस्युओ के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमुख शक्तिशाली जाति नहीं थी ?

९ यदि खसो का उक्त अभियान इतना शक्तिशाली था, जिसने इतने

महासागरों, महाद्वीपों और देशों-प्रान्तों को निर्विघ्नतापूर्वक पार कर रास्ते में कहीं कोई उल्लेखनीय आकर्षण न पा कर केवल उत्तराखंड के आकर्षण से खिच कर वहाँ के एक मात्र आदि निवासी डोमो और दस्युओं को पराजित कर अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित किया तो उन दिग्विजयी खसों की, उत्तराखंड के डोमों और दस्युओं के देश में इतनी दयनीय सामाजिक स्थिति क्यो हो गयी ? उस दिग्विजयी एव शक्तिशाली जाति का उत्तराखड के अल्पसख्यक एव पराजित जातियो के समाज में इतना अनादृत एव घृणित स्थान कैसे बन गया ?

खस कौन थे और कहाँ से आये ? इस सम्बन्ध मे इतिहासकारों के इस प्रकार भिन्न-भिन्न मत हैं। कोई खस को यक्ष का अपभ्रंश, कोई राजपूताने की बोली की समानता बतलाकर वहाँ की खोसा जाति की शाखा, कोई उन्हें काशगर प्रान्त के निवासी और कोई कत्यूरी राजाओ की संतान भी कहते हैं। किसी ने खास काश्मीर, किसी ने खाफिनी, खोम्रास, खोआसपेस आदि काबुल की नदियों के नाम से 'खस' शब्द की उत्पत्ति बतलायी है। कोई इनको मध्य एशिया से, वैदिक आर्यों से पूर्व और कोई बाद को आये हुई आर्य-शाखा की सन्तान कहता है। कोई काश्मीर से आसाम तक फैले हुये खसिया पर्वत को खस देश और वहाँ के निवासियो को खसिया कहते हैं। कोई 'केदारे खसमण्डले' कहकर केदारक्षेत्र को ही खसो का आदि देश कहता है।[1]

'महाभारत' से पूर्व वैदिक साहित्य मे खस जाति का उल्लेख नही मिलता, परन्तु 'महाभारत' में दो-तीन स्थानो पर उनका नाम आता है। 'हरिवंश' और 'वायु पुराण' मे राजा सगर का खसो से युद्ध करने का उल्लेख है। 'विष्णु पुराण' 'मार्कंडेय पुराण' और 'कल्कि पुराण' मे भी खस जाति का उल्लेख है, वराहमिहर की 'वाराहसंहिता' मे खसो का कई स्थानों में वर्णन है।

डा० एल० डी० जोशी जिन्होने कुमाऊँ के अधिकाश निवासियो को 'खस' कहा है, खस जाति के सम्बन्ध मे 'खस फेमिली लौ' नामक अपने शोध-ग्रन्थ में लिखते है —खसो की परिवार-पद्धति उस आदि युग की है जो पूर्व और पश्चिम के आदि आर्य समाज मे मिलती है। वह बाद को गंगा के मैदान से आये हुये ब्राह्मणवाद से प्रभावित हिन्दू-नीति शास्त्रो के धार्मिक विचारो से सर्वथा स्वतंत्र हैं।

१. बेन्स इथनोग्रेफी (कास्ट्स ऐंड ट्राइब्स, पृ० ४६ ५०)
लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, जि० ६,४, पृ० २७६
हिमालयन गजेटियर्स, १२। पृ० ४४० और २७६
होली हिमालय, पृ० ८७
खस फेमिली लौ भूमिका पृ० ७८, तथा पृ० ८,२४,२६३,१०

हिन्दू-नीति-शस्त्रों के धार्मिक आदर्शों से उसका पृथक् रहने का कारण यह है कि यहाँ के आदि निवासी उन आर्यों की, जो गंगा के मैदान (आर्यावर्त्त) में बस गये थे, प्रभावशाली सांस्कृतिक उथल-पुथल से बिल्कुल पृथक् पड गये थे। हमारे पास यहाँ के आदि निवासियो को बाहर से आये हुये आर्यों की आदि शाखा मानने के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं। हमें ऐसे भी प्रमाण प्राप्त हैं जो हमें हिन्दुओं के बहुत प्राचीन धर्मशास्त्रो में मिलते हैं।

जोशी जी के कथनानुसार जिस खस जाति के रीति-रिवाज, आर्य जाति के प्राचीन धर्मशास्त्रो द्वारा प्रतिपादित है उनके सम्बन्ध में उनकी यह घोषणा कि वे बाहर से आयी हुई आर्य जाति की आदि शाखा के वशज है, स्वयं विवादास्पद है।

गढ़वाल के अधिकाश निवासियो के आर्यावर्त्त के बहुसख्यक आर्यों से अलग स्वतत्र आचार-विचारों के कारण इन इतिहासकारो ने जहाँ उन्होने आर्यों की आदि शाखा प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है, वहाँ उन्हे वैदिक आर्यों से पूर्व अथवा बाद को आने वाली आर्य जाति की शाखा घोषित किया है। डा०जोशी के कथनानुसार यद्यपि खसो की कौटुम्बिक व्यवस्थाएँ हिन्दुओ के बहुत प्राचीन धर्म-शास्त्र के विधि-विधानो मे प्रतिप्रादित हैं तो भी उनकी 'सौतियाबांट', 'जेठुन्डा,' 'घरजमाई', 'टके का विवाह', 'टेक्वा' आदि विशिष्ट प्रथाओ के कारण ये आर्यावर्त्त के वर्तमान हिन्दुओ के आचार-विचारो से मेल नही खाते। अत उन्होने उनके लिए हिन्दुओ से पृथक् 'खस फेमिली लॉ' नामक एक स्वतत्र आचार-सहिता की रचना की है। उनके कथानानुसार खस जाति के निम्न लिखित लक्षण हैं

१ वे विधवा भावज से दाम्पत्य-सम्बन्ध स्थापित कर लेते है।

२ उनमें 'टके का विवाह' प्रचलित है।

३ वे विवाहो मे धार्मिक सस्कार अनिवार्य नही समझते।

४ उनके विवाह-सम्बन्ध पति-पत्नी की सहमति से टूट जाते हैं।

५ पुनर्विवाह को मान्यता प्राप्त है।

६ उनका यज्ञोपवीत सस्कार नही होता।

७ वे खेती करते है और स्वय खेती मे हल चलाते है।

पीछे यथास्थान देव और असुरो के मातृ-प्रधान युग में—'सौतियाबौट' को ऋग्वैदिक प्रथा को प्रमाणित किया जा चुका है। विधवा-भावज से दाम्पत्य सम्बन्ध की 'टेक्वा प्रथा' वैदिक नियोग की वेद प्रतिपादित परम्परा है (अथर्व० का १४ अ,२ मं० १८, मनु ६।५६।५८।५६)। 'टके का ब्याह' (ऋ० १०।२७। १२, मनु० ३।५४,६१,३।२६,३१) भी आर्य धर्मशास्त्रो द्वारा प्रतिपादित है। आर्य जाति के लिए ८ प्रकार के विवाहों का विधान है। पति की मृत्यु के उपरान्त

ही नही, बल्कि जीवन काल में ही पति की स्वीकृति से अन्य पुरुष द्वारा पुत्रोत्पन्न करना मनु, वशिष्ठ, गौतम, नारद और विष्णु अनुचित नहीं समझते। पुत्रहीन माता पिता को आर्य धर्मानुसार घर जमाई रखने का अधिकार है। बड़े भाई को अन्य भाइयों के भाग से विशिष्ट भाग (जेठुंडा) देना आर्य धर्म के अनुसार प्रतिपादित है। आपद्धर्म में किसी भी वर्ण का व्यवसाय ग्रहण करना, धर्मसंगत है। खेती वर्जित व्यवसाय नही है। स्वय जनक द्वारा हल चलाने की, कथा को, अधर्माचरण नही कहा गया है। संस्कारच्युत व्यक्तियो के समुदाय को, द्विज सामतो द्वारा यज्ञोपवीत सस्कार वर्जित रहा है। इस प्रकार डा० जोशी ने जिन आचार-विचारो के कारण खसियो को अहिन्दू एव अवैदिकी आर्य, प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है वे सब आचार-विचार जब प्राचीन आर्य धर्मशास्त्रो द्वारा प्रतिपादित हैं, तो उन्हें आर्य-जाति से पृथक् घोषित करना युक्तिसगत नही है।

ब्रह्मावर्त्त से बाहर, आर्यावर्त्त मे बस जाने के बाद, आर्यावर्त्त के आर्यों के सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन में जो-जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए, उससे ब्रह्मावर्त्त का यह आदि आर्य-समुदाय प्राय अछूता ही रहा है। उनके रीति-रस्म, आचार-विचार जहाँ कट्टर वैदिक रीति-रस्मो तथा-स्मृति-ग्रन्थो द्वारा प्रतिपादित आस्थाओ पर आधारित थे, वहाँ वे आर्यावर्त्त के नवीन ब्रह्मणवाद की सास्कृतिक उथल-पुथल से प्राय अप्रभावित भी रहे है। इसका कारण परम्परागत धार्मिक एव सामाजिक आस्थाओ के प्रति ब्रह्मावर्त्त के निवासियो का आर्यावर्त्त के निवासियो से अधिक विश्वास एव उनकी विषम पर्वतीय परिस्थितियो से उत्पन्न पारस्परिक जन सम्पर्क का अभाव था।

आर्यावर्त्त मे बसने के बाद वहाँ के नवीन हिन्दू धर्मशास्त्रो से प्रभावित आर्य द्विजो के अनेक प्रतिष्ठित परिवार भी समय-समय पर धार्मिक एव राजनीतिक कारणो से गत कई शताब्दियो से गढवाल मे आकर बसते रहे है। ऐसी अनेक जातियो तथा उनके आगमन की तिथियाँ निश्चित हैं, परन्तु इसमे भी कोई सन्देह नही कि गढवाल के अधिकाश निवासी, आर्यों की उसी आदि शाखा, देव, असुर और नागो की सन्तान हैं, जो जलप्लावन के अवतरण पर अपनी जन्मभूमि ब्रह्मावर्त्त को छोड कर आर्यावर्त्त मे नही गये।

उनके धार्मिक और सांस्कृतिक आचार-विचार अधिकाश उनकी प्राचीन आस्थाओ पर ही आधारित रहे। आर्यावर्त्त से आये हुए इन नये आगन्तुकों के नवीन विचारो का यहाँ के आदि निवासियो के आचार-विचारो पर थोडा-बहुत प्रभाव सम्भव है। परन्तु बहुसख्यक होने के कारण यहाँ की अधिकाश जनता उससे प्राय अप्रभावित ही रही, वरन् उसके विपरीत उन्होने ही नये आगन्तुको को अपने पुराने साँचे में ढाल दिया, यहाँ के इन आदि निवासियो को इन स्वतंत्र

आचार-विचारो के कारण नवीन इतिहासकारों ने हिन्दुओ से पृथक् एक अहिन्दू एवं खस जाति घोषित कर दिया।

किसी व्यक्ति के नाक-मुख की आकृति से उसके मूल वंश का अनुमान असंगत है। अमीबा (मत्स्य) की मुखाकृति एव उसकी शारीरिक गठन से वर्तमान मानव की वास्तविक आकृति का अनुमान उपहासास्पद है। सीमित काल के लिए यदि इसका औचित्य कुछ स्वीकार योग्य भी हो, परन्तु जो जाति लाखो बरसो की पुरानी हो उसके नाक-मुख की इस प्रकार की नाप-जोख से किसी निश्चित परिणाम की आशा तर्क-सगत नही। लाखो वरसो के परिवर्तन-क्रम से उसकी मूल आकृति मे आकाश-पाताल का अन्तर पडना स्वाभाविक है। इसीलिए नृवश-शास्त्रियो द्वारा भारत मे नाक और मस्तक के पर्यवेक्षण की प्रणाली से सतोषजनक परिणाम नही निकले है, फिर भी किसी जाति के मूल वश एव मूल स्थान की जाँच करने के लिए उसकी भाषा, रीति-रस्म एव शारीरिक गठन का परिचय प्राप्त करना एव उसका तुलनात्मक अध्ययन करना भी आवश्यक है। खस जाति यदि किसी अन्य देश से यहाँ आयी है तो उसके आचार-विचार, शक्ल-सूरत यहाँ के निवासियो से पृथक् होनी चाहिए, परन्तु डा० जोशी अपने शोधग्रन्थ (पृ० १८) मे लिखते हैं कि खसियो का शारीरिक गठन स्पष्टत आर्यों के ही समान हैं, उनमें और अन्य पर्वत निवासियो एव उत्तर भारत के रहने वाले ऊँची जाति के लोगो मे कोई अन्तर नही है। अटकिसन, ओकले, मौटेनियर, वाटसन आदि भी खसियो की शक्ल-सूरत और आर्यों की शक्ल-सूरत में कोई अन्तर नही मानते। मध्य एशिया तथा अन्य देशो मे—जहाँ से इतिहासकार उनके इस देश मे आने की बात करते हैं, खसियो का नाम, निशान भाषा एव सास्कृतिक बिरासत अप्रमाणित है खसियो के आचार-विचार, रीति-रस्म भी आर्य धर्मशास्त्रो द्वारा प्रतिपादित है। ऐसी दशा मे खसियों को हिन्दुओ से पृथक् अवैदिक एव अन्य देशो से आया हुआ घोषित करना युक्तियुक्त नही है।

हिन्दू धर्म भिन्न-भिन्न आचार-विचार वाली अनेक जाति एवं उपजातियो का संमिश्रण है। जिस प्रकार हिन्दू धर्मान्तर्गत अन्य-जातियो का आदि स्रोत, उनकी अनेकता के बावजूद आर्य वश है। उसी प्रकार खस जाति को भी उसकी विशेषताओ के बावजूद आर्य जाति से ही उत्पन्न होने का गौरव प्राप्त है। भिन्न-भिन्न सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक कारणो से गाँव, पट्टी एव स्थानीय विश्वासो' के आधार पर गढवाल की अनेक जातियो का नामकरण हुआ है, उसी प्रकार खसों की उत्पत्ति एव उनका नामकरण निश्चित है। खस के नाम से देश-विदेश में कुछ मिलते-जुलते नामो को देखकर उनका उस विदेशी स्रोत से निसृत होने का अनुमान तर्कसगत नहीं है। हिन्दू धर्मावलम्बी अनेक

जाति एवं सम्प्रदाय की पारस्परिक विभिन्न सांस्कृतिक विषमताओ के कारण उन्हें अहिन्दू, अनार्य एव अवैदिक करार देना हिन्दू धर्म की विशालता के प्रति अज्ञान प्रकट करना है।

हिन्दू किसे कहते है। इस सम्बन्ध मे डा० भगवानदास लिखते है —एक अखबार में यह प्रश्न निकला था कि हिन्दू किसे कहते हैं ? हिन्दुत्व का विशेष व्यावर्त्तक लक्षण क्या है ? किस आचार-विचार वाले मनुष्य को हिन्दू कहना चाहिए और इस प्रश्न को बहुत से जाने-माने हिन्दुओ के पास भेजकर उत्तर मगवाये और उनको छापा। कोई एक भी अव्यभिचारी विशेष व्यावर्तक व्यापक आचार या विचार नही स्थिर हुआ। जो अपने को 'हिन्दू' कहे वही 'हिन्दू'— इतना ही सिद्ध हुआ।

गढ़वाल के वर्तमान निवासियो के अधिकाश परिवार आर्यों की आदि शाखा के वशज है, इतिहासकारो के इस कथन से मै सहमत हूँ। परन्तु आर्यो की उस मूल शाखा का नाम खस अथवा खसिया था, इतिहासकारो की यह घोषणा अवास्तविक एव निराधार है। जो इतिहासकार उन्हें आर्यों की मूल शाखा एव वेदो से पूर्व विदेश से आये हुए मानते हैं और कहते हैं कि वे खसिये थे, उन्हें खसियो के मूल स्थान मध्य एशिया और आदि आर्यों के प्राचीन वाड्मय में 'खसिया' एव खस ब्राह्मण तथा खस राजपूत शब्द भी सिद्ध करना चाहिए। वैदिक आर्यों से पूर्व आर्यावर्त्त मे आने वाली समृद्धिशाली खस जाति का वैदिक वाड्मय में कोई नाम-निशान तक न हो। यह आश्चर्यजनक है। स्वय डा० जोशी अपनी 'खस कुटुम्ब-पद्धति' मे 'महाभारत' और पुराणो से पूर्व, खस जाति का अस्तित्व प्रमाणित नही कर सके है और जब उनके कथनानुसार यह जाति ऐसी शक्ति-सम्पन्न हो, जिसने उत्तराखंड के आदि निवासियो को पराजित कर उन पर अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित किया हो, उसका 'महाभारत' से पूर्व वैदिक वाड्मय में कही नाम तक न आया हो, यह आश्चर्यजनक नही तो क्या है ?

कुछ इतिहासकारो ने गढवाल को खस-देश, उसकी एक पट्टी को खस-पट्टी और उस विशेष प्रदेश मे बसे हुए लोगो को खस-प्रजा कहा है। जो इतिहासकार खसो को यूरोप, मध्य एशिया और उत्तरी अफ्रिका से यहाँ आया हुआ कहते है उन्होने यह प्रमाणित करने का कष्ट नही किया कि यदि खस विदेशो से यहाँ आये हैं तो उनके मूल देशो मे किस भू-भाग और किस जाति एवं वहाँ के किस विशिष्ट प्रजावर्ग का नाम खस है। वे जब इतने समुद्रो को पार कर, इतने देश-विदेशो को लाँघ कर जो अन्य किसी भू-भाग में नही ठहरे और उन्होंने सीधे सुदूर उत्तराखंड के इस बीहड पर्वत-प्रदेश मे ही आकार दम लिया, वे केवल इसी प्रदेश मे सिमिट कर रह गये और तब उन्होंने इस देश को ही खस-देश तथा

इसके निवासियों को खस-प्रजा एव खस-जाति के एक विशिष्ट नाम से सम्बोधित किया है, इसका क्या कारण है ?

खस जाति आर्य परिवार से पृथक् कोई स्वतत्र शक्तिशाली एवं बहुसंख्यक जाति नहीं प्रमाणित होती है। वैदिक काल में हजारो वर्ष पश्चात् '**महाभारत**' मे जो दो-एक स्थानो पर खस जाति का नाम आया है, वह कट्टर ब्राह्मणवाद से प्रभावित आर्य सामन्तो के अधीन एक विशेष पर्वत भू-भाग में जिसको 'राठ' कहते हैं, केन्द्रित थी। वह मनु के कथनानुसार ब्राह्मणवाद से प्रभावित आर्य सामन्तो द्वारा बहिष्कृत, सस्कारच्युत ब्राह्मण और क्षत्रियो का एक समुदाय था राठ के इस विशेष स्थान मे उनका केन्द्रीकरण होने के कारण कालान्तर मे उस जनपद का नाम खसमडल और जनसमुदाय का नाम 'खस' हो गया। आर्य द्विजो द्वारा बहिष्कृत व्यक्तियो का समुदाय होने के कारण उनकी जाति उल्लेखनीय जाति के रूप मे, इस प्रदेश में अब तक उनका अलग अस्तित्व सुरक्षित है। डा० जोशी भी इसे स्वीकार करते हैं। कहते है कि खसिये उत्तर के उस पर्वतीय प्रदेश मे निवास करते थे, जो तिब्बत से मिला हुआ है (पृ० ५)।

उत्तराखड के किसी भू-भाग अथवा किसी पट्टी विशेष का नाम खसमडल या खसदेश हो सकता है परन्तु इस समस्त पर्वत प्रदेश का नाम कभी खसदेश अथवा खसमडल रहा है, यह अविदित है। '**महाभारत**' (सभा० अध्याय ४८) के अनुसार मेरु और मन्दर पर्वत की मध्यवर्ती उपत्यका मे कीचक-वेणु (रिंगाल) के वनो मे खसजाति का निवास था। इसी क्षेत्रविशेष का नाम आज भी राठ है। यहाँ आज भी पूर्ववत् रिंगाल के वन हैं। पार्जीटर और टौलमी के कथनानुसार भी खस उत्तराखड के सीमान्त के निवासी है।

महाभारत काल तक शक्तिशाली आर्य द्विजो द्वारा समय-समय पर वहिष्कृत, संस्कारच्युत द्विज-समुदाय का निवास स्थान जो तत्कालीन राजनियमों एव स्मृति-ग्रन्थो के अनुसार सम्माननीय द्विज-जातियो से दूर राठ के एक क्षेत्रविशेष मे केन्द्रित था, कालान्तर मे खसो के एक स्वतन्त्र नाम से खसमडल अथवा खसदेश कहलाने लगा था। वे शूद्र नही थे, वरन् सामाजिक कुकृत्यों के कारण—अपने सजातीय द्विजो से, वहिष्कृत किये गये थे। अत समाज में उनका स्थान शूद्रो से ऊँचा था। वे द्विज सामन्तो एव प्रतिष्ठित द्विज-परिवारो के अधीन, उनकी सेवा-सुश्रूषा, खेती-पाती कर जीवन-निर्वाह करते थे। वे तत्कालीन राजनियमो के अनुसार, जाति से वहिष्कृत व्यक्तियो के लिए निश्चित, सम्माननीय द्विजो के बीच अलग से पहचाने जाने के लिए, वल्कल (भंगेला) वस्त्र भी धारण करते थे। सामन्तो द्वारा केवल पारिवारिक दासो के रूप में ही नही, वरन् राज्य की रक्षा के लिए सैनिको के रूप मे भी उनका प्रयोग प्रचलित था। महाभारत

कालीन क्षेत्रीय सामन्तो ने इसी भाव से तगण या टगणी से खस-सेवको द्वारा पांडवो के राजसूय यज्ञ में कई द्रोण स्वर्ण एव मधु आदि भेंट-स्वरूप भेजा था। आज से कुछ वर्ष पूर्व खस-सेवको द्वारा यहाँ के ब्राह्मण-क्षत्रियों के मित्रों सगे-सम्बन्धियो के घरो मे—दूर-दूर तक अन्न के द्रोण एव कंडी ले जाने की प्रथा उसी प्रकार प्रचलित थी। पाडवो के उत्सवो में, द्रोण-कडी ले आने वाले खस-सेवको के आधार पर, उनके सामन्तो को भी, 'खस' घोषित कर देना युक्तिसगत नहीं।

टगणी बदरीनाथ के निकट पाडुकेश्वर मे है। इसे पार्जिटर आदि इतिहासकार भी स्वीकार करते हैं यह पाँचो पाडवों का जन्मस्थान तथा पाडु, कुन्ती एव माद्री का पर्याप्त काल तक निवास स्थान होने के कारण वहाँ के स्थानीय द्विज-सामन्तो का पाडवो के साथ स्नेह-सम्बन्ध स्वाभाविक था। अत उन्होने अपने खस-सेवको एवं खस-सैनिको द्वारा अपने मित्र पाडवो के उत्सवो-यज्ञो मे कई द्रोण भेंट-सामग्री भेज कर जिस परम्परा का परिचय दिया है, उस परम्परा के अनुसार गढवाल मे अपने सगे-सम्बन्धियो के उत्सवों मे—खस सेवको द्वारा द्रोण-कडी के रूप मे अपनी भेंट-सामग्री भेजने की प्रथा, आज से कुछ वर्ष पूर्व यहाँ सर्वत्र प्रचलित थी। बाद को महाभारत युद्ध मे यहाँ के क्षेत्रीय सामन्तो द्वारा भेजे हुए खस-सैनिको का दुर्योधन की ओर से सात्यकी के साथ तलवार, भाले और पत्थरो से युद्ध करने का भी वर्णन है, क्योकि महाभारत काल में उत्तर कुरु प्रदेश, जिसमें उत्तराखड के समस्त जिले सम्मिलित थे, कौरवो के राज्यान्तर्गत था।

वैदिक आचार-विचारो के साथ ब्रह्मावर्त्त के आदि आर्य-निवासियो के सामाजिक, धार्मिक एव राजनीतिक आस्थाओ—स्थापनाओ पर मनु द्वारा प्रचारित राजनियमो का सबसे अधिक प्रभाव रहा है। वेदो के कई हजार वर्ष पश्चात् महाभारत काल तक वैदिक आर्यों की वर्ण-व्यवस्था एव कर्मकाड मनु-प्रतिपादित कट्टरताओ के कारण समाज से बहिष्कृत अनेक सस्कारच्युत आर्य-द्विजो का खस-सैनिको के रूप में एक स्वतत्र समुदाय बन गया था। मनु आर्य-धर्म का सस्थापक और इस देश के (जो प्रलयबाढ के उपरान्त ब्रह्मावर्त्त कहलाने लगा था) निवासी एव शासक थे। उनकी स्थापनाओ, विधि-विधानो का ब्रह्मावर्त्त के निवासियो की सस्कृति पर स्थायी प्रभाव पडना स्वाभाविक है। इस देश की सामाजिक, धार्मिक एव राजनैतिक गतिविधियो पर, शासक एव धर्म-सस्थापक होने के नाते उनका केवल धार्मिक ही नही, कठोर राजनैतिक नियत्रण भी स्थापित था। मनु का आदेश तत्कालीन सामन्तो, पुरोहितो एव प्रजावर्ग के लिए ईश्वर का आदेश था। वे दृढतापूर्वक उसका पालन करते थे। 'मनुस्मृति' (१०।४३,४४) मे खस जाति की उत्पत्ति की घोषणा उसकी राजकीय घोषणा

है, जिसकी मान्यता निर्विवाद थी। वहाँ कहा गया है कि पौंड्रक, औंड्र, द्रविड, कम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खस पहले क्षत्रिय और वैश्य थे, परन्तु उपनयनादि कर्मों के लोप से और यजन-अध्यापन के निमित्त उचित आचार्य न मिलने से इस लोक में धीरे-धीरे शूद्रत्व को प्राप्त हुए। मनु ने व्रात्य क्षत्रियों से सवर्ण क्षत्रियो द्वारा खसो की उत्पत्ति का स्पष्ट उल्लेख किया है (मनुस्मृति १०।२२)।

इतना ही नही, पुराणो के कथनानुसार जब शक, यवन, पारद, काम्बोज, पह्लव आदि पंचगणो ने राजा बाहु पर आक्रमण किया तो बाहु के पुत्र राजा सगर द्वारा पराजित वे सब वशिष्ठ की शरण मे गये। वशिष्ठ ने उन्हें धर्मभ्रष्ट, आचारभ्रष्ट, आर्य-सस्कृतिविहीन कहके निर्वासित कर दिया (ब्रह्मपुराण, इन्द्र विजय, पृष्ठ ४४)।

इस प्रकार अपने ब्राह्मण पुरोहितो की धार्मिक कट्टरता से प्रभावित द्विज सामन्तो द्वारा धार्मिक, सामाजिक एव आर्थिक कारणों से समय-समय पर अनेक आर्य-द्विज जरा-जरा-सी बात पर समाज से बहिष्कृत होते रहे हैं। 'मनुस्मृति' का २० वाँ अध्याय आर्यधर्म संस्थापक मनु द्वारा प्रचलित ऐसे धर्मभ्रष्ट आर्य द्विजो के बहिष्कार एव उसके प्रायश्चितस्वरूप निश्चित दड-विधानो से ओत प्रोत है। अन्य स्मृति-ग्रन्थो मे भी इस प्रकार आर्य-द्विजो के सामाजिक बहिष्कार के लिए बात-बात पर अनेक कट्टर विधि-विधानो का उल्लेख है।

सामाजिक बहिष्कार की यह परम्परा महाभारत काल और पौराणिक काल मे ही नहीं, वैदिक काल से प्रचलित थी। आर्य-समुदाय कर्मकाण्डी, अकर्मकाण्डी, याज्ञिक, अयाज्ञिक, धार्मिक, अधार्मिको मे विभाजित हो गया था और उनका एक अलग क्षेत्र और अलग समुदाय बन गया था, जो कालान्तर में एक अलग जाति ही नही बन गयी, वरन् जिनमे पारस्परिक सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनैतिक सघर्षों का भी श्रीगणेश हो गया था। आर्य अपने देश को अभिमान-पूर्वक 'यज्ञदेश' कहते थे। इसीलिए वे अयाज्ञिको को केवल अपने प्रभाव क्षेत्र से बहिष्कृत ही नही करते थे, वरन् उनसे घोर घृणा भी करते थे। उन्हे दास, दस्यव, अव्रता, अयाज्ञिक कह कर पुकारते थे (ऋ० ६।६०।६, ऋ० १।५१।८)। आर्य समाज से बहिष्कृत व्यक्ति को ऋग्वैदिक युग में भी दास बन कर शूद्रो की भाँति आर्य-द्विजो की सेवा-वृत्ति से जीवन-निर्वाह करना अनिवार्य था (ऋ० २।११।६)। 'ऐतरेय ब्राह्मण' के अनुसार ऋग्वेद के प्रथम मन्त्रद्रष्टा ऋषि विश्वामित्र ने अपने पचास अवज्ञाकारी पुत्रो को आर्य-द्विजो से बहिष्कृत करके दस्यु (दास) वृत्ति से जीवन-निर्वाह करने के लिए विवश कर दिया था। बहिष्कार की इस वैदिक परम्परानुसार महाभारत काल में भी अनेक आर्य परिवार, जो

निश्चित कर्मकाण्डो के अनुसार काम नही करते थे, बहिष्कृत किये जाते थे।

यह देश आर्यों का आदि देश था। अत. यहाँ उक्त वैदिक याज्ञिको द्वारा अयाज्ञिकों के विरुद्ध निश्चित प्रतिबन्धो का दृढ़तापूर्वक पालन होता रहा है, जिसका प्रभाव आज भी २० वी शताब्दी तक इस प्रदेश में—थोड़ा-बहुत सुरक्षित है।

वाल्टन 'गढ़वाल गजेटियर्स' में लिखता है कि अट्किंसन साहब के कथनानुसार खसिये यहाँ की एक परम शक्तिशाली जाति थी। वे स्वय भी अपने को उच्चवर्ण के राजपूत कहते हैं, जो विशेष स्थान एवं जल-वायु मे निवास करने से अपने धार्मिक आचार-विचारो का दृढ़तापूर्वक पालन न कर सकने के कारण पदच्युत किये गये थे। हिन्दू धर्मशास्त्रो से भी प्रमाणित है कि शक्तिशाली आर्य-द्विजो द्वारा बहिष्कृत व्यक्तियों के समुदाय को एक विशेष स्थान पर निवास करने के लिए विवश किया जाता था और उन्हे सदैव प्रायश्चित्त स्वरूप ऐसे चिह्न एव वस्त्र धारण करने पड़ते थे, जिनसे वे समाज मे स्पष्ट पहचाने जा सकें कि ये किसी असामाजिक कुकृत्य के कारण समाज द्वारा बहिष्कृत व्यक्ति हैं।

वाल्टन के कथन से भी खसो का क्षेत्र-विशेष एव विशेष जल-वायु में रहने तथा धार्मिक सस्कार न कर सकने के कारण जातिच्युत होने की पुष्टि होती है, परन्तु परम सम्मानीय एव समृद्धिशाली किसी जाति द्वारा धार्मिक सस्कार न करने के कारण स्वेच्छानुसार अपने उच्च स्थान से च्युत होने के सम्बन्ध मे उनका कथन युक्तिसगत नही प्रतीत होता। वास्तव में खस, समय-समय पर तत्कालीन कट्टर द्विज-सामन्तो के पुरोहितो द्वारा द्विज-समाज से बहिष्कृत व्यक्ति एव सस्कारच्युत परिवार का नाम था, जो कि कालान्तर मे द्विज-सामन्तो द्वारा निश्चित राठ नाम के एक विशेष पर्वतीय क्षेत्र मे (मार्कण्डेय पुराण) एक द्विज-सेवक समुदाय के रूप मे परिणत हो गया। उनका यह कथन भी कि वे स्वय उच्च वर्ण के थे, असत्य कथन नही क्योकि जातिच्युत होने से पूर्व वे आर्य द्विजो के उच्च परिवारो के ही तो सम्माननीय सदस्य थे।

रतूड़ी जी भी 'गढ़वाल का इतिहास' में इन्ही स्मृति-ग्रन्थो के उद्धरण दे कर खस जाति को ब्राह्मण-क्षत्रियो की एक बहिष्कृत जाति घोषित करते हैं। उनका कथन है कि अपने अमर्यादित आचरणो के कारण समाज द्वारा बहिष्कृत ब्राह्मण और क्षत्रिय कालान्तर मे खस ब्राह्मण और खस राजपूत बन गये हैं। गढवाल नरेश के विद्वान् वजीर होने के नाते इस क्षेत्र की जातीय परम्पराओ से वे पूर्ण परिचित थे। अत अपने व्यक्तिगत अनुभवो एव अध्ययन के आधार पर उनकी यह घोषणा अन्य इतिहासकारो से अधिक अधिकृत एव मान्य है। १९०१ की जनगणना (खड १६, पृ० २१६) में भी उन्हे ब्राह्मण-क्षत्रियो से बहिष्कृत

एक जाति कहा गया है।

खसों की वर्तमान सामाजिक एव आर्थिक स्थिति से मनु एवं रतूड़ी जी के कथन की वास्तविकता भी प्रमाणित होती हैं। खस जाति का सामाजिक स्तर इस प्रगतिशील युग में भी द्विज जातियो से निकृष्ट है। द्विजों का खस परिवारों के साथ भोज-भात, विवाह-संस्कार वर्जित हैं। रतूड़ी जी एवं जोशी जी के कथनानुसार वे जनेऊ नही पहनते। उनका गोत्र नही होता। वे चौके से भात निस्संकोच बाहर ले जा सकते हैं। यद्यपि आज प्राचीन रूढियो की, सामाजिक भेद-भावों की दृढ़ दीवारे टूटती जा रही हैं, तो भी ऊँची जातियो से विवाह सम्बन्ध होते हुए भी समाज मे उनकी स्थिति स्पष्ट है। खस जाति की यह स्थिति आर्य सामन्तो द्वारा उनके सामाजिक बहिष्कार की स्पष्ट द्योतक है। इसीलिए उनका सामाजिक स्थान द्विज जातियो (अर्थात् ब्राह्मण-राजपूतों) से कम परन्तु शूद्रो से ऊपर रहा है। शूद्रों का लाया हुआ जल द्विजों को अग्राह्य है, परन्तु ब्राह्मण-क्षत्रियो की सम्मानित जाति से बहिष्कृत होने के कारण, उनके समस्त गृह कार्यों मे, पारिवारिक सेवको के रूप में खस सेवको का लाया हुआ जल एव रोटियाँ द्विज जातियाँ निस्संकोच ग्रहण करती रही है। वे द्विज जातियो द्वारा टहलुए एवं पारिवारिक सेवको के रूप मे प्रयुक्त होते रहे हैं तो भी आवश्यक प्रगति करने पर एव सुसंस्कृत होने पर उन्हें अपने ही समान सामाजिक, धार्मिक अधिकार देने के लिए द्विज जातियो के द्वार सदैव उन्मुक्त रहे हैं, और इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वे किसी समय उनके ही सजातीय थे जो संस्कार-च्युत एव अमर्यादित होने के कारण द्विज साथियो द्वारा बहिष्कृत किये गये थे। कर्ण पर्व में कर्ण ने भी खसो को असंस्कृत एव आचारहीन बतलाया है। 'भागवत पुराण' (२,४,१८) मे भी उन्हे, द्विजो से बहिष्कृत एक सम्प्रदाय बतला कर उन्हे कृष्ण धर्म मे दीक्षित करने का वर्णन है। 'वायु पुराण' मे लिखा है कि यदि वशिष्ट ऋषि रक्षा न करते तो खस, राजा सगर द्वारा नष्ट हो गये होते।

उत्तराखड के समस्त प्रतिष्ठित द्विज-परिवारो के साथ प्रत्येक गाँम में खस-समुदाय का उनके पारिवारिक सेवको के रूप मे अस्तित्व प्रमाणित है। जब तक उनके आर्य-सामन्त किसी स्थान विशेष में ही निवास करते रहे, उनके खस-सेवक भी उसी क्षेत्र के पास खसमडल तक ही केन्द्रित रहे परन्तु अपने द्विज-सामन्तो के विकेन्द्रीकरण पर उनके साथ उनके पारिवारिक सेवको के रूप में उनका भी विकेन्द्रीकरण होता गया। वे उनके साथ सर्वत्र सब दिशाओ में फैल गये परन्तु जहाँ कही भी वे गये उनके द्विज-सामन्तो ने उन्हें यथासाध्य सामाजिक एव आर्थिक दृष्टि से, शक्तिशाली नही होने दिया। द्विज जातियाँ सदैव उनके प्रगति-पथ को चारो ओर से बन्द करके, उन्हें कठोर पराधीनता-पाश में जकडने का प्रयास

करती रही। खस-सेवकों का अपनी सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक स्वाधीनता का प्रत्येक प्रयास उनके द्विज-सामन्तों के लिए सदैव असह्य रहा है। फलत समाज में खस जाति का स्थान उत्तरोत्तर निकृष्ट शूद्रवत् होता चला गया।

सन् १८६५ ई० में, जब अंग्रेजो द्वारा गढ़वाल की प्रथम जनगणना की गयी, उस समय जहाँ खस-ब्राह्मण, ब्राह्मण-वर्ग मे सम्मिलित किये गये, वहाँ खस राजपूतो का शुमार शूद्रो में किया गया। वस्तुत उस युग मे भी खस जाति आर्थिक स्थिति की दृष्टि से शूद्रवत् होती हुई भी, शूद्र नही समझी जाती थी। उसका सामाजिक स्थान द्विजो से नीचे और शूद्र जाति से ऊपर था। मनु के कथनानुसार वे व्रात्य क्षत्रिय थे, परन्तु गढवाल मे उनका स्थान वैश्यवत् था। आर्य-द्विजो के यज्ञोपवीत सस्कार होते थे। यज्ञोपवीत सस्कार न होने के कारण खसियो का स्थान, ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यो से निम्न, परन्तु शूद्रो से ऊँचा था। मनु ने स्पष्टत यज्ञोपवीत विहीन ब्राह्मणो और क्षत्रियो को व्रात्य कहा है (मनु १०।२०)।

गढवाल मे तृतीय वर्ण वैश्य जाति का अभाव रहा है। अत वैश्य जाति की गणना मे—खसो को गणना का प्रश्न ही नही था। इस प्रदेश मे द्विजो के केवल दो ही वर्ण ब्राह्मण और क्षत्रिय थे। तीसरे वर्ण के स्थान पर शूद्र थे। अत जन-गणना मे—इसी तीसरे वर्ण के साथ अनुभवहीन लिपिको द्वारा खसियो की गणना शूद्रो से को गयी। शूद्रो के साथ द्विज-जातियो का जहाँ रोटी-पानी वर्जित है, वहाँ खस जाति के साथ द्विजो की रोटी-पानी पर, कभी कोई सामाजिक प्रतिबन्ध नही रहा है। अत शूद्रो में खसजाति की गणना केवल खसो के आत्म-सम्मान की दृष्टि से ही नही, वरन् द्विज जातियो के साथ घनिष्ठ सामाजिक सम्पर्क की दृष्टि से भी न्यायोचित नही थी। इसलिए सामाजिक न्याय के आधार पर सन् १८८५ की दूसरी जनगणना मे खसिये पुन क्षत्रियो के साथ सम्मिलित कर लिये गये।

जो कुछ भी हो, तत्कालीन अधिकारियो द्वारा कभी क्षत्रियो मे और कभी शूद्रो मे खसियो की गणना होने का यह अर्थ भी स्पष्ट है कि उनकी उत्तरोत्तर दयनीय आर्थिक स्थिति होने के कारण उनका सामाजिक स्थान विवादास्पद हो गया था। अटकिन्सन के कथनानुसार भी 'खस' निम्न वर्ग का सूचक था और स्वय खसिये भी अपने को 'खसिया' कहलाना पसन्द नही करते थे।

कुछ इतिहासकार उत्तराखंड में खसियो का प्रभावशाली राजनीतिक अस्तित्व भी प्रमाणित करते हैं। उनका कथन है कि खस एक बडी शक्तिशाली जाति थी, जिसने मध्य एशिया से आकर यहाँ के आदि निवासी डोमों को पराजित कर अपना राज्य स्थापित किया था।

"खस जाति ने एशिया, यूरोप और उत्तरी अफ्रीका में विशाल साम्राज्यो की

स्थापना की थी। उनकी गति-विधियों ने प्रशान्त महासागर से लेकर अन्धमहासागर तक बसी जातियों में खलबली मचा दी थी।" (उत्तराखंड का इतिहास, पृ० १०५)। इतिहासकारों का यह कथन खस लोक-परम्परा से सर्वथा प्रतिकूल होने के कारण बुद्धिगम्य नहीं है। यहाँ के ब्राह्मण और राजपूत जहाँ उत्तराखंड के बाहर के प्रतिष्ठित ब्राह्मण और राजपूत परिवारों से अपना सम्बन्ध प्रकट करने में अपना गौरव समझते हैं, वहाँ खसियों ने कभी यह प्रकट नहीं किया कि वे कहीं बाहर से यहाँ आये हैं (खस कुटुम्ब-पद्धति, पृ० ८)। डोम अथवा दस्यु ही नागों और खसियों से पूर्व यहाँ के आदि निवासी थे। यह कथन सर्वथा उपहासास्पद है। डोमों का वर्ण प्राय काला है, नदियों के निकटवर्ती उपत्यकाओं में अल्पसंख्यक द्विज-सेवकों के रूप में उनका निवास सम्भव है परन्तु हिमांचल के पर्वत प्रदेश में—सर्वत्र बहु संख्यक काले रग के लोगों के निवास की कल्पना तर्कसगत नहीं है। खस जाति की सदियों तक अत्यन्त अनादृत और शूद्रवत् दयनीय सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक एव आर्थिक स्थिति स्वय उनके अल्पसंख्यक, अशक्त एवं पद-दलित होने का प्रमाण है।

इतिहासकारों ने कहीं-कहीं खस-राजाओं का भी उल्लेख किया है, परन्तु खस स्वय राजा थे, यह अविदित है। श्री बद्रीदत्त 'कुमाऊँ का इतिहास' (पृ० १८४) में लिखते हैं कि खस जाति यहाँ पर 'महाभारत' के पूर्व से है क्योंकि 'महाभारत' में कहा है कि वे दुर्योधन की तरफ थे, पर खस जाति में किसी भी चक्रवर्ती सम्राट् होने के प्रमाण नहीं मिले हैं। वे गढ़ों और यहाँ के किलों में रहने वाले माडलिक खस राजा थे, यह बात भी अप्रामाणिक है, क्योंकि गढ़ों और किलों में रहने वाले खस राजाओं की सामाजिक एव आर्थिक स्थिति इतनी अनादृत नहीं हो सकती। 'महाभारत' (वन पर्व १४०,२७,२६) से विदित होता है कि तगण और खस स्वय राजा नहीं थे, वरन् वे कनखल से आगे बदरी-केदार मार्ग में राजा सुबाहु के राज्य के निवासी थे। कत्यूरी राजाओं के अभिलेखों में भी खसों का उल्लेख हुआ है, परन्तु वहाँ भी वे राज्य-कर्मचारियों के रूप में प्रस्तुत किये हैं, राजा के रूप में नहीं। पाडवों के यज्ञों में भी 'द्रोण-कडी' ले जाने वाले तगण भी राजा नहीं थे, वरन् स्थानीय सामन्तों के खस-सेवक थे। गत कुछ वर्षों पूर्व तक गढ़वाल में द्रोण-कंडी ले जाने के लिए प्राय खस सेवकों का ही प्रयोग जारी रहा है।

डा० डबराल (उत्तराखंड का इतिहास, पृ० ११५ में) लिखते हैं "काँगडा, कुल्लू, सुराज, मडी, सुकेत, चम्बा हिमाचल प्रदेश में बसे कनेत-कुनेत जो प्राचीन कुलिन्द-कुणिन्द जाति के वशज हैं, आज खसिया और राव-दो वर्गों में बँटे हैं। हिमाचल और काँगडा के खस राजपूत ठाकुर और राठी नामक दो वर्गों में, उन्हीं क्षेत्रों के खस ब्राह्मण शासनी और बड़ेवार वर्गों में, उत्तराखंड के पठार

प्रदेश के खस, राठी और पवीला वर्गों में तथा नैपाल के खस, छेतरी, ठाकुर और पुरोहित (उपाध्याय) आदि वर्गों में बँटे हैं।"

डबराल जी ने भी (शायद विदेशी इतिहासकारों के आधार पर) जहाँ खसियों का एशिया, यूरोप और उत्तरी अफ्रिका से भारत में आने का उल्लेख किया हैं, वहाँ वे भी उन्हे खस ब्राह्मण और खस राजपूत आदि वर्गों में विभाजित मानते हैं तथा हिमाचल प्रदेश में बसे खसियो को वहाँ की प्राचीन जातियो के वशज भी कहते है। वहाँ द्विजो का प्रतिष्ठित अस्तित्व सुरक्षित होते हुए उन प्राचीन जातियो के वशज खसियो मे क्यो परिणत हुए इसका उन्होने उल्लेख नही किया। एशिया,यूरोप और अफ्रीका मे अपने मूल स्थान मे जिन खसियो का कोई जाति, वर्ग एव नाम-निशान शेष नही रहा, वे भारतवर्ष के इतने अन्य प्रान्तो को पार कर, हिमालय के इन विशिष्ट पर्वतीय क्षेत्रों मे हिन्दुओ की वर्णव्यवस्थानुसार खस ब्राह्मण और खस राजपूतों एव राठी खस एव पवीला वर्ग के रूप में सुरक्षित रह सके हैं, यह बात युक्तियुक्त नही।

गढवाल और कुमाऊँ की जनगणना मे खस ब्राह्मण और खस राजपूतो का अलग-अलग उल्लेख हुआ है। खस ब्राह्मण और खस राजपूतो की समाज मे अलग-से पहचाने-जाने के लिए स्थानीय लोक परम्परानुसार विशिष्ट चिह्न धारण करना निश्चित था (खस कु० पद्धति, पृ० ४७)। खस राजपूत यज्ञोपवीत धारण करते थे और खस ब्राह्मण पीतल की कठीं धारण करते थे। डा० एल० डी० जोशी और अटकिन्सन के कथनानुसार यद्यपि खस ब्राह्मणो का ब्राह्मणो के साथ उल्लेख हुआ है तो भी कुमाऊँ की कुल जनसख्या मे उनके मतानुसार नब्बे प्रतिशत खस ब्राह्मणो का अस्तित्व प्रमाणित है। जिनमे से अधिकाश खेती करते हैं और स्वय हल चलाते हैं। डा० एल० डी० जोशी ने शूद्र वर्ग के अतिरिक्त जो लोग स्वय हल चलाते हैं, उन सबको निस्सकोच खसिया घोषित किया है (खस कुटुम्ब पद्धति, पृ० ५०)। इससे यह भी प्रमाणित हैं कि खसों को, वे खस ब्राह्मण हो अथवा खस राजपूत, उन्हे पारिवारिक सेवको के रूप मे द्विजो की सेवा करके अपना भरण-पोषण करना पड़ता था, जो समाज से बहिष्कृत व्यक्तियो के लिए तत्कालीन राजनियमानुसार अनिवार्य था।

यदि खस जाति मध्य एशिया, पश्चिमोत्तर प्रदेशो, यूरोप अथवा अफ्रीका से आई हुई कोई शक्तिशाली जाति होती तो वह आर्य, एव अन्य आक्रामक तुर्क-मुगलो की भाँति, कई देशो-प्रान्तो को सीधे लाँघ कर केवल गढ़वाल और कुमाऊँ मे ही सुरक्षित नही रहती, वरन् अपने यात्रा मार्ग में, भारतवर्ष और भारतवर्ष से बाहर सर्वत्र अपनी समृद्धिशाली जाति के महत्वपूर्ण अवशेष सुरक्षित रखती

हुई, फैल गयी होती। केवल खस शब्द से कुछ मिलते हुए नामों से, किसी देश में उनका मूल ऐतिहासिक स्थान घोषित कर देना पर्याप्त नहीं है।

जो इतिहासकार कुमाऊँ मे खसों को हिन्दुओं से बिल्कुल अलग एक विशिष्ट जाति मानते हैं और उसे 'सुन पाई, बेच खाई' के आधार पर बाहर से यहाँ आई हुई प्रमाणित करते हैं, उन्होने उस खस जाति के मूल स्थान में हिन्दुओं के वर्ण-व्यवस्थानुसार ब्राह्मण और क्षत्रियो का अस्तित्व होने का प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है। अफ्रीका, यूरोप आदि विदेशों में तथा मध्य एशिया की खस जाति में भी क्या हिन्दुओ की तरह वर्णव्यवस्था प्रचलित थी ? वे केवल स्वय हल चलाने एव खेती करने के कारण यहाँ की सारी जातियों को निस्सकोच खसिया घोषित कर सकते हैं ? परन्तु जब बाहर से आने वाली खस जाति एक ही जाति थी, उसमे स्वय हल चलाने न चलाने के सम्बन्ध में कोई सामाजिक प्रतिबंध नही था, तो उस जाति का खस ब्राह्मणो और खस राजपूतो में विभाजित होने का क्या कारण था ? इन इतिहासकारों ने इस सम्बन्ध मे अपना कोई स्पष्टीकरण प्रस्तुत नही किया।

आर्य वर्णव्यवस्थानुसार पृथक्-पृथक् चार वर्णों में विभाजित थे। इतिहासकारो ने खस जाति मे—खस ब्राह्मण और खस राजपूतो का अस्तित्व स्वीकार किया है परन्तु खस वैश्य और खस शूद्रो का कही कोई उल्लेख नही है। इसका कारण स्पष्ट है कि यहाँ खस नामक मूलत कोई जाति नहीं थी केवल ब्राह्मण-राजपूतों को ही द्विज (वैदिक शब्द बिट्ट) कहते थे। तीसरा वर्ण वैश्य यहाँ नही था। डा० जोशी भी इस बात को स्वीकार करते हैं (पृ० १०,११) बिट्टो के अतिरिक्त शेष सब शूद्र थे। ब्राह्मण जाति मे जो व्यक्ति बहिष्कृत हुआ वह खस ब्राह्मण और राजपूतो में जो सस्कारच्युत हुआ वह खस राजपूत कहलाया।

समाज से बहिष्कृत खस घोषित होने पर भी वर्ण-व्यवस्थानुसार समाज मे उनका 'वर्ण' सुरक्षित रहा है। बहिष्कृत खस व्यक्ति के वर्ण की पहचान के लिए खस ब्राह्मण के गले मे पीतल की कंठी होती थी (**खस केमिली लौ**, पृ० ४७), और खस राजपूत जनेऊ-विहीन रहकर, वल्कल वस्त्र धारण करता था। शूद्र तो समाज का सबसे निम्नस्तरीय वर्ण था, उनके सस्कारच्युत होकर समाज से बहिष्कृत होने का प्रश्न ही नही उठता। शूद्रों को भी अपने से ऊँचे वर्णों की सेवा करनी अनिवार्य थी। इसके लिए समाज मे उनकी 'वृत्तियाँ' सुरक्षित थी। अलग-अलग शिल्पकारो को व्यवस्थित आर्थिक जीवन व्यतीत करने के लिए अलग-अलग शिल्पकलाएँ निश्चित थी। वे भी समाज के सेवक थे परन्तु खसो की भाँति बिट्टों के पारिवारिक जीवन में—रोटी-पानी लाने-ले जाने का उन्हें अधिकार नहीं था। इसके लिए उनके पारिवारिक उत्सवो में केवल खस सेवको

का ही प्रयोग होता था। मनु (१०।४६) अपने वर्ण से बहिष्कृत होने पर भी, उसकी समाज मे पुरानी जाति का नाम सुरक्षित रहा है। कुछ जातियो के नाम—उनके पेशे के आधार पर प्रसिद्ध हुए, परन्तु कुछ राजपूत जातियो में भी ब्राह्मण जातियो के नाम (बडथ्वाल, थपलियाल, पसवोला, पोखरियाल आदि) मिलते हैं। मालूम होता है कि अपने अमर्यादित आचरणो के कारण जो खस ब्राह्मण दूसरी बार समाज द्वारा बहिष्कृत हुए वे राजपूतो मे सम्मिलित किये गये और ब्राह्म सवर्ण के समय उनकी जो जाति प्रचलित थी, वह पूर्ववत् जारी रही।

खस ब्राह्मण और खस राजपूतो की नामावली एव सास्कृतिक परम्परा में भी अन्तर है। खस ब्राह्मण दान-दक्षिणा लेते है एव थोडा-बहुत सस्कृत मन्त्रो से भी परिचित होते है। उनके नाम भी ब्राह्मणो के नामो की भाँति हैं। वे खेती कर स्वय हल चला कर द्विजो के पारिवारिक सेवको के रूप में अपना भरण-पोषण करते रहे है। अटकिसन ने कुमाऊँ मे ऐसे २५० वर्गों का उल्लेख किया है (जोशी, पृ० ८)। राजनियमो मे ब्राह्मणो के लिए अन्य वर्णों से अधिक कठोर प्रतिबन्ध स्थापित थे। उन्हे धर्म गुरु होने के नाते अपने धर्म की रक्षा के लिए समाज मे विशेष सावधान रहना अनिवार्य था। सीढियो में ऊँचाई पर चढना सबके लिए कष्टप्रद होता है, परन्तु सीढियो से नीचे उतरना स्वभावत सरल है। अत जरा-जरा से अपराधो पर दडित होने के कारण समाज से वहिष्कृत होने वालो मे ब्राह्मणो की संख्या अधिक रही है। जोशी जी के कथनानुसार कुमाऊँ में ६० प्रतिशत खस ब्राह्मण हैं (जोशी, पृष्ठ ८)।

खस राजपूतो की सास्कृतिक परम्परा क्षत्रियो से मिलती-जुलती रही है। उनके नामो, जातीय त्योहारो, उत्सवो मे भी अधिकाश क्षत्रिय परम्परा सुरक्षित है। इससे भी प्रमाणित होता है कि यह दोनो मूलत उस जाति के वर्ग हैं, जिसमे वर्ण-व्यवस्था प्रचलित थी। जिसके कारण वे ब्राह्मण, क्षत्रियो के पृथक्-पृथक् वर्णों द्वारा सम्बोधित होते रहे हैं और यह स्पष्ट है कि अन्य देशो से आने वाली खस जाति मे भारतवर्ष मे प्रचलित वर्ण-व्यवस्था की कल्पना असगत है।

हम इससे पूर्व समाज से बहिष्कृत व्यक्तियो को धर्मशास्त्रो द्वारा 'खस' घोषित करने का उल्लेख कर चुके हैं। खस घोषित एव समाज से बहिष्कृत होने के पश्चात् शास्त्रकारो द्वारा उनकी तमाम गतिविधियो पर जो कठोर सामाजिक नियन्त्रण स्थापित था उसका उल्लेख भी यहाँ पर अप्रासगिक नही होगा। वे कहाँ निवास करें, कैसे वस्त्र पहनें, किस प्रकार जीवन-यापन करें—इन सब बातो पर कई शास्त्रीय प्रतिबन्ध निश्चित थे। धर्म-व्यवस्थापक मनु 'मनुस्मृति'

(१०।५०) में कहता है 'द्विजो से उत्पन्न ये संस्कारच्युत बहिष्कृत जातियाँ गाँव या नगर के समीप, किसी प्रसिद्ध वृक्ष के नीचे अथवा श्मशान या किसी पर्वत अथवा उपवन के पास अपने कर्मों के द्वारा जीविका कमाते हुए निवास करें।'

ब्रह्मघाती बारह वर्ष तक बन मे कुटी बना कर रहें (मनु० २०।११) और हाथ मे नरमुड लेकर भीख माँग कर जीवन यापन करें (मनु० १०।७२), अथवा सिर के बाल मुडा कर गाँव के बाहर गौशाला मे, कुटी में या पेड के नीचे पर्याप्त समय तक प्रायश्चित-स्वरूप घर से दूर निर्जन बनो में फटे-पुराने वस्त्र पहनकर, गधे का चमडा पहन कर (११।१२२), भिक्षाटन करके (११२-१२३), गौशाला में निवास करना चाहिए (११।१६४)। जटा धारण कर गाँवो से दूर किसी पेड के नीचे निवास कर (११।१२५), मौजी, मेखला और दंड धारण करे, धरती पर सोयें अथवा कुटी के पास इधर-उधर घूमे (११।१२४)। द्विज जातियो द्वारा अपने वर्ण से भिन्न स्त्रियो से उत्पन्न सन्तति को निन्दित कर्मों द्विजो की सेवा-टहल कर जीवन-निर्वाह करने का आदेश है (मनु०, १०।४६)

अपने समीप निम्नवर्ण की स्त्री मे द्विजातियो से उत्पन्न पुत्र माता की जाति से उत्तम और पिता की जाति से निकृष्ट होगा (१०।६)। द्विजाति सवर्ण स्त्रियो मे जिन पुत्रो को उत्पन्न करते हैं, यदि उनका यज्ञोपवीत न हो तो वे व्रात्य कहलाते हैं (१०।२०)। द्विजातियो के अनुलोमज तथा प्रतिलोमज क्रम से उत्पन्न पुत्रों का सामाजिक स्थान भी, शूद्रो से ऊपर खसो के समान है। (मनु १०-४१)। शुक्रनीति मे लिखा है

वैश्य और शूद्र मे ब्राह्मण और क्षत्रिय से उत्पन्न सन्तान शूद्रवत् होती है तथा अधम पुरुष से उत्तम वर्ण की स्त्री से उत्पन्न सन्तान शूद्र से भी अधिक अधम मानी गयी है। ये लोग शूद्रो को भाँति मन्त्रो से ही अपने कर्म करें। शकर सन्तान उत्पन्न करने वाले चारो वर्ण यवन-सन्तान के समान माने गये हैं। ये पश्चिम-उत्तर के कोने मे रहते थे।

इस प्रकार उत्तराखण्ड मे, देवासुर-सग्रामो में पराजित असुर-नागो, एव संस्कारच्युत ब्राह्मण-क्षत्रियो, तथा उनके द्वारा उत्पन्न अनुलोमज-प्रतिलोमज सन्तति के मिश्रण से खस-समुदाय की उत्पत्ति हुई। उन पर द्विज-सामन्तो द्वारा प्रायश्चित स्वरूप जो प्रतिबन्ध स्थापित थे, उनके अनुसार द्विज जातियो के बीच उनका निवास वर्जित था। वे द्विज परिवारो से पृथक् गाँवो से दूर द्विज-सामन्तो द्वारा निश्चित क्षेत्र विशेष मे रह कर द्विजजाति की सेवा-टहल कर, पेड-पौधो की छाल के वस्त्रो (बल्कल-भँगेले) से शरीर ढँक कर प्रायश्चित करते थे। जब जोशीमठ और चान्दपुर गढ़ उत्तराखंड के द्विज-सामन्तो के मुख्यालय थे, उस युग मे आर्य परिवारो से बहिष्कृत यह खस-समुदाय मूलत गढ़वाल के एक विशिष्ट

क्षेत्र में—जिसको 'राठ' कहते हैं, निवास करता था। वे भाँग की छाल का वल्कल (भँगेला) वस्त्र धारण करते थे। ताकि दूर से पहचाने जा सकें कि ये बहिष्कृत खस-समुदाय के लोग है। भीतर से भले ही कोई कभी रुई का वस्त्र धारण करते रहे हो परन्तु बाहर से वे भँगेला ही पहने होते थे और रात को भी उसी को ओढ कर तथा बिछा कर कालयापन करते थे। द्विजो से बहिष्कृत हुए शूद्रवत् समझे जाकर भी वे, शूद्र नही थे। स्मृतिकारो ने द्विज-जातियो से बहिष्कृत व्यक्तियों तथा उनसे अनुलोमज-प्रतिलोमज सन्तति का स्थान शूद्रो से ऊँचा रखा है (मनु० १०।६, १३)। इसलिए आज से कुछ वर्ष पूर्व तक द्विज-जातियो के व्याह-उत्सवो मे रोटी-पानी द्रोण-कडी लाने-ले-जाने तथा अन्य सेवा-टहल करने के लिए वे 'राठ' क्षेत्र से बुलाये जाते थे। द्विजो के परिवारिक सेवको के रूप मे उनका निस्सकोच प्रयोग प्रचलित था।

'राठ' मे खस-जाति के अतिरिक्त कही-कही कालान्तर में कुछ प्रतिष्ठित द्विज परिवार भी बस गये है, परन्तु उन्होने अपनी सास्कृतिक प्रतिष्ठा को खसो की संस्कृति से प्राय पृथक् रखा है। उनके आचार-विचार, विवाह-उत्सव, खसो के आचार-विचारो से भिन्न रहे हैं। वे भँगेला नही, वरन् रुई के वस्त्र धारण करते थे तथा अपने पडोसी खस-समुदाय की भाँति किसी के व्याह-उत्सव मे सेवा-टहल करना, द्रोण-कडी ले जाना तथा डडी-डोले उठाना अनुचित समझते थे। इतना ही नही, उनके अपने उत्सवों मे भी उक्त खसिये ही उनकी भी सेवा-टहल करने, द्रोण-कडी एव डंडी-डोले ले जाने का काम करते थे। इन तथ्यो के आधार पर हमारा यह अनुमान भी असगत नही है कि खसियो द्वारा अनिवार्यत वल्कल वस्त्र धारण करने एव द्विजो की सेवा-टहल करने की परम्परा का वास्तविक उद्देश्य उनके सस्कारच्युत होने का प्रायश्चित करना ही रहा होगा। जिसके मूल उद्देश्य को वे आज बिल्कुल विस्मृत कर चुके हैं। 'मनुस्मृति' के अ० १० के कई श्लोको में इन प्रायश्चितो का स्पष्टत विधान है।

स्मृति-ग्रन्थो के रचनाकाल से आज तक खस जाति की सामाजिक स्थिति अपरिवर्तित रही है, वह घोषणा युक्तिसगत नही। ससार की किसी भी जाति की मौलिकता ठीक उसी मूल रूप मे सुरक्षित नही है। खस जाति का उत्थान-पतन भी स्वाभाविक है। हम पहले ही कह चुके हैं कि उन्नति की सीढ़ियो पर ऊपर की ओर चढना स्वभावत कष्टप्रद होता है, परन्तु उतरना सरल। सीढियो पर चढने के लिए परिश्रम की आवश्यकता पड़ती है, परन्तु नीचे गिरने के लिए किसी को कुछ भी परिश्रम नही करना पडता है। आज खसो के आचार-विचारो की शुद्धता एवं उनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होने के पश्चात् उनके पुन ब्राह्मण-राजपूत जातियो में सम्मिलित होने के दृष्टान्त भी मिलते हैं। आज से पूर्व भी

ऐसे कई खस परिवार यहाँ के द्विज परिवारो में विलीन होते रहे होंगे। इस प्रकार आज वे समस्त खस परिवार द्विज जातियों की आचार-संहिता के अन्तर्गत आ जाते हैं। दूसरी ओर यहाँ की इन्ही दो द्विज जातियो में जबकि उनके पास यह कठोर सामन्ती शक्ति शेष नही रह गयी है, इस बहिष्कार का क्रम थोड़ा-बहुत जारी हैं। यहाँ की प्रतिष्ठित जातियाँ असल-कम के साथ विवाह-सम्बन्ध करने तथा अन्य कुल मर्यादाओं के उल्लघन करने पर आज भी बहिष्कारवृत्ति का प्रयोग करने से बाज नही आती। स्वराज्य के बाद भारतीय संविधान ने प्रत्येक नागरिक को—चैंतू और बैशाखू को—समान अधिकार दे कर, कौन जाति छोटी है और कौन बडी, सदियो के इस विवाद को हमेशा के लिए समाप्त कर दिया है। आज किसी भी व्यक्ति को, वह समाज में कितना भी प्रतिष्ठित क्यो न हो, किसी व्यक्ति के सामाजिक बहिष्कार करने की स्वतत्रता नही रह गयी है। इस प्रकार भारत की अन्य अनेक पददलित जातियो के साथ आर्य-परिवारो से बहिष्कृत यहाँ की खस जाति भी अपने पूर्व-प्रतिष्ठित पद पर, अपने सजातीय द्विजो के साथ समान स्तर पर आ खडी है। भारतीय सविधान ने सदियो के बिछुडे हुए अपने समस्त बहिष्कृत आर्य बन्धुओ को आज पुन एक कर दिया है। इस प्रकार इतिहासकारो ने अब तक इस देश के अधिकाश निवासियो को, उनके आचार-विचार, रीति-रस्मो के आधार पर प्राचीन हिन्दू धर्मशास्त्रो से प्रभावित, आर्यावर्त्त के वर्तमान आर्य-समुदाय से पूर्व की एक अत्यन्त प्राचीन जाति स्वीकार किया है। मैं इस सम्बन्ध मे उनकी घोषणा से शत-प्रतिशत सहमत हूँ। यहाँ के अधिकाश निवासी प्राचीन आर्यों की आदि शाखा के वशज है।

